युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला—२

स्वामीसमन्तभद्र-विरचित

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

आचार्य प्रभाचन्द्र-रचित

संस्कृत-टीका

तथा

हिन्दी-रूपान्तर सहित

हिन्दी रूपान्तरकार एवं सम्पादक

पण्डित पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य

श्रीमती स्वर्णा बाई
(पति स्व. श्री रूजगीलाल ...)
नमक मंडी कटरा सागर की ओर
से दि० जैन अति० क्षेत्र महावीर जी वाचनालय
को सादर स्वाध्याय हेतु भेंट !!

वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन

प्रकाशक
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्राप्तिस्थान

१. डा. दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
चमेली-कुटीर,
डुमरांव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी–५ (उ० प्र०), भारत

२. डॉ. श्रीचन्द्र जैन संगल
कोषाध्यक्ष, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
जी. टी. रोड, एटा (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : १००० प्रति
श्रावणकृष्णा ३०, वी. नि. सं. २४९८,
९ अगस्त, १९७२
मूल्य : आठ रुपये

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय, गौरीगंज, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहासकी आद्य एवं विश्रुत संस्था 'वीरसेवामन्दिर' की स्थापना सन् १९३६ में जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व विद्याके विचक्षण आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' सरसावा (सहारनपुर) ने की थी। इस संस्थाके संचालनार्थ उन्होंने एक ट्रस्टको भी, जिसका नाम 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' है, व्यवस्था कर दी थी। इस ट्रस्टसे कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है। इनमें 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार', 'देवागम' (आप्तमीमांसा), 'युगवीरनिबन्धावली १, २ भाग', 'लोकविजययन्त्र', 'प्रमाण-नय-निक्षेप' प्रभृति कृतियाँ उल्लेखनीय हैं और जो अधिक लोकप्रिय हुई हैं।

हमें प्रसन्नता है कि उसी ट्रस्टसे आज समन्तभद्रभारतीके अन्तर्गत 'स्वामी समन्तभद्ररचित 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' आचार्य प्रभाचन्द्रकी संस्कृत-टीका और समाजके विश्रुत विद्वान् पण्डित पन्नालालजी 'वसन्त' साहित्याचार्यके हिन्दी रूपान्तरके साथ प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि मूल 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' और उसकी प्रभाचन्द्रीय संस्कृत-टीका दोनों एकसाथ सेठ माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे स्व० आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारके सम्पादनमें निकल चुके हैं किन्तु वह संस्करण अब अप्राप्य है। दूसरे, उसके साथ उसका हिन्दी-रूपान्तर भी नहीं था। इस संस्करणमें साहित्याचार्यजीने मूल और संस्कृत-टीका दोनोंका हिन्दी-रूपान्तर दिया है, जिससे यह संस्करण विद्वानों और सामान्य जनताके लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

मूलग्रंथ, ग्रन्थकार, टीका और टीकाकारके विषयमें स्व० आचार्य जुगल-किशोरजी मुख्तारने अपने उक्त संस्करणमें तथा अन्यत्र विस्तृत ऊहापोह किया है। साहित्याचार्यजीने भी उसी आधारसे इनपर अपनी प्रस्तावनामें विचार किया है। इस प्रस्तावनाकी विशेषता यह है कि इसमें सम्यग्दर्शनपर विस्तारके साथ चिन्तन किया गया है और आगमग्रन्थोंमें उपलब्ध सम्यग्दर्शन-विषयक प्रचुर सामग्रीका भी संकलन कर दिया गया है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विवेचन प्रस्तुत करते हुए विभिन्न श्रावकाचारोंपर पड़े रत्नकरण्डकश्रावका-चारके प्रभाव और वैषम्यको भी प्रदर्शित किया गया है। इस सुन्दर कृतिके उपस्थित करनेके लिए हम वसन्तजीका ट्रस्टकी ओरसे हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

(डा.) दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट

चमेली कुटीर,
१।१२८, डुमरांव कॉलोनी,
अस्सी, वाराणसी-५
९ अगस्त, १९७२

सम्पादकीय

३५-३६ वर्ष पूर्व जब मैंने लिखना शुरू किया था, तब सबसे पहले रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी बालकोपयोगी टीका लिखी और उसे स्व० पं० भुवनेन्द्रकुमारजी 'विश्व' जबलपुरने अपनी सरल ग्रंथमालासे प्रकाशित किया था। यह टीका भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् परीक्षाबोर्डके पठनक्रममें सम्मिलित होनेसे जैन हाई स्कूलोंमें अत्यधिक प्रचलित है। उस समय वह टीका लिखते समय मनमें इच्छा हुई थी कि इस ग्रंथको कुछ विस्तृत चिन्तनके साथ सम्पादित किया जाय तो इससे जनसाधारणको अधिकतम लाभ होगा। परन्तु अन्यान्य कार्योंका व्यासङ्ग उपस्थित होते रहनेसे इच्छा फलीभूत नहीं हो सकी। गतवर्ष श्री अहार-क्षेत्रके पंचकल्याणकोत्सवमें समाजके मूर्धन्य विद्वान् डॉ० दरबारीलालजी कोठियासे मैंने यह भावना प्रकट की तो उन्होंने तत्काल स्वीकृति देते हुए कहा कि इसे आप तैयार कर दीजिए, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टसे इसे प्रकाशित कर लेंगे।

अवसर पाकर मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस ग्रन्थपर प्रभाचन्द्राचार्यकृत संस्कृत-टीका भी है तथा उसमें अपने गद्यमय कथाकोपसे २३ कथाएँ दी हुई हैं, अतः इन कथाओंके प्रलोभनसे मैंने संस्कृत-टीकाके साथ ही इसका सपादन किया। संस्कृत-टीकाका संपादन स्व० आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने ४६ वर्ष पूर्व किया था तथा उसका प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे हुआ था। टीकामें अनेक अशुद्धियाँ रह गई थीं, कुछ पाठ छूट गये थे और कुछ टिप्पण मूलग्रन्थमें मिल गये थे। इसलिए हस्तलिखित प्रतिसे मिलानकर पाठ शुद्ध करनेके बाद ही मैंने हिन्दी-टीका लिखना उचित समझा। इस विषयमें श्रीमान् पं० हीरालालजी शास्त्री ब्यावरने ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनसे एक हस्त-लिखित प्रति भेजकर बहुत सहायता पहुँचाई।

इस संस्करणमें मैंने अन्वयार्थ, संस्कृत-टीकाका अर्थ और विशेष चिन्तनके रूपमें विशेषार्थ लिखा है। आशा है इससे सभी वर्गके लोगोंको ज्ञानवृद्धिमें सह-कार प्राप्त होगा। प्रस्तावनामें मोक्षमार्गपर प्रकाश डालनेके उद्देश्यसे सम्य-ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रपर कुछ विस्तृत चर्चा की गई है। खास-कर सम्यग्दर्शनका विवेचन विविध स्तम्भोंसे किया गया है और वह इसलिए कि इस विषयकी आवश्यक सामग्री एकत्र संकलित हो जावे। आशा है इससे छात्रवर्ग तथा स्वाध्यायमें नवीन प्रवेश करनेवाले बन्धु लाभान्वित होंगे।

ग्रंथके संपादन, संशोधन तथा अनुवादमें मुझ अल्पज्ञके द्वारा त्रुटियाँ रह जाना संभव है, अतः ज्ञानीजनोंसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके मंत्री डॉ० कोठियाजीके औदार्यसे ही समन्तभद्र-स्वामीकी यह अनूठी एवं आद्य श्रावकाचार-कृति संस्कृत-हिन्दी-टीकाओंके साथ प्रकाशमें आ रही है, अतः उनका आभारी हूँ।

सागर — विनीत

१२-७-१९७२ — पन्नालाल जैन

शुद्धिपत्रक

प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९	२२	आदणीय	आदरणीय
१४	१०	सम्यग्दर्शन और	सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और
१५	१	अपने अप्रने	अपने अपने
१५	१८	भावसंवर	भाव संवर
१५	१९	भावनिर्जरा	भाव निर्जरा
१६	४	कारण चारों का	कारण—चारों का
१९	३	सत्ताईस प्रकृतियों वाला	सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला
२१	२४	प्रमाण होते हैं	प्रमाण करण-परिणाम होते हैं
२२	२८	मन्तरणमिदि	मन्तरकरणमिदि
२३	४	अन्तानुवन्धो	अनन्तानुबन्धी
२३	१३	मिच्छतं	मिच्छत्तं
२४	२५	क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भवमें मोक्ष चला, क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भवमें मोक्ष चला	क्षायिक सम्यग्दृष्टि या तो उसी भवमें मोक्ष चला जाता है
२५	४	होकर मोक्ष हो जाता है,	होकर मोक्ष हो जाता है इसलिये वह तीसरे भवमें मोक्ष जाता है और जो भोगभूमिमें मनुष्य या तिर्यञ्च होता है वह वहाँ से देवगतिमें जाता है वहाँसे आकर मनुष्य हो मोक्ष प्राप्त करता है।
२५	१५	उपशमं अथवा	उपशम, क्षय अथवा
२५	२७	आयुणवंधेढ	आयुगवंधेण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	२८	देयाउगं	देवाउगं
२६	१३	सादव्यवस्थारूप	सदवस्थारूप
२७	४	आत्मानुशास्त्र में	आत्मानुशासनमें
२७	१६	जैन शस्त्र	जैन शास्त्र के
२७	१६	किसी अर्थके	किसी अन्य अर्थके
२८	८	सम्यग्दर्शन होते हैं तिर्यञ्चगतिमें	सम्यग्दर्शन होते हैं। प्रथम पृथिवीमें पर्याप्तकोंके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं तथा अपर्याप्तकोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयादि पृथिवियों-में अपर्याप्तकोंके एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तिर्यञ्च-गति में
२९	३	परन्तु	परन्तु स्थावरकायिक जीवोंके एक भी नहीं होता। त्रियोगियों-के तीनों सम्यग्दर्शन होते है परन्तु अयोगियोंके
२९	२२	आहरको	आहारको
३०	२०	होता है वह	होता है वह मिथ्यात्व है।
३१	१५	सम्यक्त्वचरण	सम्यक्त्वाचरण
३२	२१	गुणोंके अतिरिक्त	गुणोंसे अतिरिक्त
३२	२२	संवेद	संवेग
३३	३१	गोचरं स्वावधिस्वमनः	गोचरं स्ववधिस्वान्तपर्यय-ज्ञानयोर्द्वयोः
३५	१०	है तक	तब उसके
३५	१६	एकोन्द्रियजाति	एकेन्द्रियजाति
३६	२५	तिर्यञ्च और मनुष्यका	तिर्यञ्च और मनुष्यके
३८	८	अतर्न्दृष्टि	अन्तर्दृष्टि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	३१	मनःपर्ययज्ञानका	मनःपर्ययज्ञानावरणका—
४७	१०	गद्यचिन्तामणिमें भी	गद्यचिन्तामणिमें श्री
४७	२८	चिरकाल	चिरकाल तक
४८	७	भारतोवाणी	भारती—वाणी

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

४	२३	अपने आप	अपने आपके
१२	११	देहस्थित्वा	देहस्थितित्वा
१३	६	पश्यत्	पश्यन्
१६	१६	द्रव्योंके	द्रव्योंको
२०	३	संता	सतां
२०	१२	भगवान्की जा	भगवान्की जो
२४	१०	चान्यन्न	नान्यन्न
२७	२४	तथा	तहा
२८	२६	क्षुत्तृष्ण शीतोष्ण	क्षुत्तृष्णाशीतोष्ण
३४	२७	गताः	गतौ
३५	१९	गताः	गतौ
३८	२१	भीत्वा	भणित्वा
६१	२९	मयाशास्नेह	भयाशास्नेह
६६	१	ज्ञानावणाद्यशुभं	ज्ञानावरणाद्यशुभं
६६	२९	निष्प्रियोजन	निष्प्रयोजन
७६	९	पुरुषवेदके पुरुषोंमें	पुरुषवेदके रूपमें
७८	४	अगुष्टण	अष्टगुण
८७	९	किसी विरोधी धर्मको	किसी धर्मको
१००	२९	क्रियानिवृतिरेव च	क्रियानिवृत्तिरेव च
१०७	१४	मदि सत्ववादी	यदि सत्यवादी
११५	१२	कामा	कामो
११५	२६	उठना वैठाना	उठना बैठना
१४३	१२	सहाणुव्रतपञ्चकम्	सहोदुम्बरपञ्चकैः
१४९	२८	घादंति का कसाया	घादंति वा कसाया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	१८	पापोददेशहिंसा	पापोपदेशहिंसा
१७३	३	सामायिकं	सामयिकं
१८०	२३	समनाभाव	समताभाव
२४१	२९-३०	प्रत्यावृत्त	प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या सन्नतं क्रियते शिरः। यत्पाणिकुड्मलाङ्के तत्क्रियायां स्याच्चतुः शिरः ॥
२४५	२७	प्रणविपारः	प्रणिविपरः
२४९	१	कृतकी अपेक्षा नहीं,	कृतकी अपेक्षा ही त्याग होता है परन्तु
२५०	२९	प्राणानिपातहेतोः	प्राणातिपातहेतोः

+

प्रस्तावना

ग्रन्थका नाम—

संस्कृत-टीकाके पुष्पिका-वाक्योंके आधारपर इस ग्रन्थका नाम 'रत्नकरण्डक' उपासकाध्ययन है। बोलचालमें यह 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' इस नामसे प्रसिद्ध है। 'देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्' इस प्रतिज्ञावाक्यके आधारपर स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने इसका 'समीचीन धर्मशास्त्र' नाम भी प्रख्यात किया है और उसी नामसे इसपर अपना भाष्य लिखा है। इस तरह इसके कई नाम प्रचलित हैं। नाम कुछ भी रहे, समाजमें यह बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उपलब्ध श्रावकाचारोंमें यह सबसे प्राचीन और सुसंबद्ध श्रावकाचार है। श्रावकाचारका विवेचन इसमें सीमित किन्तु सारपूर्ण शब्दोंमें किया है। स्व० सदासुखरायजी कासलीवालने इसपर विस्तृत हिन्दी वचनिका लिख कर इसके प्रचारमें बहुत हाथ बटाया है। शायद ही कोई मन्दिर हो जहां इस वचनिकाकी एक-आध प्रति न हो और शायद ही कोई वयस्क गृहस्थ हो जो इसका नाम न जानता हो।

संपादन-सामग्री—

४६ वर्ष पूर्व श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने वीरनिर्वाण संवत् २४५१ विक्रमाब्द १९८२ में 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का संपादन—

क—बम्बईके तेरापंथी मन्दिरकी प्रति,

ख—बारामतीके पण्डित वासुदेव नेमिनाथ उपाध्यायकी खुदकी लिखी प्रति और

ग—श्रीमान् सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द्रजी सोलापुर द्वारा प्राप्त प्रति

इन तीन प्रतियोंके आधारपर किया था और उन्हींके द्वारा लिखे आचार्य समन्तभद्रके विस्तृत इतिहासके साथ उसका प्रकाशन माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके सुयोग्य मन्त्री स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमीने किया था। लगभग ५० वर्ष पूर्व, जबकि संपादनकी आधुनिक विधाओंका प्रचलन नहीं हुआ था, आदणीय मुख्तारजीने जिस सूक्ष्मदृष्टिसे ग्रन्थका संपादन और पर्यालोचन किया था वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उस समय था।

हमने इस संस्करणका संपादन मुख्तारजी द्वारा संपादित संस्करणके आधारपर किया है। ग्रन्थके अन्तमें मुख्तारजीने जो शुद्धिपत्रक दिया था उसके आधारपर शुद्धि करनेके साथ 'घ' प्रतिके पाठभेद भी सम्मिलित कर दिये हैं। छूटी हुई पंक्तियोंको 'घ'

प्रतिके आधारपर समाविष्ट किया है तथा मुद्रित प्रतिमें संस्कृत-टीकाकारके द्वारा उद्धृत कुछ गाथा या श्लोक आगे-पीछे हो गये थे, उन्हें 'घ' प्रतिके आधारपर ठीक किया है या मूलसे अलग कर उनकी सूचना टिप्पणी में दी है। यहां हमने अपने संपादनमें आधारभूत अतिरिक्त प्रतिको 'घ' संज्ञा दी है। क, ख, ग, प्रतियां हमने स्वयं देखी नहीं हैं। मात्र उनके आधारपर संपादित मुद्रित प्रतिको देखकर उनका आधार स्वीकृत किया है। 'घ' प्रतिका आलोकन और आलोडन हमने किया है।

'घ' प्रतिका परिचय—

यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावरकी है, जो श्री पं० हीरालालजी शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसके १२¾ × ६½ साईजके ५१ पत्र हैं, प्रति पत्रमें १० से १३ तक पङ्क्तियां हैं और प्रतिपङ्क्तिमें ४० से ४५ तक अक्षर हैं। चमकदार काली स्याहीसे देशी कागजपर लिखी गई है। लिपि सुन्दर है। श्लोकके नम्बर, परिच्छेदान्त पुष्पिकावाक्यों और विरामयष्टियोंमें लाल स्याहीका उपयोग किया गया है। पत्रके बीचमें कुछ बड़े अक्षरोंमें एक या दो मूल श्लोक लिखे गये हैं और ऊपर तथा नीचे संस्कृत टीका, अपेक्षाकृत छोटे अक्षरोंमें दी गई है। लेखन काल विक्रम संवत् १९११ फाल्गुन शुक्ला ८ है। ब्राह्मण रामगोपालने सवाईमाधोपुरमें यह प्रतिलिपि की थी। दशलक्षणव्रतके उद्यापनके उपलक्ष्यमें इस प्रतिका लेखन कराया गया था। लिपि सुन्दर अवश्य है, पर लिपिकर्ताके संस्कृतज्ञ न होनेसे भाषाकी अशुद्धियां रह गई हैं। कहीं-कहीं कुछ शब्द भी छूट गये हैं। फिर भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे मुद्रित संस्कृत-टीकामें अशुद्धियोंके कारण जो पाठ संशयापन्न थे, वे इसमें ठीक मिले हैं। कितनी ही जगह महत्त्वपूर्ण पाठभेद प्राप्त हुआ है। इस प्रतिके आधारसे मुद्रित प्रतिका संशोधन करनेमें सौकर्य हुआ है।

यह संस्करण—

स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार आचार्य समन्तभद्रके प्रति बहुत आस्थावान् थे। उनका गुणगान करते-करते वे गद्गद् हो जाते थे। भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् द्वारा, उनके सम्मानमें एटामें आयोजित समारोहमें, सम्मानका उत्तर देते हुए उन्होंने भरे कण्ठसे कहा था कि मुझे लगता है कि मैं समन्तभद्रस्वामीकी शिष्यमण्डलीमें रहा हूँ। वे मेरे गुरुदेव थे। गुरुदेवके प्रति कृतज्ञताज्ञापनके क्षेत्रमें, मैं कुछ भी नहीं कर सका हूँ। उन्होंने जैनधर्मको सर्वोदय तीर्थके रूपमें प्रख्यापित किया था, उसके उपलक्ष्यमें जैन समाज उनके प्रति कुछ भी कृतज्ञता प्रकट नहीं कर सका है।

उन्हीं मुख्तारजीके द्वारा संपादित मूल रत्नकरण्ड-श्रावकाचार एवं उसकी संस्कृत

टीकाको अपनी हिन्दी टीकासे विशिष्ट करके आगे बढ़ा रहा हूँ। इसके संपादन और पर्यालोचनके विषयमें मुख्तारजीने जो अपार श्रम किया है उसका मैं अभिनन्दन करता हूँ।

इस संस्करणमें मूल श्लोकके नीचे अन्वयार्थ, संस्कृतटीकाका भाषानुवाद और विशेषार्थ है। टिप्पणमें पाठभेद तथा अन्य ग्रन्थोंके यथासंभव प्राप्त तुलनात्मक अवतरण भी दिये हैं। संस्कृतटीकामें आयी—आठ अंगों, पांच अणुव्रतों, पांच पापों, चार दानों और जिन पूजा विषयक २३ कथाओंका हिन्दी रूपान्तर भी दिया है। इस तरह इस संस्करणको, छात्रों, अध्यापकों तथा स्वाध्यायप्रेमियों—सभीके लिए उपयोगी बनानेका अनुसार इसके प्रयत्न किया गया है।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार : परिचय—

'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' १५० श्लोकोंका छोटा, किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको धर्म कहकर उनका वर्णन करते हुए सम्यक्चारित्रके अन्तर्गत श्रावकाचारका निरूपण किया गया है। मूलग्रंथके सात अधिकार हैं—

१. सम्यग्दर्शनाधिकार, २. सम्यग्ज्ञानाधिकार ३. अणुव्रताधिकार ४. गुणव्रताधिकार ५. शिक्षाव्रताधिकार ६. सल्लेखनाधिकार और ७. प्रतिमाधिकार।

परन्तु संस्कृत-टीकाकारने गुणव्रताधिकारको अणुव्रताधिकारके साथ और प्रतिमाधिकारको सल्लेखनाधिकारके साथ मिलाकर पांच अधिकार ही माने हैं और पांच परिच्छेदोंमें ही ग्रन्थका विभाजन कर टीका की है।

प्रथमाधिकार—धर्मका निरुक्तार्थ और वाच्यार्थ बतलाकर सम्यग्दर्शनका लक्षण लिखा है। तदनन्तर सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्त, आगम और गुरुका स्वरूप बतलाकर सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंके लक्षण दिये हैं। यद्यपि सब लक्षण एक-एक ही श्लोक में हैं। पर वे इतने सारपूर्ण शब्दोंमें लिखे गये हैं कि उससे ग्रन्थकर्ताका पूरा भाव समक्षमें आ जाता है। इनकी संक्षिप्त लक्षणावलीको देखकर लगता है जैसे ग्रन्थकर्ताने पद्यात्मक सूत्ररचनाको ही प्रकट करना चाहा हो। आठ अंगोंके लक्षणोंके बाद उनमें प्रसिद्ध होनेवाले पुरुषोंकी नामावली दी है। तदनन्तर अंगोंकी उपयोगिता, आठ मद और तीन मूढ़ताओं आदिका उत्तम वर्णन किया है। सम्यग्दृष्टिके लिए भय, आशा, स्नेह और लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंको प्रणाम आदि नहीं करना चाहिये, इसका बड़ी दृढ़ताके साथ वर्णन किया है। सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हुए ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। सम्यग्दृष्टि अव्रती होनेपर भी क्या-क्या नहीं होता और सम्यग्दर्शनके प्रभावसे क्या-क्या होता है,

इसका आर्यागीति छन्दोंमें अच्छा वर्णन किया है। अधिकारके अन्तमें एक वसन्ततिलका द्वारा उक्त कथनका उपसंहार किया है।

द्वितीयाधिकार—सम्यग्ज्ञानका लक्षण देते हुए उसके मानवके पुरुषार्थ साध्य श्रुतज्ञानकी विवक्षा की गई है। श्रुतज्ञान, द्रव्यश्रुतपर निर्भर है और द्रव्यश्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग इन चार वर्गोंमें विभक्त है। यहां चारों अनुयोगोंके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं। जान पड़ता है कि चार अनुयोगों द्वारा समस्त शास्त्रोंका वर्गीकरण सर्वप्रथम समन्तभद्रस्वामीने किया है।

तृतीयाधिकार—सम्यक्चारित्र किसे होता है और किसलिए वह धारण किया जाता है, इसका दो श्लोकोंमें उल्लेख कर चारित्रका लक्षण तथा उसके सकल और विकल दो भेदों और उनके स्वामियोंकी चर्चा की है। यहां पंच पापके त्यागको चारित्र संज्ञा दी गई है। श्रावकाचारके वर्णनका मुख्य उद्देश्य होनेसे 'सकलचारित्र सर्वपरिग्रहके त्यागी मुनियोंके होता है' इतनी और सूचना देकर श्रावकोंके विकलचारित्रके पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अवान्तर भेद बताये हैं। सर्वप्रथम अणुव्रतका सामान्य लक्षण देकर पश्चात् अहिंसादि पांचों अणुव्रतोंके लक्षण तथा अतिचार वर्णित किये हैं। उमास्वामी महाराजने अणुव्रतों आदिके जो अतिचार तत्त्वार्थसूत्रमें परिगणित किये हैं उनमें क्वचित् हेर-फेर भी यहाँ किया गया है। अन्तमें अणुव्रतोंका फल, उनमें तथा पांच पापोंमें प्रसिद्ध पुरुषोंकी नामावली प्रकट कर आठ मूलगुणोंका उल्लेख किया है। यहां मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पांच अणुव्रतों को आठ मूलगुण बताया गया है।

चतुर्थाधिकार—इसमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इनको गुणव्रत कहा गया है। इन्हें गुणव्रत इसलिए कहते हैं कि ये अणुव्रतोंका अनुबृंहण—उत्कर्षण करते हैं। दिग्व्रतका स्वरूप, दिग्व्रत धारण करनेका फल, उसके अतिचार, प्रसङ्गवश महाव्रतका लक्षण, अनर्थदण्डका लक्षण, उसके पांच भेदोंके पृथक्-पृथक् लक्षण, उसके अतिचार, भोगोपभोगपरिमाणव्रतका लक्षण, भोग-उपभोगका स्वरूप, मद्यादिकके त्यागकी आवश्यकता, यम-नियमका स्वरूप, भोग-उपभोगके त्याग करनेकी विधि और भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार इन सबका प्रतिपादन है। यहां भोगोपभोगपरिमाणके अतिचारोंमें तत्त्वार्थसूत्र-प्रतिपादित अतिचारोंकी अपेक्षा भिन्नता है, जो विचारके विकासको व्यक्त करती है।

पञ्चमाधिकार—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चार शिक्षाव्रतोंके नाम देकर प्रत्येक शिक्षाव्रतका यथासंभव विस्तारसे वर्णन किया है। देशावकाशिक व्रतका लक्षण, उसका फल, उसके अतिचार, सामायिकका स्वरूप, उसके

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका वर्णन, उसका चिन्तवन विषय, उसके अतिचार, प्रोषधोपवासका लक्षण, उसकी विधि, प्रोषधके दिन त्याज्य कार्योंका उल्लेख तथा उसकी अतिचारोंका कथन किया गया है। अन्तमें वैयावृत्य शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए दान, उसके भेद, फल और अतिचारोंका निरूपण है। यहाँ अतिथि-संविभागके स्थानमें ग्रन्थकर्ताको वैयावृत्य नाम अधिक रुचिकर हुआ है, ऐसा जान पड़ता है।

षष्ठाधिकार—सल्लेखनाका लक्षण, उसकी विधि, उसे धारण करनेपर बल देते हुए उसका फल निःश्रेयस (मोक्ष) और अभ्युदय (स्वर्गादि वैभव)का कथन है। सल्लेखनाके पांच अतिचारोंका भी निरूपण है।

सप्तमाधिकार—श्रावकोंके ग्यारह पदोंका निर्देशकर प्रत्येक पदका पृथक्-पृथक् लक्षण दिया गया है। अष्टपाहुड़में कुन्द-कुन्दस्वामीने ग्यारह प्रतिमाओंका नामोल्लेख भर किया है, उसका स्वरूप नहीं दिया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रतिमाओंकी कोई चर्चा नहीं की। यहाँ उनका संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण ढंगसे किया है। अन्तमें ज्ञाता प्रतिपादनका लक्षण देकर दो श्लोकोंमें ग्रन्थका उपसंहार किया है।

इस प्रकार यह श्रावकाचार श्रावकधर्मपर प्रकाश डालनेवाला एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसकी भाषा विशद, प्रौढ़ और अर्थगाम्भीर्यको लिए हुए है। सचमुच ही यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंका करण्डक (पिटारा) है। इससे पहलेका कोई श्रावकाचार देखने-सुननेमें नहीं आता। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेवका उपासकाध्ययन, अमितगतिश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटीसंहिता आदि जो श्रावकाचारविषयक ग्रंथ हैं वे सब इसके पीछेके हैं। इसलिए उपलब्ध जैन साहित्यमें इसे आद्य श्रावकाचार कहा जाता है। अल्पकाय होनेसे बालक-बालिकाओं तथा स्त्री-पुरुषों सभीको कण्ठस्थ करनेके योग्य है। यह ग्रन्थ जैन विद्यालयोंमें ही नहीं, अनेक हाईस्कूलोंमें भी पाठ्यग्रन्थ रूपसे स्वीकृत है तथा हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष इसका अध्ययन करते हैं।

मोक्षमार्ग—

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्णज्ञायक स्वभाववाला है तथापि अनादिकालसे कर्मसंयुक्त दशामें रागी-द्वेषी होता हुआ स्वभावसे च्युत हो रहा है तथा स्वभावसे च्युत होनेके कारण ही चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण कर रहा है। इस जीवका अनन्त काल ऐसी पर्यायमें व्यतीत हुआ है जहाँ इसे एक श्वासके भीतर अठारह बार जन्म मरण करना पड़ा है। अन्तर्मुहूर्तके भीतर इसे छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पड़े हैं। इन क्षुद्रभवोंके भीतर एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रियों तककी पर्याय इसने धारण की है। जिस प्रकार आतिशबाजीकी चकरीके घूमनेमें

कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद है उसी प्रकार जीवके चतुर्गतिमें घूमनेका कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव हैं। संसार दुःखमय है, इस दुःखसे छुटकारा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती। जीव और कर्मरूप पुद्गलका पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष-प्राप्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताका वर्णन किया है। जब तक ये तीनों एकसाथ प्रकट नहीं हो जाते तब तक मोक्षकी प्राप्ति संभव नहीं है। सम्यग्दर्शनादिक आत्माके स्वभाव होनेसे धर्म कहलाते हैं और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं। अधर्मसे संसार और धर्मसे मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्षके अभिलाषी जीवोंको सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप धर्मका आश्रय लेना चाहिये। यहाँ तीनोंके स्वरूप-पर प्रकाश डाला जाता है।

अनुयोगोंके अनुसार सम्यग्दर्शनके विविध लक्षण—

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारका है। इन अनुयोगोंमें विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सम्यग्दर्शनके स्वरूपकी चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोगमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप प्रायः इस प्रकार बताया गया है कि[१] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुका तीन मूढताओं और आठ मदोंसे रहित तथा आठ अङ्गोंसे सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागममें अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठीको देवसंज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञ-देवकी दिव्यध्वनिसे अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्योंके द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयोंकी आशासे रहित निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एवं ज्ञानध्यान और तपमें लीन साधु गुरु कहलाते हैं। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति इन्हीं देव, शास्त्र, गुरुके आश्रयसे हो सकती है। अतः इनकी दृढ़ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी प्रतीति नहीं करना चाहिए।

द्रव्यानुयोगमें प्रमुखतासे द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों एवं पुण्य पाप सहित नौ पदार्थोंकी चर्चा आती है अतः द्रव्यानुयोगमें सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धानको[२] बताया गया है। तत्त्वरूप

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ र० श्रा०
अत्तागमतच्चाणं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं॥ ६॥ वसुनन्दि०

२, तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'। त० सू०

अर्थ, अथवा तत्त्व—अपने अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीव, अजीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ[1] रूपसे जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयीमें अभेद मानकर जीवादि पदार्थोंको ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। अर्थात् इन नौ पदार्थोंका परमार्थरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यनुयोगमें स्वपरके श्रद्धानको भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योंकि आस्रवादिक तत्त्व स्व—जीव और पर—कर्मरूप अजीवके संयोगसे होनेवाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अतः स्वपरमें ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा इसी द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत अध्यात्मग्रन्थोंमें परद्रव्योंसे भिन्न [2]आत्म द्रव्यकी प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्वका निश्चय होनेसे पर स्वतः छूट जाता है।

मूलमें तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतनालक्षणवाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदके पांच प्रकार-का है परन्तु यहां उन सबसे प्रयोजन नहीं है। यहां तो जीवके साथ संयोगको प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप अजीवसे प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाववाले जीवके साथ अनादि कालसे ये नोकर्म—शरीर, द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादिक और भावकर्म—रागादिक लग रहे हैं। ये किस कारणसे लग रहे हैं, जब इसका विचार आता है तब आस्रवतत्त्व उपस्थित होता है। आस्रवके बाद जीव और अजीवकी क्या दशा होती है, यह बतानेके लिए बन्धतत्त्व आता है। आस्रवका विरोधी भावसंवर है, बन्धका विरोधी भावनिर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्य कर्म और भावकर्म जीवसे सदा के लिए सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रवके अन्तर्गत हैं। इस तरह आत्मकल्याणके लिए उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूपसे निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्रव और बन्धके कारणोंको संवर और निर्जराका कारण समझ लिया जाय अथवा जीवकी रागादिकपूर्ण अवस्थाको जीवतत्त्व समझ लिया जाय या जीवकी वैभाविक परिणति (रागादिक)को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योंकि ऐसा समझनेसे वस्तु तत्त्वका सही निर्णय नहीं हो पाता और सही निर्णयके अभावमें यह आत्मा मोक्षको प्राप्त नहीं हो पाता। जिन भावोंको यह जीव मोक्षका कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रवके कारण होकर इस जीवको देवादिगतियोंमें सागरों पर्यन्त-

१. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्ण पावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥ स० सा०

२. 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः'—पुरुषार्थ०

के लिए रोक लेते हैं। सात तत्त्वोंमें जीव और अजीवका जो संयोग है वह संसार है तथा आस्रव और बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीवका जो वियोग—पृथग्भाव है वह मोक्ष है तथा संवर और निर्जरा उसके कारण हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, उसके कारण, रोगमुक्ति और उसके कारण चारोंका जानना आवश्यक है उसी प्रकार इस जीवको संसार, उसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण—चारोंका जानना आवश्यक है।

करणानुयोगमें, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाली श्रद्धागुणकी स्वाभाविक परिणतिको सम्यग्दर्शन कहा है। करणानुयोगके इस सम्यग्दर्शनके होनेपर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोगमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियमसे हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगोंके सम्यग्दर्शन होनेपर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। मिथ्यात्वप्रकृतिके अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें सातवें नरककी आयुका बन्ध होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें नौवें ग्रैवेयककी आयुका बन्ध होता है। एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें इस जीवके मुनिहत्याका भाव होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमें स्वयं मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणोंका निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्वके उदयमें कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्वके उदयमें शुक्ललेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्वप्रकृतिका मन्द, मन्दतर उदय चलता है उस समय इस जीवके करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पड़ता है परन्तु करणानुयोगके अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृतिका उसके संवर नहीं होता है। बन्ध और मोक्षके प्रकरणमें करणानुयोगका सम्यग्दर्शन ही अपेक्षित रहता है, अन्य अनुयोगोंका नहीं। यद्यपि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शनकी महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक—बुद्धिपूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस जीवका पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगमें प्रतिपादित सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात् यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देवशास्त्रगुरुकी शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगमका अभ्यास कर तत्त्वोंका निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होनेपर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन स्वतः प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह संवर और निर्जराको प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शनके विविध लक्षणोंका समन्वय—

उपर्युक्त विवेचनसे सम्यग्दर्शनके निम्नलिखित पांच लक्षण सामने आते हैं :—

(१) परमार्थ देवशास्त्रगुरुकी प्रतीति।

(२) तत्वार्थश्रद्धान।
(३) स्वपरका श्रद्धान।
(४) आत्माका श्रद्धान।
(५) सप्त प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्राप्त श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति।

इन लक्षणोंमें पांचवां लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन हैं। जहां इन्हें सम्यग्दर्शन कहा है वहां कारणमें कार्यका उपचार समझना चाहिये। जैसे अरहंत देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरुकी श्रद्धा होनेसे व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुकी श्रद्धा दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शनका वह लक्षण नहीं है क्योंकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहारधर्मके धारक मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी अरहंतादिकका श्रद्धान होता है। अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करनेपर देशचारित्र, सकलचारित्र होता भी है और नहीं भी होता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रत धारण किये विना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नहीं होता है, इसलिये अणुव्रत, महाव्रतको अन्वयरूप कारण जान कर कारणमें कार्यका उपचारकर इन्हें देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहंतदेवादिकका श्रद्धान होनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु अरहंतादिककी श्रद्धाके विना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता। इसलिये अन्वयव्याप्तिके अनुसार कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षणमें भी संघटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशमके अनुसार तत्त्वार्थका ज्ञान प्राप्तकर उसकी श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धाकी किसी बातको आश्रय नहीं देता; तत्त्वार्थका ऐसा विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, परन्तु परमार्थसे वह स्वयं मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धामें कहां चूक रहती है, यह प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अतः कारणमें कार्यका उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूपसे "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपरका भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनिको भी होता है। द्रव्यलिंगी मुनि, घानीमें पेल दिये जानेपर भी संक्लेश नहीं करता और शुक्ललेश्याके प्रभावसे नौवें ग्रैवेयक तकमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपरभेदविज्ञानमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे जनसाधारण नहीं जान सकता। वह चूक प्रत्यक्षज्ञानका ही विषय है।

इस स्थितिमें यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्तिमें स्वपरका भेदविज्ञान कारण पड़ता है। अतः कारणमें कार्यका उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषायकी मन्दतासे उपयोगकी चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थितिमें द्रव्यलिंगी मुनिका उपयोग भी परपदार्थसे हट कर स्वमें स्थिर होने लगता है। स्वद्रव्य—आत्मद्रव्यकी वह बड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्माके ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावका ऐसा भाव-विभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वयं मिथ्यादृष्टि रहता है। इस स्थितिमें इस आत्मश्रद्धानको करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शनका साधन मान कर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणोंमें जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नहीं सकता, इसलिये व्यवहारसे इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुए सम्यक्त्वका घात करनेवाली सात प्रकृतियोंका उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपरश्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारों लक्षण एक-दूसरेके बाधक नहीं हैं क्योंकि एकके होनेपर दूसरे लक्षण स्वयं प्रकट हो जाते हैं। पात्रकी योग्यता देखकर आचार्योंने विभिन्न शैलियोंसे वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरणप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीतिको, ज्ञानप्रधान शैलीको मुख्यता देनेकी अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धानको और कषाय जनित विकल्पोंकी मन्द-मन्दतर अवस्थाको मुख्यता देनेकी अपेक्षा स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यताके अनुसार चारों शैलियोंको अपनाया जा सकता है। इन चारों शैलियोंमें भी यदि मुख्यता और अमुख्यताकी अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पड़ती है क्योंकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियोंको बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीयकर्मकी छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है क्योंकि दर्शनमोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियोंमेंसे एक मिथ्यात्वप्रकृतिका ही बन्ध होता है, शेष दोका नहीं। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभावसे यह जीव मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेदसे तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीवके ही सम्यक्‌मि-

ध्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिकी सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवोंमें मोहनीय कर्मकी सत्ताके तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियों वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला। जिस जीवके दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है। जिस जीवने सम्यकत्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह सत्ताईस प्रकृतियोंकी सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृतिकी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला है।

सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार करते हैं, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टिको सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमके भेदसे दो प्रकारका है। यहां प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको चर्चा है। द्वितीयोपशमकी चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक भव्य जीवको ही होता है अन्यको नहीं। भव्योंमें भी उसीको होता है जिसका संसारभ्रमणका काल अर्ध-पुद्गल परावर्तनके कालसे अधिक बाकी नहीं है। लेश्याओंके विषयमें यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके तीन शुभ लेश्याओंमेंसे कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियोंके जहां जो लेश्या बतलाई हैं उसीमें औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये गोत्रका प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात् जहाँ उच्च नीच गोत्रोंमेंसे जो भी संभव हो उसी गोत्रमें सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थितिके विषय-में चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मोंको स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो तथा सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इससे अधिक स्थितिबन्ध पड़ने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त-प्रकृतियोंका अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग चतुःस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहां इतनी विशेषता और भी ध्यानमें रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टिके आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्गकी सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नहीं होता। अनादि मिथ्यादृष्टिके इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्-दर्शनसे च्युत हुआ जीव दूसरे प्रथमोपशम सम्यक्त्वको तबतक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह वेदक कालमें रहता है। वेदक कालके भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो वह वेदक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है।

वेदक कालके विषयमें यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनसे च्युत हुआ जो मिथ्यादृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्यायमें भ्रमण करता है वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनको तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियोंकी स्थिति एक सागरसे कम शेष रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियमसे उसे वेदक–क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन-से च्युत हुआ जीव विकलत्रयमें परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यङ् मिथ्यात्वप्रकृतिकी स्थिति पृथक्त्वसागरप्रमाण शेष रहनेतक उसका वेदककाल कहलाता है। इस कालमें यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आता है तो नियमसे वेदक—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको ही प्राप्त होता है। हां, सम्यक्त्वप्रकृतिकी अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति—दोनोंकी उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुनः सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादिमिथ्यादृष्टियोंमें २६ या २७ प्रकृतियोंकी सत्तावाले जीवके दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है किन्तु २८ प्रकृतिकी सत्तावाले जीवके वेदक कालके भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हां, वेदक कालके निकल जानेपर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता रखने वाला संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त, चारोंगति वाला भव्य जीव जब सम्यग्दर्शन धारण करनेके सम्मुख होता है तब क्षायोपशामिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियोंको प्राप्त होता है।[1] इनमें करण लब्धिको छोड़कर शेष चार लब्धियां सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनोंको प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीवको ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियमसे प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियोंका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्व संचित कर्मपटलके अनुभागस्पर्धकोंका विशुद्धि-के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धिके द्वारा जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

(२) विशुद्धि लब्धि—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धमें कारणभूत

---

१. चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुपगमई ॥ ६५१ ॥ जी०का०
खउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ ६५० ॥ जी०का०

परिणामोंकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते हैं।

(३) देशना लब्धि—छहों द्रव्य और नौ पदार्थोंके उपदेशको देशना कहते हैं। उक्त देशनाके दाता आचार्य आदिकी लब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणाकी शक्तिकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं।

(४) प्रायोग्य लब्धि—आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मोंकी स्थितिको अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभकर्मोंमेंसे घातिया कर्मोंके अनुभागको लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मोंके अनुभागको नीम और कांजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

(५) करण लब्धि—करण भावोंको कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले करणों-भावोंकी प्राप्तिको करण लब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अथाप्रवृत्तकरण अथवा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हों उन्हें अथाप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसका दूसरा सार्थक नाम अधःकरण है। जिसमें अगामी समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम पिछले समयवर्ती जीवोंके परि-णामोंसे मिलते जुलते हों उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती तथा विषम समयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और असमान—दोनों प्रकारके होते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम एकसे लेकर दस नम्बर तकके हैं और दूसरे समयमें रहने वाले जीवोंके परिणाम छहसे लेकर पन्द्रह नम्बर तकके हैं। पहले समयमें रहने वाले जीवके छहसे लेकर दश नम्बर तकके परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवोंके एकसे लेकर दस तकके परिणामोंसे समान परिणाम हो सकते हैं अर्थात् किन्हीं दो जीवोंके चौथे नम्बरका परिणाम है और किन्हीं दो जीवोंके पांच नम्बरका परि-णाम है। यह परिणामोंकी समानता और असमानता नाना जीवोंकी अपेक्षा घटित होती हैं। इस करणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समान वृद्धिको लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं।

जिसमें प्रत्येक समय अपूर्व अपूर्व—नये नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। जैसे पहले समयमें रहने वाले जीवोंके यदि एकसे लेकर दस नम्बर तकके परिणाम हैं तो दूसरे समयमें रहने वाले जीवके ग्यारहसे वीस नम्बर तकके परिणाम होते हैं। अपूर्वकरणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान और असमान दोनों प्रकारके होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। जैसे, पहले समयमें रहनेवाले और दूसरे समयमें रहनेवाले जीवोंके परिणाम कभी समान नहीं होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समयमें रहनेवाले जीवोंके परिणाम समान भी हो सकते

हैं और असमान भी। यह चर्चा भी नाना जीवोंकी अपेक्षा है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अधःप्रवृत्तकरणके अन्तर्मुहूर्तसे छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालमें भी उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होते हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमें समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण है कि यहाँ एक समयमें एक ही परिणाम होता है इसलिये उस समयमें जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होंगे और भिन्न समयोंमें जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। परन्तु अपूर्वकरणकी अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इसके प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है। इन तीनों करणोंमें परिणामोंकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उपर्युक्त तीन करणोंमेंसे पहले अथाप्रवृत्त अथवा अधःकरणमें चार आवश्यक होते हैं—(१) समय समयमें अनन्तगुणी विशुद्धता होती है। (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें नवीन बन्धकी स्थिति घटती जाती है। (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुण बढ़ता जाता है और (४) प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तवां भाग घटता जाता है। इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है। उस अपूर्वकरणमें निम्नलिखित आवश्यक और होते हैं। (१) सत्तामें स्थित पूर्व कर्मोंकी स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर घटती जाती है अतः स्थितिकाण्डक घात होता है (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमें उत्तरोत्तर पूर्व कर्मका अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुणश्रेणीके कालमें क्रमसे असंख्यातगुणित कर्म, निर्जराके योग्य होते हैं इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है। इस अपूर्वकरणमें गुणसंक्रमण नामका आवश्यक नहीं होता। किन्तु चारित्रमोहका उपशम करनेके लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमें होता है। अपूर्वकरणके बाद अनिवृत्तिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरणके कालके संख्यातवें भाग होता है। इसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर[1] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरणके कालके

१. किमन्तरकरणं नाम ? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमन्तरणमिदि भण्णदे। जयधवल अ० प्र० ९५३।

अर्थ—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है? उत्तर—विवक्षित कर्मोंकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणामविशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मके निषेकोंका अन्तर्मुहूर्तके लिए अभाव होता है। अन्तरकरणके पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरणके द्वारा अभावरूप किये हुए निषेकोंके ऊपर जो मिथ्यात्वके निषेक उदयमें आनेवाले थे उन्हें उदयके अयोग्य किया जाता है। साथ ही अन्तानुबन्धी चतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदययोग्य प्रकृतियोंका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिकमें, अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें तीन खण्ड करता है, सूचित किया है।[1] तदनन्तर चरम समयमें मिथ्यादर्शनके तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियोंका इस प्रकार सात प्रकृतियोंके उदयका अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रोंमें भी प्रकट किया गया है—

'ओहट्टेदूण मिच्छत्तं तिण्णि भागं करेदि सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्मके तीन भाग करता है-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

दंसणमोहणीयं कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्वके तीन भाग करनेके पश्चात् दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता है।

द्वितीयोपशमसम्यग्दर्शन

औपशमिक सम्यग्दर्शनके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद हैं। इनमेंसे प्रथमोपशम किसके और कब होता है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है द्वितीयोपशमकी चर्चा इस प्रकार है। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थानके सातिशय अप्रमत्त भेदमें उपशमश्रेणी माढ़नेके सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शनमें अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणी माढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहांसे पतन कर नीचे

---

१. ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्तं करोति—सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं चेति। एतासां तिसृणां प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति। त० वा० अ० ९, पृष्ठ ५८९।

आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामीकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यकत्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमको प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपमिक कहते हैं और जब सम्यकत्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनों हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियोंमें जो वेदककालके भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियोंमें जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यकदर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीवको, चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।[1] दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें।[2] परन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियोंमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यकत्वपूर्वक ही होता है तथा चौथेसे सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नहीं है जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असंख्यात वार होकर छूट सकते हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भवसे मोक्ष चला

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ।।६४।। जी.का.

२. स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवली या श्रुतकेवलीके सन्निधानकी आवश्यकता नहीं रहती।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भवसे मोक्ष चला जाता है या तीसरे भवमें, या चौथे भवमें, चौथे भवसे अधिक संसारमें नहीं रहता।[1] जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होनेसे नरकमें जाता है अथवा देवगतिमें उत्पन्न होता है वह वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इस प्रकार चौथे भवमें उसका मोक्ष जाना बनता है।[2] चारों गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिका चारों गतियोंमे जाना संभव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमें यदि मनुष्य और तिर्यञ्चके आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बंध होता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके बहिरङ्ग कारण

कारण दो प्रकारका होता है एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है वह उपादानकारण कहलाता है। और जो कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है वह निमित्तकारण कहलाता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे निमित्तके दो भेद हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण[3] आसन्नभव्यता आदि विशेषताओंसे युक्त आत्मा है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंका उपशम, अथवा क्षयोपशम हैं और बहिरङ्ग निमित्तकारण सद्गुरु आदि हैं। अन्तरङ्ग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नहीं भी होता है। सम्यग्दर्शन-के बहिरङ्ग निमित्त चारों गतियोंमें विभिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे नरकगतिमें तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथेसे सातवें तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगतिमें जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन, देवगतिमें बारहवें स्वर्गतक जातिस्मरण, धर्म-श्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार, तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्गतक देवर्द्धिदर्शनको छोड़कर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्म-श्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त हैं। ग्रैवेयकके ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये

१. दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व॥ क्षे० जी० का० स० भा०

२. चत्तारि वि खेत्ताइं, आयुगबंधेढ होइ सम्मत्तं।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देयाउगं मोत्तुं॥ ६५२॥ जी. का.

३. आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धिभाक् ।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥ सा. ध.।

यहां बहिरङ्गनिमित्तकी आवश्यकता नहीं है। इस सन्दर्भमें सर्वार्थसिद्धिका 'निर्देश-स्वामित्व, आदिसूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृ० ४२० आदिका प्रकरण द्रष्टव्य है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो भेद हैं। जो पूर्व संस्कारकी प्रबलतासे परोपदेशके बिना हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनों भेदोंमें अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियोंका उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारणकी अपेक्षा दो भेद होते हैं।

करणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भेद होते हैं। जो सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है वह औपशमिक कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशमकी अपेक्षा दो भेद है। जो सात प्रकृतियों-के क्षयसे होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदया-भावी क्षय और सद्व्यवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिके उदयसे होता है उसे क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनका अवान्तरभेद है। दर्शनमोह-नीयकी क्षपणा करनेवाले जिस क्षायोपशयिक सम्यग्दृष्टिके मात्र सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय शेष रह गया है, शेषकी क्षपणा हो चुकी है उसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

चरणानुयोगकी पद्धतिसे सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। वहां परमार्थ देव-शास्त्र-गुरुकी विपरीताभिनिवेशसे रहित श्रद्धा करनेको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टिकी पच्चीस दोषोंसे रहित जो प्रवृत्ति है उसे **व्यवहारसम्यग्दर्शन** कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताएँ ये व्यवहारसम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहलाते हैं।[1]

द्रव्यानुयोगकी पद्धतिसे भी सम्यग्दर्शनके निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। यहां जीवाजीवादि सात तत्त्वोंके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको **निश्चयसम्यग्दर्शन** कहते हैं और सात तत्त्वोंके विकल्पसे सहित श्रद्धानको **व्यवहार सम्यग्दर्शन** कहते हैं।[2]

---

१. मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥

२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥ २०॥ दर्शनपाहुड

अध्यात्ममें वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शनके भेदसे दो भेद होते हैं। यहाँ आत्माकी विशुद्धि मात्रको **वीतराग सम्यग्दर्शन** कहा है और प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणोंकी अभिव्यक्तिको **सराग सम्यग्दर्शन** कहा है।[1]

आत्मानुशासनमें ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षा १. आज्ञा सम्यक्त्व, २. मार्गसम्यक्त्व, ३. उपदेश सम्यक्त्व, ४. सूत्र सम्यक्त्व, ५. बीज सम्यक्त्व, ६. संक्षेप सम्यक्त्व, ७. विस्तार सम्यक्त्व, ८. अर्थ सम्यक्त्व, ९. अवगाढ सम्यक्त्व और १० परमावगाढ़ सम्यक्त्व ये दश भेद कहे हैं।

मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञाकी प्रधानतासे जो सूक्ष्म, अन्तरित एवं दूरवर्ती पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसे **आज्ञा सम्यक्त्व** कहते हैं। निर्ग्रन्थ मार्गके अवलोकनसे जो सम्यग्दर्शन होता है उसे **मार्ग सम्यक्त्व** कहते हैं। आगमज्ञ पुरुषोंके उपदेशसे उत्पन्न सम्यग्दर्शन **उपदेश सम्यक्त्व** कहलाता है। मुनिके आचारका प्रतिपादन करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है। उसे **सूत्र सम्यक्त्व** कहते हैं। गणितज्ञानके कारण बीजोंके समूहसे जो सम्यक्त्व होता है उसे **बीज सम्यक्त्व** कहते हैं। पदार्थोंके संक्षेपरूप विवेचनको सुनकर जो श्रद्धान होता हैं उसे **संक्षेप सम्यक्त्व** कहते हैं। विस्ताररूप जिनवाणीको सुननेसे जो श्रद्धान होता है उसे **विस्तार सम्यक्त्व** कहते हैं। जैन शस्त्रके वचन विना किसी अर्थके निमित्तसे जो श्रद्धा होती है उसे **अर्थ सम्यक्त्व** कहते हैं। श्रुतकेवलीके तत्त्वश्रद्धानको **अवगाढ सम्यक्त्व** कहते हैं। और केवलीके तत्त्वश्रद्धानको **परमावगाढ़ सम्यक्त्व** कहते हैं। इन दश भेदोंमें प्रारम्भके आठ भेद कारणकी अपेक्षा और अन्तके दो भेद ज्ञानके सहकारीपनाकी अपेक्षा किये गए हैं।

इस प्रकार शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करनेवालोंकी अपेक्षा असंख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके अनन्त भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शनका निर्देश आदिकी अपेक्षा वर्णन

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीने पदार्थके जाननेके उपायोंका वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायोंका वर्णन किया है।[2] यहाँ सम्यग्दर्शनके संदर्भमें इन उपायोंका भी विचार करना उचित जान पड़ता है। वस्तुके स्वरूप निर्देशको **निर्देश** कहते हैं। वस्तुके आधिपत्यको **स्वामित्व** कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके निमित्तको **साधन** कहते हैं। वस्तुके आधारको **अधिकरण** कहते हैं। वस्तुकी कालावधिको **स्थिति** कहते हैं और वस्तुके प्रकारोंको **विधान** कहते हैं। संसारके किसी भी पदार्थके जाननेमें इन छह उपायोंका आलम्बन लिया जाता है।

---

१. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढं च ॥ ११ ॥ आत्मानुशासन

२. 'निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः'—त० सू० १-७।

यहाँ सम्यग्दर्शनका निर्देश—स्वरूप क्या है? इसका उत्तर देनेके लिए कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान करना, अथवा सात तत्त्व, नौ पदार्थका श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शनका निर्देश है। सम्यग्दर्शनका स्वामी कौन है? इस प्रश्नका विचार सामान्य और विशेषरूपसे किया गया है। सामान्यकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीवके ही होता है अतः वही इसका स्वामी है। विशेषकी अपेक्षा विचार इस प्रकार है[1]—

गतिकी अपेक्षा नरकगतिमें सभी पृथिवियोंके पर्याप्तक नारकियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। तिर्यंचगतिमें औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यंचोंके ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनोंके होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यंचोंके सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यंचोंकी अपेक्षा होते हैं। तिरश्चियोंके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों ही अवस्थाओंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्यके ही होता है और क्षपणाके पहले तिर्यञ्च आयुका बन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें नहीं। नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियोंके औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्यगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्योंके क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्योंके ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्योंके नहीं, क्योंकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनमें किसीका मरण होता नहीं है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनमें मरा हुआ जीव नियमसे देवगतिमें ही जाता है। मानुषी—स्त्रीवेदी मनुष्योंके पर्याप्तक अवस्थामें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी नहीं होता। मानुषियोंके जो क्षायिक सम्यग्दर्शन बतलाया है वह भाववेदकी अपेक्षा होता है द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं। देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवोंमें उत्पन्न होते हैं इस अपेक्षा वहाँ अपर्याप्तक अवस्थामें भी औपशमिक सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओं तथा सौधर्मैशानकी देवांगनाओंके अपर्याप्तक अवस्थामें एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्थामें नवीन उत्पत्तिकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। स्वर्गमें देवियोंका सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे

---

१. विशेषकी अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओंमें होता है—
गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ जी० का०

स्वर्ग तक ही होती है इसलिये आगेकी देवियोंका समावेश पहले-दूसरे स्वर्गकी देवियोंमें ही समझना चाहिये।

इन्द्रियोंकी अपेक्षा संज्ञी पञ्चेन्द्रियोंको तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य इन्द्रियवालोंके एक भी नहीं होता। कायकी अपेक्षा त्रसकायिक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु अयोगियोंके मात्र क्षायिक ही होता है। वेदकी अपेक्षा तीनों वेदोंमें तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपगत वेद वालोंके औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेदसे तात्पर्य भाववेदसे है। कषायकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायोंमें तीनों होते हैं परन्तु अकषाय—कषाय रहित जीवोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं। औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थानमें होता है। ज्ञानकी अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके धारक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु केवलज्ञानियोंके एक क्षायिक ही होता है। संयमकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयमके धारक जीवोंके तीनों होते हैं, परिहारविशुद्धिवालोंके औपशमिक नहीं होता, शेष दो होते हैं, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातवालोंके औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं और संयतासंयत तथा असंयतोंके तीनों होते हैं। दर्शनकी अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शनके धारक जीवोंके तीनों होते हैं परन्तु केवलदर्शनके धारक जीवोंके एक क्षायिक ही होता है। लेश्याकी अपेक्षा छहों लेश्या वालोंके तीनों होते हैं परन्तु लेश्यारहित जीवोंके एक क्षायिक ही होता है। भव्य जीवोंकी अपेक्षा भव्योंके तीनों होते हैं परन्तु अभव्योंके एक भी नहीं होता। सम्यक्त्वकी अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिये। संज्ञाकी अपेक्षा संज्ञियोंके तीनों होते हैं असंज्ञियोंके एक भी नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञीके व्यपदेशसे रहित सयोगकेवली और अयोगकेवलीके एक क्षायिक ही होता है। आहारकी अपेक्षा आहारकोंके तीनों होते हैं, छद्मस्थ अनाहारकोंके भी तीनों होते हैं परन्तु समुद्घातकेवली अनाहारकोंके एक क्षायिक ही होता है।

सम्यग्दर्शनके साधन क्या हैं? इसका उत्तर सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंके संदर्भमें आ चुका है।

सम्यग्दर्शनका अधिकरण क्या है?

अधिकरणके बाह्य और आभ्यन्तरकी अपेक्षा दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामि सम्बन्धके योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा चौदह राजू लम्बी लोकनाड़ी है।

सम्यग्दर्शनकी स्थिति क्या है?

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता, इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति

सादि अनन्त है परन्तु संसारमें रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तेतीस सागरकी है।

सम्यग्दर्शनका विधान क्या है ?

सम्यग्दर्शन के विधान—भेदोंका वर्णन पिछले स्तम्भमें आ चुका है।

सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानोंमें अस्तित्व

सम्यक्त्व मार्गणाके औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यङ्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। इनमें प्रथमोपशम चौथेसे लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्थामें भी रहता है। सम्यङ्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थानमें सासादनमार्गणा दूसरे गुणस्थानमें और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थानमें ही होती है। सम्यङ्मिथ्यात्वमार्गणा, सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे होती है। इसमें जीवके परिणाम दही और गुड़के मिले हुए स्वादके समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंरूप होते हैं। इस मार्गणामें किसीका मरण नहीं होता और न मारणान्तिक समुद्घात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्वका काल एक समयसे लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभमेंसे किसी एक कषायका उदय आनेसे जिसका सम्यक्त्व आसादना—विराधनासे सहित हो गया है वह सासादन कहलाता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होता है वह मिथ्यात्वके अगृहीत और गृहीतकी अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिककी अपेक्षा पांच भेद अथवा गृहीत, अगृहीत और सांशयिककी अपेक्षा तीन भेद होते हैं [१]।

सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग

जिन्हें मिला कर अङ्गीकी पूर्णता होती है अथवा अङ्गीको अपना कार्य पूर्ण करनेमें जो सहायक होते हैं उन्हें अङ्ग कहते हैं। मनुष्यके शरीरमें जिसप्रकार हाथ, पैर आदि आठ अङ्ग होते है उन आठ अंगोंके मिलनेसे ही मनुष्यके शरीरकी पूर्णता होती है और वे अंग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करनेमें सहायक होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके निःशङ्कित आदि आठ अंग हैं। इन आठ अंगोंके मिलनेसे ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमें उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्दस्वामीने अष्टपाहुड़के अन्तर्गत चारित्रपाहुड़में चारित्रके सम्यक्त्वाचरण और संयमा-

---

१. केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकमपरेषाम्॥ ५॥ सा० ध०

चरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरणका निम्नलिखित गाथाओंमें वर्णन किया है—

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई ।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥ ६ ॥
णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥ ७ ॥
तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ८ ॥

ऐसा जान कर हे भव्य जीवों ! जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्वमें मल उत्पन्न करनेवाले शङ्का आदि मिथ्यात्वके दोषोंका तीनों योगोंसे परित्याग करो ।

निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्वके गुण हैं ।

निःशङ्कितादि गुणोंसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिनसम्यक्त्व कहलाता है तथा जिनसम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थानकी प्राप्तिके लिये निमित्तभूत है । ज्ञानसहित जिनसम्यक्त्वका जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वचरण नामक चारित्र है ।

तात्पर्य यह है कि शङ्कादिक दोषोंको दूर कर निःशङ्किता आदि गुणोंका आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार कहलाता है । स्वरूपाचरण इससे भिन्न है ।

अष्टपाहुड़के अतिरिक्त समयसारकी गाथाओं (२२९ से लेकर २३६)में भी कुन्द-कुन्द स्वामीने सम्यग्दृष्टिके निःशंकिता आदि गुणोंका वर्णन किया है । यही आठ गुण आगे चलकर आठ अंगोंके रूपमेंप्रचलित हो गये । रत्नकरण्डश्रावकाचारमें समन्त-भद्रस्वामीने इन आठ अंगोंका संक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है । पुरुपार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्रस्वामीने भी इनके लक्षण बतलानेके लिए आठ श्लोक लिखे हैं । यह आठ अंगोंकी मान्यता सम्यग्दर्शनका पूर्ण विकास करनेके लिए आवश्यक है । अंगोंकी आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षरों वाला मन्त्र विष-वेदनाको नष्ट करनेमें असमर्थ रहता है उसी प्रकार कम अङ्गों वाला सम्यग्दर्शन संसारकी सन्ततिके छेदनेमें असमर्थ रहता है ।[1] अंगोंका स्वरूप तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रथम अधिकारसे ज्ञातव्य है ।

---

१. नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥

सम्यग्दर्शनके अन्य गुणोंकी चर्चा

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शनके चार गुण हैं। बाह्य दृष्टिसे ये भी सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं। इनके स्वरूपका विचार पञ्चाध्यायीके उत्तरार्धमें विस्तारसे किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

[1]पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे मनका शिथिल होना प्रशम भाव है। अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंके विषयमें कभी भी उनके मारने आदिकी प्रयोजक बुद्धिका न होना प्रशमभाव है।

[2]धर्ममें और धर्मके फलमें आत्माका परम उत्साह होना अथवा समानधर्मवालोंमें अनुरागका होना या परमेष्ठियोंमें प्रीतिका होना संवेग है।

[3]अनुकम्पाका अर्थ कृपा है या सब जीवोंपर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भावका नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थभावका रखना अनुकम्पा है या शत्रुताका त्यागकर देनेसे निःशल्य हो जाना अनुकम्पा है।

[4]स्वतः सिद्ध तत्त्वोंके सद्भावमें निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्मके हेतु और धर्मके फलमें आत्माकी अस्ति आदि रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य है।

उपर्युक्त प्रशमादिगुणोंके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनके आठ गुण और भी प्रसिद्ध हैं। जैसा कि निम्नलिखित गाथासे स्पष्ट है—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते॥ (वसु० श्रावकाचार)

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं।

वास्तवमें ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणोंके अतिरिक्त नहीं हैं क्योंकि संवेद, उपशम और अनुकंपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणोंमे नामोक्त ही हैं।

---

१. प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥४२६॥
सद्यःकृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः॥४२७॥ पंचाध्यायी

२. संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥४३१॥

३. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैःशल्यं वैरवर्जनात्॥४३२॥

४. आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः॥४५२॥ पंचाध्यायी उ०

निर्वेद, संवेगका पर्यायवाची है। तथा भक्ति और वात्सल्य संवेगके अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हैं तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यंजक होनेसे उसमें गतार्थ हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयका त्रिक और अनन्तानुवन्धीका चतुष्क इन सात प्रकृतियों-के अभाव (अनुदय) में प्रकट होनेवाला श्रद्धागुणका परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरणके अवान्तरभेदके क्षयोपशमसे होनेवाला क्षायोप-शमिक ज्ञान है। ये दोनों सहभावी हैं, इसलिए कितने ही लोग स्वानुभूतिको ही सम्य-ग्दर्शन कहने लगते हैं पर वस्तुतः वात ऐसो नहीं है। दोनों ही पृथक्-पृथक् गुण हैं। छद्मस्थका ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी तो आत्माके विपयमें ही उपयुक्त होता है और कभी संसारके अन्य घट-पटादि पदार्थोंमें भी उपयुक्त होता है। अतः सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूतिकी विषम व्याप्ति है। जहाँ स्वानुभूति होती है वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थोंकी भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धिरूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शनके साथ नियमसे रहती है। यहाँ यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि जीवको ज्ञान तो उसके क्षयोपशमके अनुसार स्व और परकी भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी अनेक पर्यायोंका हो सकता है परन्तु उसे अनु-भव उसकी वर्तमान पर्यायमात्रका ही होता है। वस्तुतः[1] सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनोंका अविषय है इसलिये कोई भी जीव विधिरूपसे उसके कहने और सुननेका अधिकारी नहीं है अर्थात् यह कहने और सुननेको समर्थ नहीं है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किन्तु ज्ञानके माध्यमसे ही उसकी सिद्धि होती है। यहाँ ज्ञानसे स्वानुभूतिरूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीवके यह स्वानुभूति होती है उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना स्वानुभूति नहीं होती। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विपयभोग या युद्धादि कार्योंमें संलग्न होता है उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसीमें रहता है परन्तु उस कालमें उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मामें उपयुक्त न होकर अन्य पदार्थोंमें उपयुक्त हो रहा है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट

---

१. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुन् च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्॥ ४००॥ पंचाध्यायी उ.
सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्टं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥ ३७५॥

हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोगरूप परिणमन ज्ञानका है सम्यग्दर्शनका नहीं। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

सम्यग्दर्शनको घातनेवाली प्रकृतियोंकी अन्तर्दशा

मुख्यरूपसे सम्यग्दर्शनको घातने वाली दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। इनमें मिथ्यात्वका अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्मिथ्यात्वका है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्वप्रकृतिका है। इनमें सम्यक्त्वप्रकृति देशघाती है। इसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात तो नहीं होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते हैं। 'यह अरहन्तादिक मेरे हैं यह दूसरेके हैं' इत्यादिक भाव होनेको चल दोष कहते हैं। शंकादिक दोषोंका लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्तिके कर्ता हैं इत्यादि भावका होना अगाढ़ दोष है। ये उदाहरण व्यवहारमात्र हैं नियमरूप नहीं। परमार्थसे सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें क्या दोष लगते हैं, उन दोषोंके समय आत्मामें कैसे भाव होते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय है। इतना नियमरूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शन निर्मल नहीं रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शनमें इस प्रकृतिका उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शनके सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके मिथ्यात्वके परमाणुओंको सम्यङ्मिथ्यात्वरूप या सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है उसके बाद सम्यङ्मिथ्यात्वके परमाणुओंको सम्यक्त्वप्रकृतिरूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृतिके निषेक उदयमें आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हों तो उन्हें स्थितिकाण्डकादि घातके द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी रह जाती है तब कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रमसे इन निषेकोंका नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुबन्धीका प्रदेशक्षय नहीं होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप करके उसकी सत्ताका नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियोंको सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धीकी दो अवस्थाएं होती हैं—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसंयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करनेपर उपशमविधानसे उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं और जो उदयका अभाव है उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धीका तो प्रशस्त उपशम होता नहीं है, मोहकी अन्य प्रकृतियोंका होता है। इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानु-

बन्धीके परमाणुओंको जो अन्य चारित्रमोहनीयकी प्रकृतिरूप परिणमाया जाता है उसे विसंयोजन कहते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नियमसे होती है ऐसा किन्हीं आचार्योंका मत है और किन्हीं आचार्योंका मत है कि विसंयोजनाका नियम नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्वमें नियमपूर्वक विसंयोजना होती है। जिस उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके विसंयोजनाके द्वारा अनन्तानुबन्धीकी सत्ताका नाश होता है वह सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वमें आने पर अनन्तानुबन्धीका जब नवीन बन्ध करता है तभी उसकी सत्ता होती है।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्रका ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शनका घात उसके द्वारा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुबन्धीके उदयसे क्रोधादिकरूप परिणाम होते हैं, अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिये परमार्थसे अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी ही प्रकृति है परन्तु अनन्तानुबन्धीके उदयमें होने वाले क्रोधादिकके कालमें सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये उपचारसे उसे भी सम्यग्दर्शनका घातक कहा है। जैसे त्रसपनाका घातक तो स्थावरनामकर्मका उदय है परन्तु जिसके एकेन्द्रियजाति नामकर्मका उदय होता है उसके त्रसपना नहीं हो सकता, इसलिये उपचारसे एकेन्द्रियजाति नामकर्मको भी त्रसपनाका घातक कहा जाता है। इसी दृष्टिसे कहीं अनन्तानुबन्धीमें दो प्रकारकी शक्तियां मान ली गई हैं चारित्रको घातनेकी और सम्यग्दर्शनको घातनेकी।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तो उसके उदयका अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषायकी तीव्रता या मन्दताकी अपेक्षा नहीं हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके तीव्र या मन्द कषायके होते हुए अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायोंका उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टिके कषायका इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस कालमें शुक्ल लेश्या हो जावे और असंयत सम्यग्दृष्टिके इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि उस कालमें कृष्ण लेश्या हो जाय। जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्वके साथ अनुबन्ध—गठबन्धन हो वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेशचारित्रका घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्रका घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यातचारित्रका घात करे वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेसे यद्यपि कषायकी मन्दता होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती

जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषायके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें सर्वत्र पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है परन्तु उन स्थानोंमें व्यवहारकी अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं—१. प्रारम्भसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान तकके कषाय स्थान असंयमके नामसे, २. पञ्चम गुणस्थानके कषायस्थान देशचारित्रके नामसे और ३. षष्ठादि गुणस्थानोंके कषायस्थान सकलचारित्रके नामसे कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामीने कहा है[1]—

'ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठताको प्राप्त होता है इसलिये मोक्षमार्गमें उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती।

'निर्मोह—मिथ्यात्वसे रहित—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्गमें स्थित है परन्तु मोहवान्—मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है। मोही मुनिकी अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

'तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान अन्य कोई वस्तु देहधारियोंके लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्वके समान अकल्याणरूप नहीं है।'

'सम्यग्दर्शनसे शुद्ध मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यञ्च गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रताको प्राप्त नहीं होते।'

[2]यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पहले किसी मनुष्यने नरक आयुका बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरकसे नीचे नहीं जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है तो भोगभूमिका तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिकोंमें उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शनके कालमें यदि तिर्यञ्च और मनुष्यका आयुबन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही बन्ध होता है और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्यायुका ही बन्ध होता है।[3] सम्यग्दृष्टि जीव

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ३१–४१ तक।
२. दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः॥
३. हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे।।१२७।। जी० का०

किसी भी गतिकी स्त्रीपर्यायको प्राप्त नहीं होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गतिमें नपुंसक भी नहीं होता।'

'सम्यग्दर्शनसे पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभवसे सहित उच्च कुलीन, महान् अर्थसे सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ अणिमा आदि आठ गुणोंकी पुष्टिसे संतुष्ट तथा सातिशय शोभासे युक्त होते हुए देवाङ्गनाओंके समूहमें चिर काल तक क्रीड़ा करते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्गसे आकर नौ निधि और चौदह रत्नोंके स्वामी समस्त भूमिके अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्रको वर्तानेमें समर्थ होते हैं—चक्रवर्ती होते हैं।'

'सम्यग्दर्शनके द्वारा पदार्थोंका ठीक-ठीक निश्चय करनेवाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रोंके द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोकके शरण्यभूत तीर्थंकर होते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव अन्तमें उस मोक्षको प्राप्त होते हैं जो जरासे रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्याका वैभव चरम सीमाको प्राप्त है तथा जो कर्ममलसे रहित है।'

'जिनेन्द्र भगवान्में भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमासे युक्त इन्द्रसमूहकी महिमाको, राजाओंके मस्तकसे पूजनीय चक्रवर्तीके चक्ररत्नको और समस्त लोकको नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक—तीर्थंकरके धर्मचक्रको प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन और अनेकान्त

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः उसका निरूपण करनेके लिए आचार्योंने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयोंको स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूपसे द्रव्यका निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्यरूपसे पर्यायको विषय करता है। अध्यात्मप्रधान ग्रंथोंमें निश्चयनय और व्यवहारनयकी चर्चा आती है। निश्चयनय गुण-गुणीके भेदसे रहित तथा परके संयोगसे शून्य शुद्ध वस्तुतत्त्वको ग्रहण करता है और व्यवहारनय, गुण-गुणीके भेदरूप तथा परके संयोगसे उत्पन्न अशुद्धतासे युक्त वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन करता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नयके विषय परस्परविरोधी हैं। द्रव्यार्थिकनय पदार्थको नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिकनय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्माको शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है तो व्यवहारनय अशुद्ध तथा भेदरूप बतलाता है। नयोंके इस विरोधको दूर करनेवाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मोंको गौण-मुख्यरूपसे जो ग्रहण करता है उसे अनेकान्त कहते हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अने-

कान्तका आश्रय लेकर वस्तुस्वरूपको समझता है और पात्रकी योग्यता देखकर दूसरों को समझाता है। सम्यग्दर्शनके होते ही इस जीवकी एकान्त दृष्टि समाप्त हो जाती है। क्योंकि निश्चय और व्यवहारके वास्तविक स्वरूपको समझकर दोनों नयोंके विषयमें मध्यस्थताको ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागममें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको अच्छी तरह समझ सकता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझकर उन्हें छोड़ता है तथा वास्तविक वस्तुस्वरूपको ग्रहणकर कल्याणपथमें प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टिकी अन्तर्दृष्टि

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने कहा है—'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः' सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह संसारके कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी रखता है। 'मैं अनन्त ज्ञानका पुञ्ज, शुद्ध—रागादिके विकारसे रहित चेतन द्रव्य हूँ, मुझमें अन्य द्रव्य नहीं हैं, मैं अन्य द्रव्यमें नहीं हूँ और आत्माके अस्तित्वमें दिखनेवाले रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं।' इस प्रकार स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनेसे सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसारके कारणभूत बन्धसे बच जाता है। प्रशम-संवेगादि गुणोंके प्रकट हो जानेसे उसकी कषायका वेग ईंधन रहित अग्निके समान उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहाँ तक कि बुराई होने पर उसकी कषायका संस्कार छह महीनेसे ज्यादा नहीं चलता। यदि छह माहसे अधिक कषायका संस्कार किसी मनुष्यका चलता है तो उसके अनन्तानुबन्धी कषाय-का उदय है और उसके रहते हुए वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है[2] ऐसा समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्तिके कारण सांसारिक कार्य करता हुआ भी जलमें रहनेवाले कमलपत्रके समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभके वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी उपासना नहीं करता। किसी पर स्वयं आक्रमण नहीं करता। हां, किसीके द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होनेपर आत्मरक्षाके लिए युद्ध आदि भी करता है। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक् दृष्टिकी चाल-ढाल ही बदल जाती है।

सम्यग्ज्ञान

मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जीवाजीवादि सात तत्त्वोंको संशय, विपर्यय और अनध्य-

---

१. व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ पुरुषार्थ०

२. अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं संख संख णंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥गो०क०कां०

वसायसे रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनके साथ ही होता है—जिस प्रकार मेघपटलके दूर होने पर सूर्यका प्रताप और प्रकाश एकसाथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्वका आवरण दूर होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एकसाथ प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि ये दोनों एकसाथ प्रकट होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाश के समान दोनोंमें कारण-कार्यभाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब पदार्थका सम्यग्ज्ञान होगा तभी तो सम्यक् श्रद्धा होकर सम्यग्दर्शन हो सकेगा, इसलिए सम्यग्ज्ञानको कारण और सम्यग्दर्शनको कार्य मानना चाहिए ?

उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन होनेके पहले इतना ज्ञान तो होता ही है कि जिसके द्वारा तत्त्वस्वरूपका निर्णय किया जा सके, परन्तु उस ज्ञानमें सम्यक्पदका व्यवहार तभी होता है जब सम्यग्दर्शन हो जाता है। 'पिता और पुत्र साथ-ही-साथ उत्पन्न होते हैं क्योंकि जबतक पुत्र नहीं हो जाता तबतक उस मनुष्यको पिता नहीं कहा जा सकता, पुत्रके होते ही पिता कहलाने लगता है। पुत्र होनेके पहले वह, मनुष्य तो था, पर पिता नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके होनेके पहले ज्ञान तो रहता है पर उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञानका व्यवहार सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र साथ-साथ होने पर भी पिता कारण कहलाता है और पुत्र कार्य, उसी प्रकार साथ-साथ होने पर भी सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य कहलाता है।

यह सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलके भेदसे पांच प्रकारका है। इनमें मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि परपदार्थोंकी सहायतासे होती है और अवधि, मनः पर्यय तथा केवल ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति इन्द्रियादि परपदार्थोंकी सहायतासे न होकर स्वतः होती हैं। इनमें भी अवधि और मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्षज्ञान कहलाते है क्योंकि सीमित क्षेत्र और सीमित पदार्थोंको ही जानते हैं परन्तु केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि वह लोकालोकके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानता है।

मतिज्ञान—जो पाँच इन्द्रियों और मनकी सहायतासे पदार्थको जानता है वह मतिज्ञान कहलाता है। इसके मूलमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। ये चार भेद बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं इसलिये बारहमें चारका गुणा करनेपर अड़तालीस भेद होते हैं। ये अड़तालीस भेद पांच इन्द्रियों और मनके द्वारा होते हैं इसलिए अड़तालीसमें छहका गुणा करने पर दो-सौ अठासी भेद होते हैं। अवग्रहके व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह इस प्रकार दो भेद हैं। व्यञ्जनावग्रह—अस्पृष्ट पदार्थका

अवग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता, इसलिए बहु आदि बारह पदार्थोंमें चारका गुणा करने पर उसके अड़तालीस भेद होते हैं। अर्थावग्रहके बहत्तर भेद दो-सौ अठासीमें गर्भित हो चुके हैं। उन्हीं दो सौ अठासीमें व्यञ्जनावग्रहके अड़तालीस भेद जोड़ देनेसे मतिज्ञानके कुल भेद तीनसौ छत्तीस होते है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध—अनुमान आदि मतिज्ञानके ही विशिष्ट रूपान्तर हैं।

धवला पुस्तक १३, पृष्ठ २४०–२४१ पर मतिज्ञानके उत्तरभेदोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है—

'तं जहा ४, २४, २८, ३२ एदे पुव्वुप्पाइदे भंगे दोसु ट्ठाणेसु ट्ठविय छहि बारसेहि य गुणिय पुणरुत्तमवणिय परिवाडीए ट्ठइदे सुत्तपरूविदभंगपमाणं होदि। तं च एदं—४, २४, २८, ३२, ४८, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६, ३८४। जत्तिया मदिणाणवियप्पा तत्तिया चेव आभिणिबोहियणाणावरणीयस्स पयडिवियप्पा त्ति वत्तव्वं।

इसका भावार्थ विशेषार्थमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—यहाँ मतिज्ञानके अवान्तरभेदोंका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। मूलमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। इन्हें पांच इन्द्रिय और मनसे गुणित करनेपर २४ भेद होते हैं। इनमें व्यञ्जनावग्रहके ४ भेद मिलानेपर २८ भेद होते हैं। ये २८ उत्तरभेद है, इसलिए इनमें अवग्रह आदि ४ मूलभंग मिलानेपर ३२ भेद होते हैं। ये तो इन्द्रियों और अवग्रह आदिकी अलग-अलग विवक्षासे भेद हुए। अब जो बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव ऐसे ६ प्रकारके पदार्थ तथा इनके प्रतिपक्षभूत ६ इतर पदार्थोंको मिलाकर बारह प्रकारके पदार्थ बतलाये हैं उनसे अलग उक्त विकल्पोंको गुणित किया जाता है तो सूत्रोक्त मतिज्ञानके सभी विकल्प उत्पन्न होते हैं। यथा—४ × ६ = २४, २४ × ६ = १४४, २६ × ६ = १९२; ४ × १२ = ४८, २४ × १२ = २८८, २८ × १२ = ३३६, ३२ × १२ = ३८४।

उक्त संदर्भानुसार विवक्षावश मतिज्ञान के ३८४ भेद भी होते हैं। धवलाके इसी संदर्भमें अवग्रहके अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बना और मेधा, ईहाके—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, अवायके—अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा तथा धारणाके—धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थक—पर्यायवाची नाम दिये है। इनका शब्दार्थ धवलासे ही ज्ञात करना चाहिये।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानके बाद अस्पष्ट अर्थकी तर्कणाको लिये हुए जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान पर्याय, पर्यायसमास आदि बीस भेदोंमें क्रमसे वृद्धिको

प्राप्त होता है। दूसरी शैलीसे श्रुतज्ञानके अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्टकी अपेक्षा दो भेद होते हैं। इनमें अङ्गबाह्यके अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्टके १. आचाराङ्ग, २. सूत्रकृताङ्ग, ३. स्थानाङ्ग, ४. समवायाङ्ग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ६. धर्मकथाङ्ग, ७. उपासकाध्ययनाङ्ग, ८. अन्तकृद्दशाङ्ग, ९. अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग, १०. प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११. विपाकसूत्राङ्ग और १२. दृष्टिवादाङ्ग ये बारह भेद हैं। इनमें बारहवें दृष्टिवाद अङ्गके १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका इस प्रकार पांच भेद हैं। परिकर्मके १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति इस प्रकार पांच भेद हैं। पूर्वगतके १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणवादपूर्व, १२. प्राणवादपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. त्रिलोकविन्दुसार ये चौदह भेद हैं। चूलिकाके १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. आकाशगता और ५. रूपगता इस प्रकार पाँच भेद हैं। सूत्र और प्रथमानुयोगका एक-एकही भेद है।

अङ्गबाह्यके १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्प्याकल्प्य, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धका ये चौदह भेद हैं।

इन सबके वर्णनीय विषय तथा पद आदिकी संख्याके लिये जीवकाण्डकी श्रुतज्ञान मार्गणा देखना चाहिये।

यह श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थकी अपेक्षा दो प्रकारका है। उनमें परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चयनय तथा व्यवहारनय आदि भेदोंको लिये हुए अनेक नयरूप है।

समन्तभद्रस्वामीने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सम्यग्ज्ञानका अधिक विस्तार न कर मात्र श्रुतज्ञानको मुख्यता देते हुए समस्त शास्त्रोंको १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोगके भेदसे चार अनुयोगोंमें विभक्त किया है। मनुष्य, इन चार अनुयोगोंका अभ्यास कर अपने श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानको पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तत् आवरणोंका अभाव होने पर स्वयं प्रगट हो जाते हैं, उनमें मनुष्यका पुरुषार्थ नहीं चलता। पुरुषार्थ चलता है सिर्फ अनुयोगात्मक श्रुतज्ञानमें। अतः आलस्य छोड़कर चारों अनुयोगोंका अभ्यास करना चाहिये।

अवधिज्ञान

परपदार्थोंकी सहायताके बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको जो स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञान, भवप्रत्यय और गुणप्रत्ययके भेदसे दो प्रकारका होता है। भवप्रत्ययनामका अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है, मनुष्योंमें तीर्थंकरोंके भी होता है। सर्वाङ्गसे होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य संज्ञी और पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक तिर्यञ्चोंके होता है। यह नाभिके ऊपर स्थित शङ्खादि चिह्नोंसे होता है। इसके अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इस प्रकार छः भेद होते हैं। इनकी परिभाषाएँ नामोंसे स्पष्ट हैं। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय—दोनों ही अवधिज्ञानोंमें अन्तरङ्ग कारण अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम है।

इनके सिवाय अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद और होते हैं। ऊपर कहा हुआ भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधिके अन्तर्गत होता है। देशावधि चारों गतियोंमें हो सकता है परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनियोंके ही होते हैं। देशावधिज्ञान प्रतिपाती है, शेष दो ज्ञान अप्रतिपाती हैं। इन्हें धारण करने वाले मुनि मिथ्यात्व और असंयम अवस्थाको प्राप्त नहीं होते। इन तीनों अवधिज्ञानोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगमसे जानना चाहिये। गुणप्रत्ययका दूसरा नाम क्षयोपशमनिमित्तक भी है।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यादर्शनके साथ होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं और यदि सम्यग्दर्शनके साथ होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं।

मनःपर्ययज्ञान

इन्द्रियादिककी सहायताके बिना दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको जो द्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादा लिये हुए स्पष्ट जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है गृहस्थोंके नहीं। इसके दो भेद हैं—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति, सरल मन-वचन-कायसे चिन्तित, परके मनमें स्थित, रूपी पदार्थको जानता है और विपुलमति सरल तथा कुटिलरूप मन-वचन-कायसे चिन्तित परके मनमें स्थित रूपी पदार्थको जानता है। ऋजुमतिकी अपेक्षा विपुलमतिमें विशुद्धि अधिक होती है। ऋजुमति सामान्य मुनियोंको भी हो जाता है परन्तु विपुलमति उन्हीं मुनियोंके होता है जो उपरितन गुणस्थानोंसे गिर कर नीचे नहीं आते। तथा तद्भवमोक्षगामी होते हैं। इसके दोनों भेदोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट विषय आगमग्रन्थोंसे जानना चाहिये। मनःपर्ययज्ञान ईहामतिज्ञानपूर्वक होता है। इसका अन्तरङ्ग कारण मनःपर्ययज्ञानका क्षयोपशम है।

केवलज्ञान

जो बाह्य पदार्थोंकी सहायताके बिना लोकालोकके समस्त पदार्थोंको उनकी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंके साथ स्पष्ट जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। इसकी उत्पत्ति मोहनीय तथा शेष तीन घातियाकर्मोंका क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थानमें होती है। यह क्षायिक ज्ञान कहलाता है और तद्भवमोक्षगामी मनुष्योंके ही होता है। इसे सकलप्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह ज्ञानगुणकी सर्वोत्कृष्ट पर्याय है तथा सादि अनन्त है। इसे प्राप्त कर मनुष्य देशोनकोटि वर्ष पूर्वके भीतर नियमसे मोक्ष चला जाता है। यह ज्ञान इच्छाके विना ही पदार्थोंको जानता है।

प्रमाण और नय

तत्त्वार्थसूत्रकारने जीवाजीवादि तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि गुणोंके जाननेके उपायोंकी चर्चा करते हुए 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्र द्वारा प्रमाण और नयोंका उल्लेख किया है। जो वस्तुमें रहनेवाले अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि समस्त धर्मोंको एकसाथ ग्रहण करता है उसे **प्रमाण** कहते हैं और जो उपर्युक्त धर्मोंको गौण-मुख्य करता हुआ क्रमसे ग्रहण करता है उसे **नय** कहते हैं। प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष-की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रत्यक्ष भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्षके भेद-से दो प्रकारका है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष कहलाते हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगमके भेदसे पांच भेद हैं। इन सबके लक्षण अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

नयके मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस प्रकार दो भेद हैं। द्रव्यार्थिकके नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन भेद हैं और पर्यायार्थिक नयके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इस प्रकार चार भेद हैं। अथवा अर्थनय और शब्दनयकी अपेक्षा नयके दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं।

सम्यक्चारित्र

निश्चयसे स्वकीय शुद्ध स्वरूपमें निश्चल होनेको चारित्र कहते हैं और व्यवहारसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापकी प्रणालियोंसे निवृत्ति होनेको चारित्र कहते हैं। यह चारित्र सकल और विकलकी अपेक्षा दो प्रकारका है। पांच पापों के सर्वथा त्यागको सकलचारित्र कहते हैं। यह परिग्रहरहित मुनियोंके ही होता है और पांच पापोंके एकदेश त्यागको विकलचारित्र कहते हैं। यह परिग्रहसहित गृहस्थोंके

होता है। सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होती है। इनके बिना जो चारित्र है वह मिथ्याचारित्र है। चारित्रकी उत्पत्तिका क्रम और प्रयोजन बताते हुए समन्तभद्रस्वामीने कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

मोह—मिथ्यादर्शनरूपी अन्धकारके नष्ट हो चुकने पर सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको प्राप्त होता है।

चारित्रका प्रयोजन रागद्वेषकी निवृत्ति करना है। जिसने चारित्र धारण करके भी रागद्वेषको दूर नहीं किया परमार्थसे उसे चारित्र प्राप्त हुआ नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

विकलचारित्र

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभका अनुदय होनेसे जो पाँच पापोंका एकदेश त्याग होता है वह विकलचारित्र कहलाता है। मूलरूपमें इसके अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत इस प्रकार पाँच अणुव्रतोंकी रक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे सात शील होते हैं। इस तरह सब मिलाकर विकलचारित्रके बारह भेद होते हैं। उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत कहा है। परन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें समन्तभद्रस्वामीने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीनको गुणव्रत बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणव्रत तथा अतिथिसंविभाग इन चारको शिक्षाव्रत कहा है। परन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चारको शिक्षाव्रत बतलाया है। कुन्दकुन्दस्वामीने सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना इन चारको शिक्षाव्रत कहा है।[1]

विकलचारित्रको आचार्योंने दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग तथा उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओंमें विभक्त किया है। समन्तभद्रस्वामीने रत्नकरण्डश्रावकाचारके अन्तिम अधिकारमें इनका अच्छा दिग्दर्शन कराया है। ये प्रतिमाएँ अप्रत्याख्यानावरण कषायके अनुदय तथा प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयकी हीनाधिकतासे प्रकट होती हैं।

१. शिक्षाव्रतोंकी चार संख्यामें मतभेद नहीं है परन्तु उनके नामोंमें विभिन्न आचार्योंके विभिन्न मत हैं जो निम्नलिखित चार्टसे स्पष्ट है—

सकलचारित्र

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभका अनुदय होनेसे हिंसादि पाँच पापोंसे जो सर्वथा निवृत्ति होती है वह सकलचारित्र कहलाता है। इसकी रक्षा करनेके लिए ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन इस प्रकार पाँच समितियाँ होती हैं तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति इस प्रकार तीन गुप्तियाँ होती हैं। सब मिलाकर तेरह प्रकारका सकलचारित्र कहलाता है।

इस प्रवृत्तिरूप चारित्रके अतिरिक्त सम्यक्चारित्रके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद और होते हैं। इनमें यथाख्यातचारित्र सर्वश्रेष्ठ चारित्र है। उसके होनेपर आत्माकी वीतरागपरिणति प्रकट हो जाती है। इन सबके स्वरूप चरणानुयोगके ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

आचार्य या ग्रन्थ नाम	प्रथम शिक्षाव्रत	द्वि० शिक्षाव्रत	तृ० शिक्षाव्रत	च० शिक्षाव्रत
१. श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र नं० १	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथिपूजा	सल्लेखना
२. आचार्य कुन्दकुन्द	,,	,,	,,	,,
३. ,, कार्तिकेय स्वामी	,,	,,	,,	देशावकाशिक
४. ,, उमास्वामी	,,	,,	भोगोपभोग-परिमाण	अतिथिसंविभाग
५. ,, समन्तभद्र	देशावकाशिक	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य
६. ,, सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोग-परिमाणव्रत	दान
७. ,, देवसेन	,,	,,	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
८. ,, श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र नं० २	भोगपरिमाण	उपभोगपरिमाण	,,	,,
९. ,, वसुनन्दि	भोगविरति	उपभोग विरति	,,	,,

आचार्य जिनसेन, अमितगति तथा आशाधर आदिके शिक्षाव्रतोंमें उमास्वामीका अनुकरण किया गया है। (वसु० श्रा० की प्रस्तावनासे)

ग्रन्थकर्ता समन्तभद्राचार्य

व्यक्तित्व और कृतित्व—इसके रचयिता आचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामी हैं।[1] समन्तभद्रस्वामी दिगम्बराचार्योंमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र तथा तन्त्र आदि सभी विद्याओंमें निपुण होनेके साथ ही आप वाद-कलामें अत्यन्त पटु थे। काशीनरेशके समक्ष आपने जो अपना परिचय दिया था वह मात्र गर्वोक्ति नहीं, किन्तु तथ्योक्ति थी। परिचय देते हुए आपने कहा था—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया—
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

अर्थात् मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थियोंमें श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, कवि हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, हे राजन्! इस संपूर्ण पृथिवीमें मैं आज्ञासिद्ध हूँ, अधिक क्या कहूँ सिद्धसारस्वत हूँ।

भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें आपका स्मरण करते हुए कहा है—

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥ ४४॥

अर्थात् कवियों, गमकों, वादियों और प्रशस्त वक्ताओंके मस्तकपर समन्तभद्रका यश चूडामणिके समान आचारण करता है।

वादिराजसूरिने यशोधरचरित्रमें आपका स्मरण इस प्रकार किया है—

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः॥

अर्थात् जो काव्यरूपी मणियोंकी उत्पत्तिके लिये रोहणगिरि हैं तथा सदा उत्कृष्ट हैं ऐसे समन्तभद्र आदि कवि हमें सुभाषितरूपी रत्नसमूहके देनेवाले हों।

शुभचन्द्राचार्यने अपने ज्ञानार्णवमें आपके विषयमें कहा है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥ १४॥

---

१. देखो, स्व० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा संपादित 'समीचीन धर्मशास्त्र' प्रस्तावना पृष्ठ ६३८।

अर्थात् जहाँ समन्तभद्रादि कवीन्द्ररूप सूर्योंकी निर्दोष सूक्तिरूपी किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहाँ अल्पज्ञानसे अंहकारको प्राप्त हुए मनुष्य जुगनूके समान क्या हास्यको ही प्राप्त नहीं होते ?

वर्धमानसूरिने वराङ्गचरित्रमें आपका स्मरण करते हुए लिखा है—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥ ७ ॥

अर्थात् जो कुवादियोंकी विद्यापर विजय प्राप्त करनेसे यशस्वी हुए थे और जो न्यायशास्त्ररूप श्रेष्ठ अमृतके सागर थे, ऐसे समन्तभद्रादि महाकवीन्द्र कवित्वकी इच्छा करनेवाले मुझपर प्रसन्न हों ।

गद्यचिन्तामणिमें भी वादीभसिंहने लिखा है—

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपसिद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

अर्थात् जो सरस्वतीकी क्रीडाभूमि थे और जिन्होंने वचनरूप वज्रोंके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी कोटियोंको खण्ड-खण्ड कर दिया था, ऐसे समन्तभद्र आदि मुनीश्वर जयवन्त हैं ।

हस्तिमल्लने अपने विक्रान्तकौरवमें लिखा है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम् ॥

अर्थात् वादी समन्तभद्रके रहते हुए जब स्पष्ट एवं चतुराईके साथ बहुत बोलने वाले धूर्जटि—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान्‌की भी जिह्वा शीघ्र ही अपने बिलमें घुस जाती है तब दूसरोंकी तो कथा ही क्या है ।

इसी प्रकार वादिराजसूरिने अपने न्यायविनिश्चयालंकारमें आपका स्मरण करते हुए कहा है—

विस्तीर्णदुर्णयमयप्रबलान्धकारदुर्बोधतत्त्वमिह वस्तुहितावबद्धम् ।
व्यक्तीकृतं भवतु नस्सुचिरं समन्तात् सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपैः ॥

अर्थात् सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका तत्त्व—वास्तविक स्वरूप दुर्बोध हो रहा है ऐसी हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवाजीवादि तत्त्वसमूह श्री समन्तभद्रस्वामीके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपोंके द्वारा हमारे लिये चिर काल सब ओरसे प्रकट रहे ।

चन्द्रप्रभचरित्रमें उसके रचयिता वीरनन्दी आचार्यने आपका स्मरण करते हुए कहा है—

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

अर्थात् गुण-सूत्रसे सहित, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त एवं नरोत्तम-धनिकजनोंके कण्ठका आभूषण बनी हुई हारयष्टि—मोतियोंकी माला ही दुर्लभ नहीं है किंतु गुण—श्लेष, प्रसाद आदि गुणोंसे सहित, निर्दोष—श्रेष्ठ छन्दोंसे युक्त तथा नरोत्तम—श्रेष्ठ विद्वज्जनोंके द्वारा कण्ठका आभूषण बनाई हुई—कण्ठस्थकी हुई समन्तभद्रादि ऋषियोंसे उत्पन्न भारतीवाणी भी दुर्लभ है ।

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०८ में समन्तभद्रका निम्न प्रकार उल्लेख है—

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥

अर्थात् तदनन्तर जिनशासनके प्रणेता, भद्रमूर्ति वे समन्तभद्र हुए जिनके वचन-रूपी वज्रके कठोर पातने प्रतिवादीरूप पर्वतोंको चूर-चूर कर डाला था ।

श्रवणबेलगोलके ही शिलालेख नं० १०५में आपका इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्वादीभवज्राङ्कुशसूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वन्ध्यास दुर्वादुकवार्तयापि ।

अर्थात् जिनकी सूक्तियोंका समूह वादीरूपी हाथियोंको वश करनेके लिये वज्रा-ङ्कुश था और जिनके प्रभावसे यह समस्त पृथ्वी दुर्वादुकों—मिथ्यावादियोंकी वार्तासे भी विहीन हो गई थी वे समन्तभद्र चिरकाल तक जयवन्त रहें ।

तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५में भी आपका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

अर्थात् वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके द्वारा संस्तुत्य नहीं हैं जिन्होंने वाराणसी-के राजाके आगे शत्रुओं—जिनशासनसे द्वेष रखनेवाले प्रतिवादियोंको पराजित किया था ।

इन सब उल्लेखोंसे भी समन्तभद्रस्वामीके व्यक्तित्व और कृतित्वका सहज ही पता चल जाता है । आपने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण—सर्वत्र विहार कर जिनधर्मकी महिमा स्थापित की थी । करहाटकनगरमें पहुँचनेपर वहाँके राजाके द्वारा पूछे जानेपर आपने अपना पिछला परिचय इस प्रकार दिया था—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

अर्थात् राजन्! सबसे पहले मैंने पाटलीपुत्र नगरमें शास्त्रार्थके लिये भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु, ढक्क, कांची, विदिशा आदि स्थानोंमें जाकर भेरी ताडित की। अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानोंसे परिपूर्ण इस करहाटक नगरमें आया हूँ। मैं तो शास्त्रार्थकी इच्छा रखता हुआ सिंहके समान घूमता फिरता हूँ।

समन्तभद्रस्वामीके द्वारा विरचित निम्नलिखित ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं—

१. स्वयंभूस्तोत्र, २. आप्तमीमांसा (देवागम) ३. युक्त्यनुशासन, ४. स्तुतिविद्या (जिनशतक) और ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार।

सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। १. आप्तमीमांसा, २. युक्त्यनुशासन और ३. स्वयंभूस्तोत्र स्तुतिग्रन्थ होते हुए भी दार्शनिक तत्त्वोंसे समाविष्ट हैं। स्तुतिविद्या—जिनशतक शब्दालंकारप्रधान रचना है। इसमें चित्रालंकारके द्वारा ऋषभादि चौबीस तीर्थकरोंकी स्तुति की गई हैं। प्रस्तुत रत्नकरण्डश्रावकाचार धर्मशास्त्रविषयक सरल रचना हैं।

इन उपलब्ध ग्रंथोंके अतिरिक्त आपके द्वारा रचित निम्नांकित ग्रन्थोंके उल्लेख और मिलते हैं—१. जीवसिद्धि २. तत्त्वानुशासन ३. प्राकृतव्याकरण, ४. प्रमाणपदार्थ, ४. कर्मप्राभृतटीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य।

आप बहुत ही परीक्षाप्रधानी थे। जब तक युक्तिके द्वारा किसी बातका निर्णय नहीं कर लेते थे तब तक आपको संतोष नही होता था। जैसा आप्तमीमांसाके 'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः'—आदि विवेचनसे विदित है। इसीलिये युक्त्यनुशासनकी टीकामें विद्यानन्दस्वामीने उन्हें परीक्षेक्षण—परीक्षारूपी नेत्रसे सबको देखने वाला लिखा है।

जन्मस्थान, पितृकुल, गुरुकुल

संसारकी माया-ममतासे निर्लिप्त रहनेवाले जैनाचार्योंमें अधिकांशके माता-पिता तथा जन्मस्थान आदिका कुछ भी प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। समन्तभद्रस्वामी भी इसके अपवाद नहीं है अर्थात् उनके भी माता-पिताका नाम तथा जन्म स्थान

का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु श्रवणबेलगोलाके विद्वान् श्री दोर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभाण्डारमें सुरक्षित आप्तमीमांसाकी एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतिके निम्नांकित पुष्पिकावाक्य[1]—'इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री-स्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्' से स्पष्ट है कि समन्तभद्र, फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुरके राजाके पुत्र थे। यह उरगपुर वर्तमानका 'उरैयूर' जान पड़ता है। उरगपुर, चोल राजाओंकी प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी रही है। पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था। और किसी समय अच्छा समृद्धिशाली नगर था। 'राजावली कथे' में समन्तभद्रस्वामीका जन्म 'उत्पलिका' ग्राममें हुआ लिखा है। हो सकता है कि यह 'उत्पलिका' उरगपुरका ही नामान्तर हो अथवा उसीके अन्तर्गत कोई स्थान हो। इस तरह जन्मस्थानका कुछ उल्लेख मिलता है। 'पिता राजा थे' यह भी उपर्युक्त पुष्पिकावाक्यसे सूचित है। परन्तु पिताका क्या नाम था, इसका पता नहीं चलता।

समन्तभद्रस्वामीके द्वारा विरचित स्तुतिविद्याका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामका जो अन्तिम पद्य है वह छह आरे और नव वलय वाले चक्राकार चित्रमें लिखा जाता है। उससे 'शान्तिवर्मकृतं', 'जिनस्तुतिशतं' ये दो पद निकलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह जिनस्तुतिशत—जिनशतक ग्रंथ, जिसे स्तुतिविद्या भी कहते हैं 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ है। इस तरह समन्तभद्रका प्रारम्भिक नाम'शान्तिवर्मा' मालूम होता है। इस नामसे आपके क्षत्रियवंशमें उत्पन्न होनेका पता चलता है क्योंकि वर्मा नाम राजघरानोंका है। कदम्ब, गङ्ग और पल्लव आदि वंशोंमें अनेक राजाओंका वर्मान्त नाम मिलता है। कदम्बोंमें तो एक राजा 'शान्तिवर्मा' इसी नामका हुआ है। यहाँ यह आशंका करना निर्मूल है कि 'जिनशतक' किसी दूसरे 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ होगा, क्योंकि उसका सब प्रतियोंमें कर्त्ताके रूपमें स्वामी समन्तभद्रका ही नाम मिलता है। जिनशतकके संस्कृतटीकाकार नरसिंह कविने भी उसे 'तार्किकचूडामणि श्रीमत्समन्तभद्रविरचित' ही सूचित किया है। अलंकारचिन्तामणिमें उसके कर्ता अजितसेनने जिनशतकके अनेक श्लोक समन्तभद्रके नामसे ही उल्लिखित किये हैं। इस तरह हम इस निर्णयपर पहुँचते है कि आपका प्रारम्भिक नाम शान्तिवर्मा था और दीक्षा लेनेके बाद आप 'समन्तभद्र' नामसे प्रसिद्ध हुए।

---

१. देखो, श्री जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास-ग्रन्थ तथा उन्हींका लेख—जैन हितैषी भाग ११, अंक ७-८, पृष्ठ ४८०।

आपने गृहस्थावस्थामें प्रवेश किया या नहीं इसका कोई स्पष्ट सूत्र नहीं मिलता, फिर भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमें प्रतिपादित ब्रह्मचर्यप्रतिमाके स्वरूपपरसे जान पड़ता है कि आप गृहस्थीके दलदलसे दूर रहे होंगे और छोटी अवस्थामें ही आपने दीक्षा धारणकर मुनिपद अंगीकृत कर लिया होगा। आपका दीक्षास्थान 'कांची,' जिसे आज 'कांजीवरम्' भी कहते हैं, जान पड़ता है। 'काञ्च्यां नाग्नाटकोऽहं'—आपके इस वाक्यसे भी यह ध्वनित होता है। 'राजावलीकथेके उल्लेखानुसार आप काञ्ची कितनी ही बार गये हैं।

पितृकुलकी तरह आपके गुरुकुलका भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यही मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरु कौन थे? शिक्षागुरु कौन थे? स्वयं इनके ग्रंथोंमें कोई प्रशस्तियाँ नहीं हैं और न किसी अन्यने इनके गुरुका उल्लेख किया है। जिस प्रकार पहले प्रतिमाओंपर लेखकी पद्धति नहीं थी, उसी प्रकार ग्रन्थान्तमें प्रशस्ति देनेकी भी पद्धति नहीं थी। ऐसा करना लोकैषणाका कारण समझा जाता था। स्वामीसमन्तभद्र किस संघके थे और इनकी शिष्यपरम्परा क्या थी, इसका उल्लेख १४ वीं शतीके विद्वान् हस्तिमल्लने अपने विक्रान्तकौरवकी प्रशस्तिमें इस प्रकार किया है—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत्।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः॥ १॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः॥ २॥
अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम्॥ ३॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ॥ ४॥

अर्थात् जो मूलसंघरूप आकाशके चन्द्रमा थे, भारतवर्षमें भावी तीर्थंकर होने वाले हैं तथा चारणऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, ऐसे समन्तभद्रनामक मुनि जयवन्त रहें। वे समन्तभद्रस्वामी तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर गन्धहस्तिनामक व्याख्यान—भाष्यके रचयिता थे तथा देवागम स्तोत्र—आप्तमीमांसाका निर्देश करने वाले थे। वादी समन्तभद्रके रहते हुए स्फुट एवं चतुर वक्ता धूर्जटिकी भी जिह्वा शीघ्र ही गलगर्तके निकट पहुँच जाती थी तब दूसरोंकी तो कथा ही क्या है? उन समन्तभद्रके शिवकोटि

और शिवायन नामके दो शिष्य थे, जो शास्त्रज्ञ मनुष्योंमें श्रेष्ठ थे और श्रीगुरुके पाद मूलमें समस्त शास्त्रोंका अध्ययनकर कृतकृत्य हुए थे।[१]

इसके सिवाय श्रवणबेलगोलके शिलालेख? नं० ४० (६४) से यह भी पता चलता है कि आप भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, उनके वंशज पद्मनन्दी अपर नाम कोण्डकुन्द, उनके वंशज उमास्वामि अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य और उनके शिष्य बलाकपिच्छ''''इस प्रकार महान् आचार्योंकी परम्परामें हुए हैं। आपका वर्णन करते हुए उसी शिलालेखमें लिखा है—स्यात्कार मुद्रासे अंकित तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिए दीपकस्वरूप वे समन्तभद्र हुए जो गुणोंसे गणेश—गणके स्वामी थे, सब ओरसे भद्र—कल्याणमय थे तथा वादिसिंह—वादियोंमें श्रेष्ठ थे। इस शिलालेखसे इनकी आचार्यपरम्पराका बोध तो हुआ, पर इसका निर्णय नहीं हो सका कि ये बलाकपिच्छके बाद होनेवाले किस मुनिके साक्षात् शिष्य थे। अस्तु, हीरा अपनी प्रभासे ही महत्त्वशाली होता है न कि खानके समुल्लेखसे।

मुनिजीवन और आपत्काल

'दुष्कर्मका उदय किसीको नहीं छोड़ता' यह एक नीति है। इस नीतिको सफल करनेके लिये ही मानो समन्तभद्र स्वामीको तपस्याकालमें भस्मकव्याधि हो गई। जितना खावें सब भस्म होता जावे, क्षुधानिवृत्ति ही नहीं। मुनिजीवनमें दिनमें एक

---

१. श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥
चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम्॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
चारित्रचुञ्चुरखिलावनिपालमौलि—
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्राङ्किततत्त्वदीपः।
भद्रः समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः॥

शि० ले० ४० (६४)

वार प्राप्त रूखे-सूखे भोजनपर ही संतोष धारण करना पड़ता है। अतः मुनिमुद्रामें उस व्याधिका प्रतीकार न देख आपने अपने गुरुसे सल्लेखना करानेकी प्रार्थना की। परन्तु गुरु दीर्घदर्शी थे, वे बुद्धिमान् समन्तभद्रके द्वारा जैनधर्मकी महती प्रभावनाकी आशा रखते थे, अतः उन्होंने सल्लेखनामरणकी आज्ञा नहीं दी। फलतः समन्तभद्रने निर्ग्रन्थ मुद्रा छोड़कर अन्य साधुका वेष रख लिया। मनमें पश्चात्ताप बहुत था, परन्तु व्याधिकी प्रबलताके कारण विवशता भी थी। अब वे स्वेच्छापूर्वक आहार करते हुए विहार करने लगे। इस अपवादमार्गको स्वीकृतकर उन्होंने अपने देशमें रहना पसन्द नहीं किया, इसलिए वे भ्रमण करते हुए उत्तर भारतकी ओर चल पड़े। भ्रमण करते हुए वे काशी आये। वहाँ शिवमन्दिरमें शिवभोगकी विशाल अन्नराशिको देखकर उन्होंने विचार किया कि यदि यह राशि मुझे प्राप्त हो जाय तो इससे मेरी व्याधि शान्त हो सकती है। विचार आते ही वे अपनी चतुराईसे शिवमन्दिरमें रहने लगे। चतुराई यही थी कि उन्होंने वायदा किया कि मैं यह सब अन्नराशि शिवजीकी पिण्डीको खिला दूंगा। 'पाषाण निर्मित शिवजीकी पिण्डी साक्षात् भोग ग्रहण करे' इससे बढ़कर और क्या चाहिये ? मन्दिरके व्यवस्थापकोंने इन्हें मन्दिरमें रहनेकी आज्ञा दे दी। मन्दिरके किवाड़ बन्द कराकर वह उस विशाल अन्नराशिको स्वयं खाने लगे और किवाड़ खोलकर लोगोंको बता दिया करें कि शिवजीने भोग ग्रहणकर लिया।

शिवभोगके उपभोगसे धीरे-धीरे उनकी व्याधि शान्त हो गई। अन्तमें गुप्तचरोंके द्वारा काशीनरेशको जब इस बातका पता चला कि यह न शिवभक्त है और न शिवजी को भोग अर्पित करते हैं किन्तु स्वयं खा जाते हैं तब वह आगबबूला होता हुआ समन्तभद्रके सामने आया और उनसे उनकी यथार्थता पूछने लगा। समन्तभद्रने निम्न श्लोकमें अपना परिचय दिया—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुसे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरङ्गस्तपस्वी
राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननैर्ग्रन्थवादी ॥

काञ्चीमें मलिन वेषधारी दिगम्बर रहा, लाम्बुस नगरमें भस्म रमाकर शरीरको श्वेत किया, पुण्ड्रोण्डमें जाकर बौद्धभिक्षु बना, दशपुर नगरमें मिष्ट भोजन करनेवाला संन्यासी बना, वाराणसीमें श्वेत वस्त्रधारी तपस्वी बना। राजन् ! आपके सामने यह दिगम्बर जैनवादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो, मुझसे शास्त्रार्थ कर ले।

राजाने शिवमूर्तिको नमस्कार करनेका आग्रह किया, परन्तु उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया

कि यह मूर्ति मेरे नमस्कारको सह न सकेगी। समन्तभद्रके इस उत्तरसे राजाका कौतूहल और नमस्कार करनेका आग्रह—दोनों ही बढ़ गये। समन्तभद्र आशु कवि तो थे ही, उन्होंने वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन शुरू किया। जब वे आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभका स्तवन कर रहे थे तब सहसा शिवमूर्ति फट गई और उसमेंसे चन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्ति निकल पड़ी। स्तवन पूर्ण हुआ। यही स्तवन आज 'स्वयंभूस्तोत्र'के नामसे प्रसिद्ध है। इस घटनासे काशीनरेश समन्तभद्रको असाधारण योगी समझकर उनसे बहुत प्रभावित हुए और वे जिनधर्मके अनुयायी और उनके शिष्य हो गये। नरेशके साथ अन्य अनेक लोगोंने भी जैनधर्म धारण किया।

समन्तभद्र मात्र संयमसे भ्रष्ट हुए थे, सम्यग्दर्शनसे नहीं, इसलिये भस्मक व्याधिके शान्त होते ही उन्होंने फिरसे निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। निर्ग्रन्थ मुद्रा धारणकर उन्होंने सर्वत्र विहार किया था।[1]

समन्तभद्रका भावी तीर्थंकरत्व

समन्तभद्र इसी भारतवर्षमें भावी तीर्थंकर होनेवाले हैं तथा उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त थी, ऐसे कितने ही उल्लेख मिलते हैं। उनके कुछ अवतरण यहाँ संकलित किये जाते हैं—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत्।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः॥

विक्रान्तकौरव-प्रशस्ति

---

१. यह कथा, ब्रह्मनेमिदत्तकृत कथाकोषके आधारपर अवलम्बित है। 'राजावलिकथे'के आधारपर समन्तभद्रको मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधि उत्पन्न हुई। प्रतीकार न देख समन्तभद्रने गुरुसे सल्लेखना करानेकी प्रार्थना की। परन्तु जब गुरुने स्वीकृति नहीं दी तब मुनिवेष छोड़कर उन्होंने दूसरे साधुका वेष रख लिया। उस समय उधर 'भीमलिङ्ग' नामक शिवालय था। उसमें प्रतिदिन १२ खंडक परिमाण तण्डुलान्न—चावलका नैवेद्य चढ़ाया जाता था। राजा शिवकोटिको आशीर्वाद देकर समन्तभद्र उस शिवालयमें रहने लगे। धीरे-धीरे रोग शान्त होने लगा, जिससे तण्डुलान्न अधिक बचने लगा। उपसर्गका अनुभव होते ही उन्होंने उपसर्गकी निवृत्ति पर्यन्त आहार-पानीका त्याग कर दिया और चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुतिमें लीन हो गये। महावीरस्वामीकी स्तुति पूर्ण होते-होते राजा शिवकोटि उनके चरणोंमें आ पड़ा। उसे आशीर्वाद देकर उन्होंने जैनधर्मका स्वरूप समझाया। राजाका भाई शिवायन भी समन्तभद्रका शिष्य हो गया। 'राजावलिकथे'के अनुसार उनकी भस्मक व्याधि पाँच दिनमें शान्त हो गई। तथा शिवलिङ्गके फटने और चन्द्रप्रभकी प्रतिमाके प्रकट होनेकी कोई घटना नहीं हुई।

श्रीमूलसंघव्योम्नीन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥
जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यत्तीर्थंकरपरमदेवेन 'काले कल्पशतेऽपि च'—

श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम् ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी ॥
ब्रह्मनेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोप

अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्किचउक्कं च एय बलभद्दो ।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण ॥

इन उल्लेखोंमें 'अट्ठ हरी णव पडिहरि'—इस गाथाका अभी तक पता नहीं चला कि मूलतः यह कहाँ की है। शेप उल्लेख चौदहवीं शतीके पूर्वके नहीं हैं। जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदयका उल्लेख विक्रान्तकौरवके उल्लेखसे अनुप्राणित है। ब्रह्मनेमिदत्त और श्रुतसागरसूरिके उल्लेख स्पष्ट ही सोलहवीं शतीके हैं। अतः 'समन्तभद्र भावितीर्थंकर हैं, यह कथन कहाँसे चला, यह ज्ञात नहीं हो सका। त्रिलोयपण्णत्तीमें जहाँ भावी तीर्थंकरोंका उल्लेख है वहाँ समन्तभद्रकी कोई चर्चा नहीं है। फिर समन्तभद्र यदि आगामी भवमें तीर्थंकर होनेवाले हैं तो उन्होंने तीर्थंकरप्रकृतिका वन्ध कब किया, यह विचारणीय है। गोम्मटसार कर्मकाण्डके उल्लेखानुसार तीर्थंकरप्रकृतिके वन्धका प्रारम्भ प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें अथवा शेप तीन द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनोंमें अविरतसम्यग्दृष्टिसे लेकर चार गुणस्थानवर्ती मनुष्य, केवली या श्रुतकेवलीके निकट करते हैं। जैसा कि कहा है—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि ।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥

समन्तभद्र स्वामीके समय केवली या श्रुतकेवलीका सन्निधान कहाँ था? जिस प्रकार श्रेणिकका चौरासी हजार वर्षका अन्तरकाल रत्नप्रभा पृथिवीमें व्यतीत हो रहा है उस तरह समन्तभद्रका कितना अन्तरकाल कहाँ बीत रहा है, इसकी कोई चर्चा नहीं है। अतः इस विषयका प्रवल आधार खोजा जाना चाहिये।

समन्तभद्रका समय

जैन साहित्य और इतिहासवेत्ता श्री स्व० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी

समन्तभद्र' नामक महानिबन्धमें अनेक विद्वानोंकी मान्यताओंकी बारीकीसे समीक्षा करके यह विचार प्रकट किया है कि समन्तभद्र, उमास्वातिके बाद और पूज्यपाद स्वामीके पहले विक्रमकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमें हुए हैं। पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र-व्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' ५/४/१४० सूत्रके द्वारा समन्तभद्रका उल्लेख किया है, अतः वे पूज्यपादसे निश्चित ही पूर्ववर्ती हैं और मल्लिषेण-प्रशस्तिके उल्लेखानुसार, जिसमें कहा गया है कि—'कोण्डकुन्दके वंशज उमास्वाति, अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ····इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंश-परम्परामें समन्तभद्र हुए हैं,' उमास्वाति तथा उनके शिष्य बलाकपिच्छसे परवर्ती हैं।

संस्कृत-टीका और उसके रचयिता प्रभाचन्द्र

इसपर एक संस्कृत टीका उपलब्ध है जो इस संस्करणमें प्रकाशित है। यह टीका यद्यपि साधारण है फिर भी केवलिभुक्ति जैसे विषयोंपर इसमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इस टीकामें सात परिच्छेद हैं जब कि मूल ग्रन्थमें पांच ही हैं। गुणव्रताधिकारको अणुव्रताधिकारमें और प्रतिमाधिकारको सल्लेखनाधिकारमें शामिल कर दिया है। ऐसा क्यों किया गया, यह विचारणीय है।

प्रतिपादित तत्त्वका समर्थन करनेके लिये उदाहरणके रूपमें किसीका उल्लेख करना, इस पद्धतिको कुन्दकुन्दस्वामीने स्वीकृत किया है। भावपाहुडमें उन्होंने साधु पिङ्ग-मुनि, वसिष्ठमुनि, बाहुमुनि, द्वीपायनमुनि, शिवकुमार, जम्बूकुमार तथा शिवभूतिमुनि के उदाहरण दिये हैं। आराधनासारमें भी उसके कर्ता देवसेनने उपसर्गादिको सहनेवाले पुरुषोंका नामोल्लेख किया है। तथा उनके टीकाकारोंने सरल गद्यमें उन सबकी कथाएँ दी हैं। समन्तभद्रस्वामीने भी रत्नकरण्डश्रावकाचारके विभिन्न प्रकरणोंमें २३ व्यक्तियोंके उदाहरण दिये हैं। और टीकाकारने अपनी टीकामें उनकी कथाएँ दी हैं।

इस संस्कृत-टीकाके रचयिता प्रभाचन्द्र हैं। पर ये प्रभाचन्द्र कौनसे हैं, इसका विचार करते हुए श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें २० प्रभाचन्द्रोंका परिचय दिया है। साथमें तुलनात्मक[1] उद्धरण देकर यह सिद्ध

---

१. समधितंत्र और रत्नकरण्ड-टीकाओंके मंगलाचरणपद्योंकी तुलना है—

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥ १ ॥

समाधितंत्र-टीका

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

रत्न० टीका

किया है कि समाधितन्त्रके टीकाकार और रत्नकरण्डश्रावकाचारके टीकाकार एक ही प्रभाचन्द्र हैं। दोनोंकी भाषा और व्याख्यानशैली एक-जैसी है। स्वयंभूस्तोत्र, क्रियाकलाप, दशभक्तियाँ आदिपर भी इन्हीं प्रभाचन्द्रकी संस्कृतटीकाएँ हैं।

यह टीका इन्होंने धारामें किसी अन्य आचार्यके अधीन रहते हुए जयसिंह द्वितीयके

दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह—

समाधि० टीका

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

रत्न० टीका

समाधिशतककी टीकामें उसके प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्।

रत्नकरण्डककी टीकामें प्रथम पद्यका सारांश इस प्रकार दिया है—

अत्र पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता।

दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक-जैसी है—

परमे इन्द्रादिवन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशीलः।

समाधि० टीका

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

रत्न० टीका

दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः।

समाधि० टीका

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
सः श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः॥

रत्न० टीका

राज्यमें बनाई है। पं० आशाधरजीने १३०० वि०सं०में बनी हुई अनगारधर्मामृतकी टीकामें इस टीकाका[1] उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि इसकी रचना वि० सं० १३००से पूर्व हो चुकी थी। गुर्वावलीमें यह भी सूचित किया गया है कि पूज्यपाद के शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे आपकी कीर्ति लोकमें विख्यात हुई थी। यथा—

पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र-
व्याख्याविख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचुञ्चुः।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः॥

पूज्यपादके समाधिशतकपर आपकी टीका उपलब्ध है ही। पं० आशाधरने अनगार-धर्मामृतमें इनकी टीकाका उल्लेख करते हुए इनके प्रति 'यथाहुस्तत्रभगवन्तः श्रीमत्प्र-भेन्दुदेवपादा' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है, उनसे इनके व्यक्तित्वकी गरिमा सूचित होती है।

श्रावकधर्मका वर्णन करनेवाले कुछ आचार्य और उनके ग्रन्थ

आचार्य कुन्दकुन्द

१. दिगम्बरपरम्पराके उपलब्ध ग्रन्थोंमें हम सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामीके चारित्र-पाहुड़में गाथा २० से लेकर २५ तक ६ गाथाओंमें श्रावकधर्मका वर्णन पाते हैं। उन छह गाथाओंमें उन्होंने संयमाचरणके निरागार और सागारकी अपेक्षा दो भेद किये हैं। तदनन्तर सागारसंयमाचरण सग्रन्थके और निरागारसंयमाचरण परिग्रहरहित-मुनिके होता है, यह सूचना दी है। फिर दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमाओंके नामोल्लेखकर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे सागारसंयमाचरणके बारह भेद किये हैं। पश्चात् पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके नाममात्र दिये हैं। अहिंसाणुव्रत आदि पांच अणुव्रत हैं, दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत ये तीन गुणव्रत हैं तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

स्वामी कार्तिकेय

२. आचार्यकुन्दकुन्दके पश्चात् स्वामीकार्तिकेयने कार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मभावनाके

१. रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितयं' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्य' इत्यस्य व्याख्याने देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः, इति—अनगार० अ० ८, प० ९३ की टीका-का अन्तिम भाग।

अन्तर्गत श्रावकधर्मका विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने श्रावकधर्मके निम्नलिखित १२ भेद बताये हैं—

१. सम्यग्दर्शनयुक्त, २. मद्यादिस्थूलदोषरहित, ३. व्रतधारी, ४. सामयिक, ५. पर्वव्रती, ६. प्रासुकाहारी, ७. रात्रिभोजनविरत, ८. मैथुनत्यागी, ९. आरम्भत्यागी, १० संगत्यागी, ११. कार्यानुमोदविरत और १२. उदिष्टाहारविरत। उनका यह वर्णन ८५ गाथाओंमें हुआ है। वर्णनशैली हृदयस्पर्शी है।

आचार्य उमास्वामी

३. स्वामिकार्तिकेयके पश्चात् श्रावकधर्मका वर्णन उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रके सप्तमाध्यायमें आता है। उमास्वामीने सर्वप्रथम व्रतका लक्षण लिखकर उसको देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे अणुव्रत और महाव्रत नाम रखे हैं। अहिंसादि पांचों व्रतोंकी रक्षाके लिये अलग-अलग व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। फिर पांच-पापोंके लक्षण लिखकर उनके त्यागरूप पांच अणुव्रतोंकी चर्चा की है। दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, इन तीन गुणव्रतों तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, और अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतोंके धारण करनेकी आवश्यकता बतलाकर सल्लेखनाका पृथक्से वर्णन किया है। और सम्यग्दर्शन, पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, चार शिक्षाव्रतों तथा सल्लेखना इसप्रकार चौदहके पाँच-पांच अतिचार बताये हैं। व्रतोंकी भावनाओं और अतिचारोंका वर्णन सर्वप्रथम यहीं देखनेमें आता है।

स्वामी समन्तभद्र

४. तत्त्वार्थसूत्रके बाद श्रावकधर्मका स्वतन्त्र वर्णन स्वामीसमन्तभद्राचार्यके इस रत्नकरण्डश्रावकाचारमें मिलता है। जैसा कि ग्रंथ-निरूपणसे प्रकट है।

आचार्य जिनसेन (प्रथम)

५. आचार्यजिनसेनने महापुराणके ३८,३९,४०वें पर्वमें श्रावकधर्मका विस्तारसे वर्णन किया है। उन्होंने पक्ष, चर्या और साधनरूपसे श्रावकधर्मके तीन भेद किये हैं। इस त्रिविध धर्मको धारणकरनेवाले श्रावक क्रमसे पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक कहे गये हैं। श्रावकधर्मका यह विभाग अधिक आकर्षक हुआ, इसलिये प्रायः परवर्ती सभी श्रावकाचारोंमें स्वीकृत किया गया है। इन्होंने गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंके नाम आदिमें परिवर्त्तन नहीं किया है सिर्फ मूलगुणोंमें मधुके स्थानपर द्यूतव्यसनका समावेश किया है। समन्तभद्रने पूजाका समावेश वैयावृत्य-शिक्षाव्रतमें किया था। परन्तु इन्होंने इसका अलगसे वर्णन किया है तथा उसके नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह और महामह आदि भेदोंका वर्णन किया है।

आचार्य जिनसेन (द्वितीय)

६. पुन्नाटसंघीय जिनसेनने हरिवंशपुराणके अंठानवें पर्वमें भगवान् नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके अन्तर्गत शुभास्रव तत्त्वका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका विस्तृत वर्णन किया है। आपका यह वर्णन तत्त्वार्थसूत्रका अनुगामी है। अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंके नाम तथा अतिचारों आदिका वर्णन सब तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार है।

आचार्य सोमदेव

७. आचार्य सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूके अन्तिम तीन उच्छ्वासोंका नाम उपासकाध्ययन रखा है। उसके छठवें उच्छ्वासमें अष्टाङ्ग-सम्यग्दर्शनका विस्तृत निरूपण है। आठ अंगोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंकी कथाएँ भी दी हैं। सातवें और आठवें उच्छ्वासमें श्रावकके बारह व्रतोंका विस्तारसे वर्णन है। आपने आठ मूलगुणोंमें समन्तभद्रसम्मत पांच-अणुव्रतोंको छोड़कर पञ्चउदुम्बरफलोंके त्यागको सम्मिलित किया है। आपने जिन-पूजाका समावेश सामायिक-शिक्षाव्रतमें किया है। इनकी तत्त्वनिरूपण करनेकी शैली निराली है। पूजाकी विधि आदिका अच्छा वर्णन इस उपासकाध्ययनमें हुआ है।

आचार्य देवसेन

८. आचार्य देवसेनने भावसंग्रहमें पञ्चम गुणस्थानका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका विस्तृत वर्णन किया है। इन्होंने आठ मूलगुण आचार्य सोमदेवके समान ही माने हैं। पर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंके नाम कुन्दकुन्दके समान हैं। यद्यपि पंचमगुणस्थानका वर्णन २५० गाथाओंमें किया है परन्तु अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंका सिर्फ एक-एक गाथामें नामोल्लेख किया है। प्रतिमाओं तथा अतिचारोंकी इसमें चर्चा भी नहीं है।

आचार्य अमितगति

९. आचार्य अमितगति संस्कृतभाषाके प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपके द्वारा रचित श्रावकाचार, 'अमितगति-श्रावकाचार' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १४ परिच्छेदोंके द्वारा सम्यग्दर्शनसे लेकर श्रावकाचारकी समस्त-क्रियाओंका विशद् वर्णन किया गया है। इसकी भाषा बहुत ही कठिन है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंमें उमास्वामीका अनुकरण किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र

१०. समयसारादि ग्रंथोंके टीकाकार अमृतचन्द्रस्वामीका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अनुपम ग्रन्थ है। इसमें निश्चय और व्यवहारनयका समन्वय करते हुए रत्नत्रयका हृदयहारी वर्णन किया गया है। पहलेके दो अधिकारोंमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर तृतीयादि अधिकारोंमें श्रावकाचारका वर्णन किया गया है। अहिंसाधर्मका वर्णन तो समस्त जैन-ग्रंथोंमें अपनी शानी नहीं रखता। प्रत्येक व्रतके फलितार्थमें आपने

अहिंसाका ही समर्थन किया है। वारह व्रतोंके नाम और लक्षण तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार हैं। अतिचारोंका वर्णन भी उसीके अनुरूप है। अन्तिम अधिकारमें मुनिधर्मका भी संक्षेपसे वर्णन किया है।

आचार्य वसुनन्दि

११. आचार्य वसुनन्दिने अपने 'वसुनन्दिश्रावकाचार' में ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावकधर्मका विस्तृत वर्णन किया है। श्रावकधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जिन-पूजा, तथा जिनबिम्बप्रतिष्ठा आदि क्रियाओंका भी इसमें समावेश किया गया है। यहाँ गुणव्रत तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार माने गये हैं। परन्तु शिक्षाव्रतोंमें परिवर्तन किया गया है। इनके द्वारा स्वीकृत चार शिक्षाव्रत ये हैं—१. भोगविरति, २. उपभोगविरति, ३ अतिथि-संविभाग और ४. सल्लेखना। आपने सामायिक और प्रोषधको शिक्षाव्रतोंसे अलग इस अभिप्रायसे कर दिया है कि इनका सामायिक और प्रोषध प्रतिमामें समावेश हो जाता है। अन्यथा द्वितीय प्रतिमाके अन्तर्गत शिक्षाव्रतोंमें स्वीकृत करनेपर सामायिक और प्रोषध प्रतिमाओंमें पुनरुक्ति आती है। सामायिक प्रतिमाका अर्थ भी आपने त्रिकालवन्दना स्वीकृत किया है। दानका प्रकरण भी इसमें अच्छा दिया है।

पंडितप्रवर आशाधर

१२. पण्डितप्रवर आशाधरजीका 'सागारधर्मामृत' श्रावकाचारका पूर्ण प्रतिपादन करनेवाला ग्रंथ माना जाता है। आपने जिनसेनाचार्यके महापुराणके अनुसार पक्ष, चर्या और साधन इन तीन वृत्तियोंको स्वीकृतकर पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक श्रावकका विस्तृत वर्णन किया है। आठ अध्यायोंमें ग्रंथ पूरा हुआ है। श्रावकके वारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं, तथा सल्लेखनाका अच्छा वर्णन किया है। मूलगुणों, सातव्यसनोंके लक्षण लिखकर मद्यत्याग आदिके अतिचारोंका वर्णन किया है जोकि अन्यत्र अनुपलब्ध है। इस ग्रंथपर आपकी स्वोपज्ञ टीका है, अतः ग्रंथका अभिप्राय सुरक्षित रहा है।

पण्डित राजमल्ल

१३. पण्डित राजमल्लकी 'लाटीसंहिता' में भी श्रावकाचारका अच्छा वर्णन है। ग्रंथ पीछेका है तो भी उसकी विचारसरणि अपनी निराली है। यह सात सर्गोमें पूर्ण हुआ है। इसके सम्यक्त्वप्रकरणके सैकड़ों श्लोक पञ्चाध्यायीसे मिलते हैं। पञ्चाध्यायी भी राजमल्लकी ही रचना है।

कवि मेधावी

१४. मेधावीकविका 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमेंभी श्रावक-धर्मका यथोचित वर्णन है।

आभारप्रदर्शन

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारका यह संस्करण वीरसेवामन्दिरट्रस्टके सुयोग्य मंत्री आदरणीय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाकी सम्मत्यनुसार तैयार किया गया है। इसके संपादनमें श्रीमान् स्व० जुगलकिशोरजी मुख्तारके द्वारा संपादित और दानवीर सेठ-माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे प्रकाशित संस्कृतटीकासहित रत्नकरण्डश्रावकाचारसे पूर्ण सहायता ली गई है। प्रस्तावना-लेखमें भी उनकी विस्तृत प्रस्तावनासे यथेच्छ सामग्री संकलित की गई है।

मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनका प्रमुख स्थान है। उसकी उत्पत्ति तथा भेदप्रभेदोंका वर्णन यद्यपि आगमग्रंथोंमें जहाँ-तहाँ उपलब्ध है तथापि एकत्र उपलब्ध न होनेसे हमारा विद्यार्थीवर्ग उससे अपरिचित जैसा रह जाता है। विद्यार्थियों तथा साधारण स्वाध्यायार्थियोंके लाभकी दृष्टिसे हमने इस प्रस्तावनामें सम्यग्दर्शनकी कुछ विस्तारसे चर्चा की है तथा जहाँ-तहाँ बिखरी हुई सामग्रीको एकत्र किया है। आशा है इससे लाभ होगा। यह प्रस्तावना लिखकर मैंने श्रीमान् पूज्य १०८ आचार्यश्रुतसागरजी महाराजके पास भेजी थी। उन्होंने इसे आद्योपान्त देखकर उचित सुझाव दिये, इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। प्रस्तावनामें कुछ सामग्री श्रीमान् पं० हीरालालजी शास्त्री ब्यावरके वसुनन्दीश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे भी संगृहीत की गई है। अतः उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

श्री स्व०जुगुलकिशोरजी मुख्तारने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' तथा 'समीचीनधर्मशास्त्र' की प्रस्तावनाओंमें ग्रंथकी जो छानवीन की है तथा इनमें जो विस्तृत सामग्री दी है उसकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करता हुआ मैं सम्पादन, संशोधन और प्रस्तावना-लेखमें हुई त्रुटियोंके प्रति क्षमायाचना करता हूँ।

चरणानुयोगका यह आद्य ग्रन्थ संस्कृत-हिन्दी टीकाओं, परिशिष्टोंमें तथा विस्तृत प्रस्तावनाके साथ श्रीवीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित हो रहा है, अतः उसके संचालकोंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

सागर
ऋषभनिर्वाण-चतुर्दशी,
माघकृष्ण १४,
वीरनिर्वाण सं० २४९८

विनीत
पन्नालाल जैन

विषयानुक्रमणिका

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामि-विरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकालंकृतः

हिन्दीभाषासहितः

स्मारं स्मारं महावीरं पश्चिमं तीर्थनायकम् ।
वन्दित्वा च महाभक्त्या गौतमं गणनायकम् ॥ १ ॥
कृतं समन्तभद्रेण विवृतं च प्रभेन्दुना ।
ग्रन्थ रत्नकरण्डाख्यं रत्नत्रितय - वर्धकम् ॥ २ ॥
लब्ध्वादेशं गुरोर्वृत्त्या कृतया राष्ट्रभाषया ।
भव्यानां हितमुद्दिश्य विवृणोमि समासतः ॥ ३ ॥
स्वामी समन्तभद्रोऽसौ सम्यग्ज्ञानविभूषितः ।
विनाश्याज्ञानतिमिरं भूयान्मे मार्गदर्शकः ॥ ४ ॥

०

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्[1] ।
निबन्धनं रत्नकरण्डके[2] परं
करोमि [3]भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्धमानाय' अन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थंकर-समुदायाय वा । कथं ? अव-समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः । 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः । श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै ।

---

१. कर्मसाधनम् घ० । २. रत्नकरण्डकं ग० । ३. भक्त्या ख० ।

कथंभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूतं [1]स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मन आत्मनां वा भव्यजीवानां येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । 'यस्य विद्या' केवलज्ञानलक्षणा । किं करोति ? 'दर्पणायते' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ? 'त्रिलोकानां' त्रिभुवनानां । कथंभूतानां ? 'सालोकानां' अलोकाकाशसहितानां । अयमर्थः—यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकानां तथाविधानां तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः,[2] उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

टीकाकार आ० प्रभाचन्द्र टीकाके आरम्भमें मङ्गलपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

समन्तभद्रमिति—जो सब ओरसे कल्याणोंसे युक्त हैं—अनन्तसुखसे सम्पन्न हैं, समस्त जीवोंको बोधित करने वाले हैं—हितोपदेशी हैं अथवा समस्त पदार्थोंके स्वरूपको जानने वाले हैं—सर्वज्ञ हैं और समस्त कर्मों—ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंका क्षय करने वाले है—वीतराग हैं ऐसे अर्हन्त-जिनेन्द्रको प्रणाम कर मैं रत्नकरण्डकश्रावकाचारके ऊपर भव्यजीवोंके प्रतिबोधकी खानस्वरूप उत्तम टीका करता हूँ।

जिसप्रकार रत्नोंकी रक्षाका उपायभूत कोई करण्डक—पिटारा होता है और वह रत्नकरण्डक कहलाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी रक्षाका उपायभूत यह रत्नकरण्डक नामका शास्त्र है। इस शास्त्रकी रचना करनेके इच्छुक श्रीसमन्तभद्रस्वामी निर्विघ्नरूपसे शास्त्रको समाप्ति आदि फलकी अभिलाषा रख कर इष्ट देवताविशेष—श्रीवर्धमानस्वामीको नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नम इति—(**निर्धूतकलिलात्मने**) जिनकी आत्माने कर्मरूप कलङ्कको नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग हैं, अथवा जिनकी आत्माने हितोपदेश देकर अन्य आत्माओं—जीवोंको कर्मकलङ्कसे रहित किया है अर्थात् जो हितोपदेशी हैं और (**यद्विद्या**) जिनका केवलज्ञान (**सालोकानां त्रिलोकानाम्**) अलोक सहित तीनों लोकोंके विषयमें (**दर्पणायते**) दर्पणके समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं [**तस्मै**] उन (**श्रीवर्धमानाय**) अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमानस्वामीको अथवा अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे वृद्धिको प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थंकरोंको (**नमः**) नमस्कार करता हूँ।

---

१. स्फेटितं घ० । २. उपायकर्म ग० ।

टीकार्थ—'श्रीवर्धमान' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो तीर्थनायक श्री वर्धमानस्वामी—अन्तिम तीर्थंकर और दूसरा वृषभादि चौवीस तीर्थंकरोंका समूह। प्रथम अर्थमें श्रीवर्धमान नाम अन्तिम तीर्थंकरका प्रसिद्ध है और द्वितीय अर्थमें श्रीवर्धमान शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—**'अव समन्ताद् ऋद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ'**—जिनका केवलज्ञान सव ओरसे परम अतिशयको प्राप्त है। इस अर्थमें अवर्धमान शब्द सिद्ध होता है परन्तु **'अवाप्योरल्लोपः'**—अव और अपि उपसर्गके अकारका विकल्पसे लोप होता है—इस व्याकरणके नियमानुसार 'अव' उपसर्गके अकारका लोप हो जानेसे 'वर्धमान' शब्द सिद्ध हो जाता है। **'श्रिया वर्धमान इति श्रीवर्धमानः'** इस प्रकार श्रीशब्दके साथ समास कर 'श्रीवर्धमान' शब्द निष्पन्न होता है। श्रीका अर्थ लक्ष्मी होता है और वह लक्ष्मी वहिरङ्ग तथा अतरङ्गके भेदसे दो प्रकारकी होती है। समवसरणरूप लक्ष्मी बहिरङ्ग लक्ष्मी और अनन्त-चतुष्टयरूप लक्ष्मी अन्तरङ्ग लक्ष्मी कहलाती है। इस तरह 'श्रीवर्धमान' शब्दका अर्थ वृषभादि चौवीस तीर्थंकर होता है। उनके लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

जिन अन्तिम तीर्थंकर वर्धमानस्वामी अथवा चौवीस तीर्थंकरोंको नमस्कार किया गया है उनकी विशेषता वतलाते हुए कहा गया है—**'निर्धूत-कलिलात्मने'**—अर्थात् जिनकी आत्मासे ज्ञानावरणादि कर्मरूप कलिल—पाप समूल नष्ट हो गया है अथवा जिन्होंने दूसरे जीवोंके कर्मकलंकको नष्ट कर दिया है। प्रथम पक्षद्वारा वर्धमान स्वामीकी वीतराग दशाका वर्णन किया गया है और द्वितीय पक्ष द्वारा उनके हितोपदेशी गुणका निरूपण किया है। जब यह जीव अपने दोषोंको नष्ट कर देता है तभी उसमें सर्वज्ञता प्रकट होती है और तभी उसे उपदेश देनेका अधिकार प्राप्त होता है[1] इसलिये दूसरी विशेषता बतलाते हुए लिखा है—**'यद्विद्या सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायते'**—अर्थात् जिनकी केवलज्ञानरूपी विद्या अलोक सहित तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेके लिये दर्पणके समान है—जो सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त हैं। मनुष्यको अपना मुख अपनी चक्षु इन्द्रियसे नहीं दिखता, परन्तु दर्पण उसे दिखा देता है। इसी प्रकार जो पदार्थ मनुष्यके इन्द्रियगोचर नहीं हैं उन्हें केवलज्ञान दिखा देता है—प्रकाशित कर देता है।

---

१. स्वदोषमूलं सुसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा वभूव च व्रह्मपदामृतेश्वरः॥
—समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्र १-४

यहाँ श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌की सर्वज्ञताका उपाय बतलाया गया है और उत्तरार्धमें सर्वज्ञताका निरूपण किया गया है। सर्वज्ञताकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वीतरागताकी प्राप्ति नहीं हो जाती। वीतरागता प्राप्त होनेपर अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरण करनेसे परिणामोंमें जो विशुद्धता आती है उससे अशुभ कर्मोका अनुभाग क्षीण होता है और शुभ कर्मोका अनुभाग प्रबल होता है। शुभ कर्मोके अनुभागकी प्रबलतासे ग्रन्थरचनामें विघ्न उत्पन्न करने वाले अशुभ कर्मोका अनुभाग नष्ट हो जाता है, अतः मंगलाचरणसे प्रारब्ध कार्यकी पूर्णतामें सहायता प्राप्त होती है। यही कारण है कि शिष्टजन ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हैं। श्रीसमन्तभद्रस्वामी भी अपने रत्नकरण्डक उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें इस युगके अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानस्वामी अथवा समस्त तीर्थंकरोंके समूहको नमस्कार करते हैं। '**अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मङ्गलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मङ्गलं**' इस पाठके अनुसार चार प्रकारके मंगलोंमें अरहंत भगवान् सर्वप्रथम मंगल माने गये हैं। जो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोको नष्ट कर लोक अलोकको प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तथा समवसरणमें विराजमान होकर दिव्यध्वनिके द्वारा सब जीवोंको कल्याणकारी उपदेश देते हैं वे अरहंत कहलाते हैं। यहाँ अरहंत भगवान्‌के उन्हीं वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता इन तीन गुणोंका उल्लेख कर श्रीवर्धमान स्वामीको उन तीन गुणोंसे सहित बताया गया है। श्रीवर्धमानस्वामी ज्ञानावरणादि कर्मोसे रहित होनेके कारण वीतराग हैं। इस पक्षमें '**निर्धूतकलिलात्मने**' पदका समास इस प्रकार किया गया है—'**निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपमात्मनो येन स तस्मै**' अर्थात् जिसने अपने आप ज्ञानावरणादि कर्मरूप पापको नष्ट कर दिया है। और हितोपदेशी पक्षमें इस प्रकार समास किया गया है—'**निर्धूतं स्फोटितं कलिलं ज्ञानावरणादिरूपं आत्मनामन्यजीवानां येन स तस्मै**' अर्थात् जिसने दिव्य उपदेशके द्वारा अन्य जीवोंके ज्ञानावरणादिकर्मरूप पापको नष्ट कर दिया है। सर्वज्ञतागुणका वर्णन करनेके लिए उनके ज्ञानको दर्पणकी उपमा दी गई है। जिस प्रकार दर्पण पदार्थके पास नहीं जाता है और पदार्थ दर्पणके पास नहीं आते हैं फिर भी दर्पणकी स्वच्छताके कारण उसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार अरहंतका ज्ञान पदार्थके पास नहीं जाता और पदार्थ भी अरहंतके ज्ञानके

पास नहीं आते, फिर भी अरहंतके ज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रतिविम्वित होते हैं—झलकते हैं।

आकाशके जितने क्षेत्रमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्य अपना अस्तित्व रखते हैं उसे लोक कहते हैं। यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू प्रमाण है तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोकके भेदसे तीन प्रकारका है। जहाँ सिर्फ आकाश ही आकाश है उसे अलोक कहते हैं। यह लोक और अलोक सर्वज्ञके ज्ञानमें स्वतः प्रतिविम्वित होते रहते हैं॥ १॥

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं [1]कर्तुं लग्नो भवानित्याह—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ २॥

'देशयामि' [2]कथयामि। कं? 'धर्मं'। कथंभूतं? 'समीचीनं' अवाधितं तदनुष्ठातॄणामिह परलोके चोपकारकं। कथं तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह 'कर्मनिवर्हणं' यतो धर्मः संसारदुःखसम्पादककर्मणां निवर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः। अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः संसारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्वान्' प्राणिन उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति। क्व? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते॥ २॥

अव नमस्कार करनेके वाद समन्तभद्रस्वामी ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए धर्मका निरुक्त अर्थ वतलाते हैं—

देशयामीति। [अहम्] मैं (**कर्मनिवर्हणम्**) कर्मोंका विनाश करने वाले [तं] उस (**समीचीनं**) श्रेष्ठ (**धर्मं**) धर्मको (**देशयामि**) कहता हूँ (**यः**) जो (**सत्त्वान्**) जीवोंको (**संसारदुःखतः**) संसारके दुःखोंसे (**उद्धृत्य**) निकाल कर (**उत्तमे सुखे**) स्वर्ग-मोक्षादिकके उत्तम सुखमें (**धरति**) धारण करता है—पहुँचा देता है।

टीकार्थ—ग्रन्थकर्ता श्रीसमन्तभद्रस्वामी प्रतिज्ञावाक्य कहते हैं कि मैं संसारसम्वन्धी दुःखोंको प्राप्त कराने वाले कर्मोंके विनाशक तथा धारण करने वाले जीवोंका इस लोक तथा परलोक—दोनोंमें उपकार करने वाले उस धर्मका निरूपण करता हूँ जो जीवोंको चतुर्गतिरूप संसारमें होने वाले

१. करोति घ०। २. प्रतिपादयामि ख० घ०।

शारीरिक, मानसिक एवं आगन्तुक दुःखोंसे निकाल कर स्वर्ग और मोक्षके उत्तम सुखमें धारण करता है।

विशेषार्थ—शब्दके दो अर्थ होते हैं—एक निरुक्त अर्थ और दूसरा वाच्य अर्थ। यहाँ आचार्य महाराजने धर्मशब्दका निरुक्त अर्थ बतलाते हुए कहा है—'धरतीति धर्मः' जो धारण करावे—पहुँचावे उसे धर्म कहते हैं। संसारके प्राणी नरकादि चारों गतियोंमें जन्ममरण करते हुए शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखोसे दुःखी हो रहे हैं। धर्म, उन्हें संसारके उपर्युक्त दुःखोंसे निकाल कर उत्तम सुखमें पहुँचा देता है। यहाँ उत्तम सुखसे तात्पर्य मोक्ष-सुखसे है क्योंकि मोक्ष प्राप्त होने पर ही यह जीव जन्म-मरणके दुःखोंसे बच सकता है। मोक्षप्राप्तिके अभावमें स्वर्गादिकके सुखको भी आपेक्षिक सुख कहा जाता है परन्तु ज्ञानी जीवोंका लक्ष्य उस ओर नहीं होता। उनका लक्ष्य तो एक मोक्षसुखकी ओर ही रहता है परन्तु उसके अभावमें स्वर्गादिकका सुख स्वयं प्राप्त हो जाता है। जैसे किसान खेती तो अन्नप्राप्तिके उद्देश्यसे ही करता है परन्तु अन्नप्राप्तिके अभावमें पलाल उसे स्वयं मिल जाता है, वह सिर्फ पलाल प्राप्तिके उद्देश्यसे खेती नहीं करता ॥२॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रिया-निवृत्तिलक्षणं। सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च। 'धर्मं' उक्त-स्वरूपं। 'विदुः' वदन्ति प्रतिपादयन्ते। के ते? 'धर्मेश्वराः' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथाः। कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि। येषां सद्दृष्ट्यादीनां सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते। का? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि संसारमार्गभूतानि[1]। अतः सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाध-कत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्धयन्तीति ॥ ३ ॥

---

१. प्रमाणैः प्रसिद्धान्यतः कारणात् ख। प्रसिद्धान्यतः सम्यग्दर्शनादी न्यपवर्गसुख घ०।

अब इस प्रकारका धर्म कौन है, यह कहते हुए धर्मका वाच्यार्थ वतलाते हैं—

सद्दृष्टिज्ञानेति । (**धर्मेश्वराः**) धर्मके स्वामी जिनेन्द्रदेव (**तानि**) उन (**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको (**धर्मं**) धर्म (**विदुः**) जानते हैं—कहते हैं (**यदीयप्रत्यनीकानि**) जिनके विपरोत—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (**भवपद्धतिः**) संसारके मार्ग (**भवन्ति**) होते हैं।

टीकार्थ—रत्नत्रयरूप धर्मको स्वयं आराधना करने तथा दूसरे जीवोंको उसका उपदेश देनेसे जिनेन्द्र भगवान् धर्मके ईश्वर कहलाते हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको ही धर्म कहा है क्योंकि इन तीनों-की एकता ही इस जीवको संसारके दुःखोंसे निकालकर मोक्षके उत्तम सुखमें पहुँचाती है। सम्यग्दर्शनादिसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र ये तीनों संसारके मार्ग हैं अर्थात् इन्हींके कारण जीव चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करते हुए दुःख भोगते हैं।

विशेषार्थ—धर्मशब्दका निरुक्त अर्थ है **'धरतीति धर्मः'** जो संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तमसुखमें धारण करावे—पहुँचावे वह धर्म है। तथा धर्मशब्दका वाच्यार्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन्हींके द्वारा जीव मोक्षके उत्तम सुखको प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शनादिसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। इन्हें अधर्म कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा जीव चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको प्राप्त करता है।

आचार्योंने धर्मशब्दकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की है[1]। कोई आचार्य **'वत्थुसहावो धम्मो'**—वस्तुस्वभाव ही धर्म है, इन शब्दों द्वारा आत्माका जो ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **'उत्तमक्षमा-मार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः'** इस सूत्र द्वारा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्यको धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो**

१. धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

—स्वामीकार्तिकेय, अनुप्रेक्षा

समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो'—अर्थात् चारित्र धर्मको कहते हैं, आत्माका जो सम परिणाम है वह धर्म कहलाता है और मोह—मिथ्यात्व तथा क्षोभ—रागद्वेपसे रहित आत्माका परिणाम सम परिणाम है—इन शब्दोंके द्वारा चारित्रको धर्म कहते हैं। कोई आचार्य **'जीवाणं रक्खणं धम्मो'** अर्थात् जीवोंकी रक्षा करना धर्म है'—इन शब्दोंके द्वारा दया और अहिंसारूप परिणतिको धर्म कहते हैं। ग्रन्थकार **'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः'**—इन शब्दोंके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रको धर्म कहते हैं। विचार करने पर धर्मकी ये सब परिभाषाएँ **'वत्थु-सहावो धम्मो'** इस परिभाषाके विस्ताररूप ही हैं, क्योंकि क्षमा आदिक धर्म, मोह और क्षोभसे रहित साम्यभावरूप धर्म, दया और अहिंसारूप धर्म तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म आत्माके ही स्वभाव हैं। एक स्वभावके कहनेसे अन्य स्वभावोंका कथन उसीके अन्तर्गत आ जाता है। आत्माके इस उपर्युक्त स्वभावकी प्राप्तिमें सहायक जीवकी जो प्रवृत्ति एवं साधन हैं उन्हें भी उपचारसे धर्म माना गया है ॥ ३ ॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शनं भवति। किं? 'श्रद्धानं' रुचिः। केषां? 'आप्तागमतपोभृतां' वक्ष्यमाणस्वरूपाणां। न चैवं षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थानां श्रद्धानमसंगृहीतमित्या-शंकनीयं 'आगमश्रद्धानादेव[1] तच्छ्रद्धानसंग्रहप्रसिद्धेः। अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः। तच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धानं सिद्धमेव। किंविशिष्टानां तेषां? 'परमार्थानां' परमार्थभूतानां न पुनर्बौद्धमत[2] इव कल्पितानां। कथंभूतं श्रद्धानं? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत्[3]। पुनरपि किंविशिष्टं[4]? 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत्। 'अष्टांगं' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकितत्वादीन्यंगानि स्वरूपाणि यस्य ॥ ४ ॥

आगे सम्यग्दर्शनका स्वरूप कहते हैं—**श्रद्धानमिति।** (परमार्थानां) परमार्थभूत (आप्तागमतपोभृताम्) देव, शास्त्र और गुरुका (त्रिमूढापोढं)

---

१. आप्तागमश्रद्धानादेव ख० । २. बौद्धमत इव घ० ।
३. न विद्यंते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादिपाठः ख० । ४. कथंभूतं ख० ।

तीन मूढ़ताओंसे रहित (**अष्टाङ्गं**) आठ अङ्गोंसे सहित और (**अस्मयम्**) आठ प्रकारके मदोंसे रहित (**श्रद्धानं**) श्रद्धान करना (**सम्यग्दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन [**उच्यते**] कहा जाता है।

टीकार्थ—आप्त—देव, आगम—शास्त्र और तपोभृत—गुरुका जो स्वरूप कहा गया है उस स्वरूपसे सहित आप्त, आगम और तपोभृतका दृढ़ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरु-मूढ़ता इन तीन मूढ़ताओंसे रहित होता है। निःशङ्कितत्व, निःकाङ्क्षितत्त्व, निर्विचिकित्सितत्त्व, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गोंसे सहित होता है तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठके मदसे रहित होता है। यहाँ कोई यह शङ्का करे कि अन्य शास्त्रोंमें छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है परन्तु यहाँ आचार्यने देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कह कर अन्य शास्त्रोंमें प्रतिपादित लक्षणका संग्रह नहीं किया है, तो इस शंकाका समाधान यह है कि आगमके श्रद्धानसे ही छह द्रव्य, सात तत्त्व तथा नौ पदार्थोंके श्रद्धानरूप लक्षणका संग्रह हो जाता है, क्योंकि '**अबाधितार्थ-प्रतिपादकमाप्तवचनं ह्यागमः**'—'अबाधित' अर्थका कथन करनेवाला जो आप्तका वचन है वही आगम है'। आगमका यह लक्षण शास्त्रकारोंने स्वीकृत किया है। इसलिए आगमके श्रद्धानमें ही छह द्रव्य आदिका श्रद्धान संगृहीत हो जाता है।

विशेषार्थ—जैनशास्त्र, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार अनुयोगोंमें विभाजित हैं। प्रथमानुयोग और चरणानु-योगमें आचरणकी प्रधानतासे पदार्थका कथन होता है। करणानुयोगमें आत्मपरिणामोंकी प्रधानतासे निरूपण होता है और द्रव्यानुयोगमें तत्त्व-चिन्तनकी प्रधानतासे प्रतिपादन होता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शनका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न अनुयोगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कहा गया है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार चरणानुयोगका ग्रन्थ है। अतः इसमें आचरणकी प्रधानतासे सम्यग्दर्शनका लक्षण करते हुए कहा गया है कि परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत्—देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनको निर्दोष रखनेके लिए तीन मूढ़ताओं और आठ मदोंसे दूर रहना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकासके लिए आठ अङ्गोंका पालन करना चाहिए।

करणानुयोगके ग्रन्थोंमें सम्यग्दर्शनका लक्षण यह कहा गया है कि मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धागुणकी जो निर्मल पर्याय प्रकट होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

द्रव्यानुयोगके ग्रन्थोंमें सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा गया है कि अपने-अपने वास्तविक स्वरूपसे सहित जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों अथवा पञ्चास्तिकायोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत प्रमुखतासे आत्मतत्त्वका वर्णन करने वाले अध्यात्म-ग्रन्थोंमें परपदार्थोंसे भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्वके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त लक्षण विवक्षाभेदसे पृथक-पृथक जान पड़ते हैं, तथापि वे पृथक-पृथक न होकर एक-दूसरेके साधक हैं। एकके प्राप्त होने पर दूसरे लक्षण स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं॥ ४॥

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण　　सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ ५॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा। किंविशिष्टेन? 'उत्सन्न-दोषेण' नष्टदोषेण। तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यं। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिप्रतिहेतुभूतागम-प्रतिपादकेन नियमेन[2] भवितव्यं। कुत एतदित्याह—'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्'। 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत्॥ ५॥

आगे सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे कहे हुए आप्तका लक्षण कहते हैं—

आप्तेनेति—(**नियोगेन**) नियमसे (**आप्तेन**) आप्तको (**उत्सन्नदोषेण**) दोषरहित (**सर्वज्ञेन**) सर्वज्ञ और (**आगमेशिना**) आगमका स्वामी (**भवितव्यम्**) होना चाहिये। (**हि**) क्योंकि (**अन्यथा**) अन्य प्रकारसे (**आप्तता**) आप्तपना (**न भवेत्**) नहीं हो सकता।

---

१. 'च्छि' पाठान्तरं घ०।　　२. नियोगेन, ख, ग।

टीकार्थ—जिसके क्षुधा, पिपासा आदि शारीरिक तथा रागद्वेषादिक आन्तरिक दोष नष्ट हो चुके हैं, जो समस्त पदार्थोंको उनकी समस्त विशेषताओंके साथ स्पष्टरूपसे जानता है तथा जो आगमका स्वामी है अर्थात् जिसकी दिव्यध्वनिको सुनकर गणधर द्वादशाङ्गरूप आगमकी रचना करते हैं, इस तरह जो भव्य जीवोंको हेय और उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान करानेवाले आगमका मूल प्रतिपादक है वही पुरुष आप्त—सच्चा देव हो सकता है। यह नियम है क्योंकि इन विशेषताओंके अभावमें आप्तपना नहीं हो सकता।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख या क्षायिकसम्यक्त्व तथा अनन्त बल ये अनन्त चतुष्टय प्रकट हुए हैं वे आप्त कहलाते हैं। जो तीर्थंकर होकर अरहन्त अवस्थाको प्राप्त हुए हैं उनको दिव्यध्वनि नियमसे खिरती है। उसी दिव्यध्वनिके आधारपर गणधरदेव द्वादशाङ्ग श्रुतकी रचना करते हैं। जो सामान्य पुरुष अरहंत अवस्था प्राप्त करते हैं उनकी दिव्यध्वनि खिरनेका नियम नहीं है क्योंकि उनमें जो मूक केवली या अन्तकृत् केवली होते हैं उनके दिव्यध्वनि खिरनेका प्रसङ्ग नहीं आता। जैनागममें अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीको देवसंज्ञा तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीको गुरुसंज्ञा दी गई है। देवके लक्षणमें वीतरागता और सर्वज्ञताका होना अनिवार्य है। इन दोनों विशेषताओंके साथ जहाँ आगमेशिता—हितोपदेशकताका संग्रह किया गया है वहाँ तीर्थंकर अरहंतकी अपेक्षा समझना चाहिये।

अथ के पुनस्ते दोषा ये [1]तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

क्षुच्च बुभुक्षा। पिपासा च तृषा। जरा च वृद्धत्वं। आतङ्कश्च व्याधिः। जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः। अन्तकश्च मृत्युः। भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षणं। स्मयश्च जातिकुलादिदर्पः। रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः। चशब्दाच्चिन्ताऽरतिनिद्राविस्मय[2]मदस्वेदखेदा गृह्यन्ते। एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात्। अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः। तथा हि। भगवतो

१. येऽत्रोत्सन्ना घ०। २. अस्य स्थाने 'विषाद' इति पाठः ख, ग, घ०।

देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते[1]— अत्र किमाहारमात्रं[2] साध्यते कवलाहारो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता 'आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इत्यागमाभ्युपगमात्। द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः। देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः संभवात्। अथ[3] मानसाहारात्तेषां तत्स्थिति-[4]स्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात् साऽस्तु। अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावः स्यात्। अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र संभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयः किं न स्यात्। किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रिय[5]जनितत्वप्रसंगः। तथा हि—भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्। अतो भगवतः केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासंभवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाञ्जलिः। ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थित्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्वं किं न स्यात्। वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना; मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। 'भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा', सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात्, तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुंक्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुंक्ते। कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति। किं च—बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य

---

१. जैनेनोच्यते ख-पुस्तके नास्ति। जैनैर्न तदुच्यते घ।

२. णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो हि य कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णर-पसु ओज्जो पक्खीण लेप्प रुक्खाणं।
विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥

३. 'अथ मानसाहारास्तेषां तत्रस्थितिस्तर्हि केवलिनां कर्मनोकर्माहारात्' इति पाठो घ पुस्तके नास्ति। ४. 'तर्हि' इति ख ग पुस्तकयोर्नास्ति।

५. तज्ज्ञानस्येन्द्रियजत्व-घ०।

रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा ? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात् केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन ? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वं प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमत्तो[1] हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुजानोऽपीति महच्चित्रं। अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यत् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसंगात्। गृहस्था अप्यल्पसत्वास्तानि पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीन[3]सत्त्वप्रसंगात्। क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामितास्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना" इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलामार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चतः प्ररूपणात्॥ ६॥

आगे, वे कौनसे दोष हैं जो आप्तमें नष्ट हो जाते हैं, ऐसी आशङ्का उठाकर उन दोषोंका वर्णन करते हैं—

क्षुत्पिपासेति—(**यस्य**) जिसके, (**क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः**) भूख, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मृत्यु, भय, गर्व (**रागद्वेषमोहाः**) राग, द्वेष, मोह और (**च**) चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद ये अठारह दोष (**न**) नहीं हैं (**सः**) वह (**आप्तः**) आप्त—सच्चा देव (**प्रकीर्त्यते**) कहा जाता है।

टीकार्थ—क्षुधा भूखको कहते हैं, पिपासा प्यासको कहते हैं, जरा वृद्धावस्थाको कहते हैं, वात, पित्त तथा कफके विकारसे होनेवाले रोगोंको व्याधि कहते हैं कर्मोंकी अधीनतासे चारों गतियोंमें उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है, अन्तक मृत्युको कहते हैं, इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिकके भेदसे भय सात प्रकारका है, जाति, कुल आदिके गर्वको स्मय अथवा अहंकार कहते हैं, इष्ट वस्तुओंमें प्रीतिरूप परिणाम होना राग कहलाता है, अनिष्ट वस्तुओंमें अप्रीतिरूप परिणाम होना द्वेष कहलाता है, शरीरादिक परवस्तुओंमें अहंबुद्धि करना मोह कहलाता है। श्लोकमें आये हुए चशब्दसे चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद इन सात दोषोंका संग्रह पृथक्से होता है। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये तथा अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेपर उसे दूर करनेके लिये परिणामोंमें जो विकलता होती है उसे चिन्ता कहते हैं, अनिष्ट वस्तुओंका समागम होनेपर जो अप्रसन्नता होती है उसे अरति कहते हैं, निद्राका अर्थ प्रसिद्ध है। इसके निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला

१. अप्रमत्तोऽपि ख। २. सत्त्वानि ख ग। ३. हीनत्व ख।

प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धिके भेदसे पाँच भेद होते हैं। आश्चर्यरूप परिणामको विस्मय कहते हैं, नशाको मद कहते हैं, पसीनाको स्वेद कहते हैं और थकावटको खेद कहते हैं। क्षुधा, पिपासा आदि सब मिलानेपर अठारह दोष होते हैं। ये सब दोष जिसमें नहीं हैं वही आप्त कहलाता है।

यहां कोई आशङ्का करता है कि आप्त भगवान्‌के भी क्षुधा होना चाहिये। क्योंकि क्षुधाका अभाव होनेपर आहारादिकमें प्रवृत्ति नहीं होगी और आहारादिकमें प्रवृत्ति न होनेसे शरीरकी स्थिति नहीं रह सकेगी। आप्तके शरीरकी स्थिति है। अतः उससे आहारकी भी सिद्धि होती है। यहाँ निम्न प्रकारका अनुमान होता है—आप्त भगवान्‌की शरीरस्थिति आहारपूर्वक होती है क्योंकि वह शरीरस्थिति है, हमारे आदिकी शरीरस्थितिके समान। जिस प्रकार हमारे आदिका शरीर आहारके विना स्थिर नहीं रहता उसी प्रकार आप्त भगवान्‌का शरीर भी आहारके विना स्थिर नहीं रह सकता। चूंकि उनका शरीर देशोनकोटि वर्षपूर्व तक स्थिर रह सकता है। अतः उनके आहार अवश्य होगा और जब आहार होगा तब क्षुधाका मानना अनिवार्य हो जायेगा ?

इस आशङ्काके उत्तरमें जैनाचार्य कहते हैं कि आप्त भगवान्‌के आहारमात्र सिद्ध किया जा रहा है या कवलाहार ? प्रथम पक्षमें सिद्धसाधनता दोष आता है, क्योंकि 'सयोगकेवली पर्यन्तके जीव आहारक' हैं ऐसा आगममें स्वीकृत किया गया है। और दूसरे पक्षमें देवोंकी शरीरस्थितिके साथ व्यभिचार आता है क्योंकि देवोंके सदा कवलाहारका अभाव होने पर भी शरीर की स्थिति देखी जाती है। यदि यहाँ कोई यह कहे कि देवोंके मानसिक आहार होता है उससे उनके शरीरकी स्थिति देखी जाती है तो इसका उत्तर यह है कि केवली भगवान्‌के कर्म तथा नोकर्माहार होता है उससे उनके शरीरकी स्थिति रह सकती है। यदि यहाँ यह कहा जावे कि आप्तका शरीर हमारे आदि के शरीरके समान मनुष्यका शरीर है इसलिये जिस प्रकार हमारे आदिका शरीर आहारके विना नहीं रहता उसी प्रकार आप्तका शरीर भी आहारके बिना नहीं रहता। इसका उत्तर यह है कि यदि आहारकी अपेक्षा आप्त भगवान् और हमारे आदिके शरीरकी तुलना की जाती है तो जिस प्रकार आप्तके शरीरमें पसीना आदिका अभाव है उसी प्रकार हमारे आदिके शरीर में भी पसीना आदिका अभाव होना चाहिए क्योंकि मनुष्यशरीरत्वरूप हेतु दोनोंमें विद्यमान है। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जावे कि हमारे आदिके शरीरमें वह अतिशय नहीं पाया जाता जिससे कि पसीना आदिका अभाव

होता है परन्तु आप्त भगवान्‌के वह अतिशय रहता है जिसके कारण उनके शरीरमें पसीना आदि नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि जब आप्त भगवान्‌के पसीना आदिके अभावका अतिशय माना जाता है तब भोजनके अभावका अतिशय क्यों नहीं हो सकता ? दूसरी बात यह है कि जो धर्म हमारे आदिमें देखा जाता है; वह यदि भगवान्‌में भी सिद्ध किया जाता है तो जिस प्रकार हमारे आदिका ज्ञान इन्द्रियजनित है उसी प्रकार भगवान्‌का ज्ञान भी इन्द्रियजनित मानना चाहिये। इसके लिए निम्न प्रकारका अनुमान किया जा सकता है—**'भगवतो ज्ञानमिन्द्रियजं ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत्'**—भगवान्‌का ज्ञान इन्द्रियजनित है क्योंकि वह ज्ञान है हमारे आदिके ज्ञानके समान। इस अनुमानसे अरहंत भगवान्‌के केवलज्ञानरूप अतीन्द्रियज्ञान असंभव हो जावेगा और तब सर्वज्ञताके लिए जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। यदि यह कहा जावे कि हमारे और उनके ज्ञानमें ज्ञानत्वकी अपेक्षा समानता होने पर भी उनका ज्ञान अतीन्द्रिय है तो इसका उत्तर यह है कि हमारे और उनके शरीरस्थितिकी समानता होनेपर भी उनकी शरीरस्थिति अकवलाहारपूर्वक क्यों नहीं हो सकती ?

अरहन्त भगवान्‌के असातावेदनीयका उदय रहनेसे बुभुक्षा—भोजन करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, इसलिए भोजनादिमें उनकी प्रवृत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस वेदनीयके साथ मोहनीयकर्म सहायक रहता है वही बुभुक्षाके उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं। वह बुभुक्षा मोहनीयकर्मका कार्य है। अतः जिनके मोहका सर्वथा क्षय हो चुका है ऐसे अरहन्त भगवान्‌के वह कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा न माना जावेगा तो फिर रिरंसा—रमण करनेकी इच्छा भी उनके होना चाहिए। और उसके होनेपर सुन्दर स्त्री आदिके सेवनका प्रसंग आ जावेगा। उसके आनेपर अरहंत भगवान्‌की वीतरागता ही समाप्त हो जावेगी। यदि यह कहा जाये कि विपरीत भावनाओंके वशसे रागादिककी हीनताका अतिशय देखा जाता है अर्थात् रागादिकके विरुद्ध भावना करनेसे रागादिकमें ह्रास देखा जाता है। केवली भगवान्‌के रागादिकका ह्रास अपनी चरम सीमाको प्राप्त हो जाता है, इसलिए उनकी वीतरागतामें बाधा नहीं आती ? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा है तो उनके भोजनाभावकी परमप्रकर्षता क्यों नहीं हो सकती, क्योंकि भोजनाभावकी भावनासे भोजनादिकमें भी ह्रासका अतिशय देखा जाता है। जैसे जो पुरुष एक दिनमें

अनेक बार भोजन करता है वही पुरुष कभी विपरीत भावनाके वशसे एक बार भोजन करता है। कोई पुरुष एक दिनके अन्तरसे भोजन करता है और कोई पुरुष पक्ष, मास तथा वर्ष आदिके अन्तरसे भोजन करता है।

दूसरी बात यह भी है कि अरहन्त भगवान्के जो बुभुक्षा सम्बन्धी पीड़ा होती है और उसकी निवृत्ति भोजनके रसास्वादनसे होती है तो यहाँ पूछना यह है कि वह रसास्वादन उनके रसना इन्द्रियसे होता है या केवलज्ञानसे ? यदि रसना इन्द्रियसे होता है ऐसा माना जाय तो मतिज्ञानका प्रसंग आनेसे केवलज्ञानका अभाव हो जायगा। इस दोषसे बचनेके लिये यदि केवलज्ञानसे रसास्वादन माना जाय तो फिर भोजनकी आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि केवलज्ञानके द्वारा तो तीन लोकके मध्यमें रहने वाले दूरवर्ती रसका भी अच्छी तरह अनुभव हो सकता है। एक बात यह भी है कि भोजन करने वाले अरहन्तके केवलज्ञान हो भी कैसे सकता है, क्योंकि भोजन करते समय वे श्रेणीसे पतित होकर प्रमत्तविरत गुणस्थानवर्ती हो जावेंगे। जब अप्रमत्त-विरत साधु, आहारकी कथा करने मात्रसे प्रमत्त हो जाता है तब अरहन्त भगवान भोजन करते हुए भी प्रमत्त न हों यह बड़ा आश्चर्य है। अथवा केवल ज्ञान मान भी लिया जाय तो भी केवलज्ञानके द्वारा मांस आदि अशुद्ध द्रव्योंके देखते हुए वे कैसे भोजन कर सकते हैं, क्योंकि अन्तरायका प्रसंग आता है। अल्पशक्तिके धारक गृहस्थ भी जब मांसादिकको देखते हुए अन्तराय करते हैं तब अनन्तवीर्यके धारक अरहन्त भगवान् क्या अन्तराय नहीं करेंगे ? यदि नहीं करते हैं तो उनमें भी हीन शक्तिका प्रसंग आता है। यदि अरहंत भगवान्के क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा होती है तो उनके अनन्तसुख किस प्रकार हो सकता है ? जब कि वे अनन्तचतुष्टयके स्वामी नियमसे होते हैं। जो अन्तरायसे सहित है उसके ज्ञानके समान सुखको अनन्तता नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अन्तराय सहित ज्ञानमें अनन्तता नहीं होती उसी प्रकार अन्तराय सहित अरहन्तके सुखमें अनन्तता नहीं हो सकती। 'क्षुधा पीड़ा ही नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोकमें यह उक्ति प्रसिद्ध है **'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना'** क्षुधाके समान शरीरकी पीड़ा दूसरी नहीं है। इस विषयका अधिकविस्तार करना व्यर्थ है क्योंकि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुद चन्द्रमें विस्तारसे इसका निरूपण किया गया है।

विशेषार्थ—आप्त—अरहन्त भगवान्, क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित होते हैं इसलिये वीतराग कहलाते हैं। केवलज्ञान होते ही औदारिक

शरीर परमौदारिक शरीरके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। उसमेंमें त्रस तथा वादर निगोदिया जीव पृथक् हो जाते हैं। उसपर वृद्धावस्थाका कोई प्रभाव नहीं रहता। असाता वेदनीय कर्मके उदीरणा—तीव्र उदयका अभाव होनेसे उनके क्षुधा, तृषा आदिकी बाधा नहीं होती। मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे राग, द्वेष मोह, भय, अरति आदि दोष नहीं होते। दर्शनावरण कर्मका क्षय हो जानसे निद्रा नहीं होती। यद्यपि भुज्यमान-वर्तमान मनुष्यायुका सद्भाव है तथापि आगामी आयुका बन्ध न होनेसे उन्हें जन्मधारण नहो करना पड़ता। उनके मृत्यु नहीं होती किन्तु निर्वाण हाता है। मृत्यु उसे कहते हैं जिसके बाद जन्मधारण करना पड़े और निर्वाण उसे कहते हैं जिसके होनेपर फिर जन्मधारण न करना पड़े। अरहन्त भगवान्के क्षुधा, तृषाका अभाव होनेसे कवलाहार नहीं होता। कवलाहारके न होनेपर भी लाभान्तराय कर्मके क्षयस प्रत्येक समय जो शुभ, सूक्ष्म, अनन्त पुद्गल परमाणुओका लाभ हाता है उसीके द्वारा उनका परमौदारिक शरोर देशान कोटि वर्ष पूर्व तक स्थिर रह जाता है। आगममें आहारके छह भेद बतलाये गय हैं—१. नोकर्माहार, २. कर्माहार ३. कवलाहार, ४. लेपाहार, ५. ओज आहार और ६. मानसाहार इनमे अरहन्त भगवान्के नोकर्माहार होता है, नारकियोंके कर्माहार, देवोंके मानसाहार, मनुष्य और पशुओंके कवलाहार, अण्डस्थ पक्षियोंके ओजआहार और वृक्षादि वनस्पतियोंके लेपाहार होता है। अरहन्तके कवलाहार क्यों नहीं होता है? इसका विचार संस्कृत टीकाकारने विस्तारसे किया है ॥ ६ ॥

अथोक्तदोषैर्विजितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह—

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी'। परं निरावरणं परमातिशयप्राप्त ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ परंज्योतिः। 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य। 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य। 'कृती' निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी। 'अनादिमध्यान्तः' उक्तस्वरूपाप्त-प्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्यः। 'सार्वः' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः। 'शास्ता' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः। एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥ ७ ॥

आगे पूर्वोक्त दोषोंसे रहित आप्तकी नामावलीका निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

परमेष्ठीति—[स आप्तः वह आप्त, (**परमेष्ठी**) परमेष्ठी (**परंज्योतिः**) परमज्योति (**विरागः**) विराग (**विमलः**) विमल (**कृती**) कृती—कृतकृत्य (**सर्वज्ञः**) सर्वज्ञ (**अनादिमध्यान्तः**) अनादिमध्यान्त—आदि मध्य तथा अन्तसे रहित। (**सार्वः**) सार्व—सर्व हितकर्ता और (**शास्ता**) शास्ता—हितोपदेशक (**उपलाल्यते**) कहा जाता है—ये सब आप्तके नाम हैं।

टीकार्थ—आप्त—अरहन्त भगवान्को परमेष्ठी आदि कहते हैं। **'परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे इन्द्रादिकके द्वारा वन्दनीय परमपदमें स्थित रहते हैं इसलिए **परमेष्ठी** कहलाते हैं। **'परंज्योतिर्यस्यासौ परंज्योतिः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार निरावरण-केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण **परंज्योतिः** कहलाते हैं। **'विगतो रागो यस्य स विरागः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार रागरूप भावकर्मके नष्ट हो जानेसे **विराग** कहलाते हैं। **'विनष्टो मलो यस्य स विमलः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार मूलोत्तर प्रकृतिरूप द्रव्यकर्मके नष्ट हो जानेसे **विमल** कहे जाते हैं। **'कृतमनेनेति कृती'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त हेय और उपादेय तत्त्वोंके विषयमें विवेक-सपन्न होनेके कारण **कृती** कहलाते हैं। **'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त पदार्थोंके साक्षात्कारी होनेसे **सर्वज्ञ** कहलाते हैं। **'न विद्यन्ते आदिमध्यान्ता यस्य सोऽनादिमध्यान्तः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्वोक्त स्वरूपवाले आप्तके प्रवाहकी अपेक्षा आदि, मध्य और अन्तसे शून्य होनेके कारण वे **अनादिमध्यान्त** कहे जाते हैं। **'सर्वेभ्यो हितः सार्वः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस लोक और परलोकका उपकार करनेवाले मार्गको दिखलानेके कारण **सार्व** कहलाते हैं। **'शास्तीति शास्ता'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्वापरविरोध आदि दोषोंको बचाकर समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका उपदेश देनेसे **शास्ता** कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन परमेष्ठी आदि शब्दोंके द्वारा पूर्वोक्त स्वरूपवाले आप्तका कथन होता है।

विशेषार्थ—यहाँ आप्तको जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित कहा है वह नाना आप्तोंकी अपेक्षा समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे आप्त आदि, मध्य और अन्तसे रहित है अर्थात् आप्त अनादि कालसे होते आये हैं और अनन्त कालतक विद्यमान रहेंगे। जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य भी

नहीं होता। एक जीवकी अपेक्षा अरहन्त अवस्था सादि सान्त है और सिद्ध अवस्था सादि अनन्त है।

इस समय पठन-पाठनमें चलनेवाली टीकाओंमें कुछ टीकाकारोंने इस श्लोककी टीका हितोपदेशीके लक्षणरूपमे की है पर वह ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि उसमें 'यः' और 'सः' पदोंकी योजना ऊपरसे करना पडती है। संस्कृत-टीकाकारने इसकी टीका आप्तकी नामांवलीके रूपमें ही का है ॥ ७ ॥

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह—

आनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

'शास्ता' आप्तः। 'शास्ति' शिक्षयति। कान् ? 'सतः' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान्। किं शास्ति ? 'हितं' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिकं। किमात्मनः किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति। "परोपकाराय सतां हि चेष्टितं" इत्यभिधानात्। स तथा शास्तीत्येतत् कुतोऽवगतमित्याह—'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षणपरै रागैर्विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि। शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मर्दलो ध्वनन् किमात्मार्थं किंचिदपेक्षते। नैवापेक्षते। अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

सम्यग्दर्शनके विषयभूत आप्तका स्वरूप कहकर अब उसके विषयभूत आगमका स्वरूप कहनेके लिये श्लोक कहते हैं—

अनात्मार्थमिति—(शास्ता) आप्त भगवान् (रागैर्विना) रागके विना (अनात्मार्थं अपना प्रयोजन न होनेपर भी (सतः) समीचीन—भव्य जीवोंको (हितं शास्ति) हितका उपदेश देते हैं क्योंकि (शिल्पिकरस्पर्शात्) बजानेवालेके हाथके स्पर्शसे (ध्वनन्) शब्द करता हुआ (मुरजः) मृदंग (किम् अपेक्षते) क्या अपेक्षा रखता है ? कुछ भी नहीं।

टीकार्थ आप्त भगवान्, चित्तविक्षेप आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा जो स्वर्गादिक तथा उनके साधनभूत सम्यग्दर्शनादिका उपदेश देते हैं वह लाभ, पूजा तथा ख्याति आदिकी अभिलाषारूप

रागके विना ही देते हैं और उस उपदेशमें उनका निजका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। मात्र परोपकारके लिए उनकी उपदेशमें प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कहा गया है—'परोपकाराय संता हि चेष्टितम्' अर्थात् परोपकारके लिए ही सत्पुरुषोंकी चेष्टा होती है। राग तथा निजके प्रयोजनके विना आप्त उपदेश कैसे देते हैं? इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हुए कहते हैं कि शिल्पीके हाथके स्पर्शसे बजानेवाले मनुष्यके हाथकी चोटसे शब्द करता हुआ मृदङ्ग क्या कुछ चाहता है? नहीं चाहता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृदङ्ग परोपकारके लिए ही नाना प्रकारके शब्द करता है उसी प्रकार आप्त भगवान् भी परोपकारके लिए ही शास्त्र-रचना करते हैं—दिव्यध्वनिके द्वारा उपदेश देते हैं।

विशेषार्थ—भव्य जीवोंके भाग्य तथा अपने वचन योगके कारण आप्त भगवान्की जो दिव्यध्वनि खिरती है उसीके आधारपर गणधर देव शास्त्रोंकी रचना करते हैं इसलिये मूलकर्ताके रूपमें आगमके रचयिता आप्त भगवान् माने जाते हैं। इस आगमकी रचनामें आप्त भगवान्के निजका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता और न उन्हें इस प्रकारका राग ही होता है। उनकी यह परिणति स्वयं होती है इसके लिए समन्तभद्र स्वामीने मृदङ्गका दृष्टान्त दिया है अर्थात् जिस प्रकार मृदङ्ग, राग तथा निजके प्रयोजनके विना ही वादकके हाथके प्रहारसे शब्द करने लगता है उसी प्रकार आप्त भगवान् भी राग तथा निजके प्रयोजनके विना ही वचनवर्गणाके निमित्तसे उपदेश करने लगते हैं[1]। राग तथा निज प्रयोजनकी इच्छा मोहकर्मके उदयमें होती है। इस मोहकर्मका क्षय दशम गुणस्थानमें हो चुकता है और दिव्यध्वनि तेरहवें गुणस्थानमें खिरती है इसलिए दिव्यध्वनिमें राग तथा निजके प्रयोजनकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती ॥ ८ ॥

---

१. ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

—प्रवचनसार

'अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते।'

—अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह;—

[1]आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

'आप्तोपज्ञं' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्तिः । अनुल्लंघ्यं यस्म त्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रा[2]दीनामनुल्लंघ्यमादेयं । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्यं यतः । 'अदृष्टेष्टविरोधकं'—दृष्टं प्रत्यक्षं, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तत्त्वस्य च सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशकं[3] ततो दृष्टेष्टाविरोधकं । एवंविधमपि कस्मादवगतं ? यतः 'सार्वं' सर्वेभ्यो हितं सार्वमुच्यते तत्कथं यथावत्तत्त्वस्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह 'कापथघट्टनं' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टनं निराकारकं[4] सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं ततस्तत्सार्वमिति ॥ ९ ॥

अब वह शास्त्र कैसा होता है जिसकी रचना आप्त भगवान्‌के द्वारा हुई है यह बतलाते हुए शास्त्रका लक्षण लिखते हैं—

आप्तोपज्ञमिति—[तत्] वह (शास्त्रं) शास्त्र (आप्तोपज्ञं सर्व प्रथम आप्त भगवान्‌के द्वारा उपज्ञात है (अनुल्लङ्घ्यम्) इन्द्रादिक देवोंके द्वारा अनुलङ्घनीय है अर्थात् ग्रहण करनेके योग्य है अथवा अन्य वादियोंके द्वारा अखण्डनीय है (अदृष्टेष्टविरोधकम्) प्रत्यक्ष तथा अनुमानादिके विरोधसे रहित है। तत्त्वोपदेशकृत्) तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला है (सार्वम) सबका हितकारी है और (कापथघट्टनम्) मिथ्यामार्गका निराकरण करनेवाला है ।

टीकार्थ—'आप्तेन आदौ उपज्ञातमिति आप्तोपज्ञम्' इस व्युत्पत्तिके अनुमार वह शास्त्र सर्वप्रथम आप्तके द्वारा जाना गया है तथा आप्तके द्वारा ही कहा गया है इसलिये इन्द्रादिक देव उसका उलङ्घन नहीं करते किन्तु श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते हैं। अथवा कुछ प्रतियोंमें 'तस्मादितरवादिनामनुल्लङ्घ्यं' ऐसा पाठ भी है उसके अनुमार अन्यवादियोंके द्वारा उल्लङ्घन करनेके योग्य नहीं है। इष्टका अर्थ प्रत्यक्ष है तथा अदृष्ट शब्दसे अनुमानादि परोक्ष प्रमाणोंका ग्रहण किया जाता है। आप्तप्रणीत शास्त्र, इन प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि परोक्ष प्रमाणोंके विरोधसे रहित है। जीव. अजीव आदि सात प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश

१. सिद्धसेनदिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोकः । २. तस्मादितरवादिनां ख । ३. प्रतिपादकं ख । ४. निराकरणकारणं ख ।

करनेवाला है अथवा अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित जीव पुद्गल आदि छह द्रव्योंका उपदेश करनेवाला है। 'सर्वेभ्यो हितं सार्वं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सब जीवोंका हित करनेवाला है और 'कुत्सितः पन्थाः कापथं तस्य घट्टनम्' इस विग्रहके अनुसार कुत्सित मार्ग जो मिथ्यादर्शनादिक हैं उनका निराकरण करनेवाला है। शास्त्रकी यह सब विशेषताएँ उसके आप्तप्रणीत होनेपर ही सिद्ध हो सकती हैं।

विशेषार्थ—शास्त्रकी प्रामाणिकता वक्ताकी प्रामाणिकता पर निर्भर रहती है इसलिये यहाँ शास्त्रका पहला विशेषण दिया गया है कि वह आप्तोपज्ञ है वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा सर्वप्रथम उपज्ञात तथा उपदिष्ट है। आप्तके वचन सर्वमान्य होनेसे अनुल्लङ्घनीय होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणकी बाधासे रहित होते हैं तत्त्वोंका यथार्थ उपदेश करते हैं, प्राणिमात्रका हित करते हैं और संसारमें प्रचलित मिथ्यामार्गका निराकरण करते हैं। जो शास्त्र इन सभी विशेषताओंसे सहित होता है वही सच्चा शास्त्र है और उसीके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है॥ ९॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
[1]ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षारहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते॥ १०॥

अब इसके बाद सम्यग्दर्शनके विषयभूत तपोभृत—गुरुका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

विषयाशेति—[यः] जो (**विषयाशावशातीतः**) विषयोंकी आशाके वशसे रहित हो, (**निराम्भः**) आरम्भ रहित हो, (**अपरिग्रहः**) परिग्रहरहित हो और (**ज्ञानध्यानतपोरत्नः**) ज्ञान, ध्यान तथा तप रूपी रत्नोंसे सहित हो (**सः**) वह (**तपस्वी**) गुरु (**प्रशस्यते**) प्रशंसनीय है।

टीकार्थ :- स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषयभूत माला तथा स्त्री आदि विषयोंकी आकांक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है अर्थात् जिन्होंने इन्द्रिय

१. 'ज्ञानध्यानतपोरक्त इत्यपि' प्रसिद्धः।

विषयोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जो खेती आदि व्यापारका परित्याग कर चुके हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तपको ही जो रत्नोंके समान श्रेष्ठ समझकर उन्हींकी प्राप्तिमें लीन रहते हैं वही तपस्वी अर्थात् गुरु प्रशंसनीय होते हैं।

विशेषार्थ—गुरुका मुख्य कार्य ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण है अर्थात् स्वाध्यायके द्वारा अपने ज्ञानको बढ़ाना, योग और कषाय जनित चञ्चलताको दूर कर धर्म्य तथा शुक्लध्यानमें लीन होना है और अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश इन छह बाह्य तपों एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरङ्ग तपोंको शक्ति अनुसार धारण करना ही गुरुका प्रमुख कार्य है। इन कार्योंको रत्नोंकी तरह श्रेष्ठ समझकर इन्हींके संचयमें वे रातदिन लीन रहते हैं। अथवा 'रत्नः' के स्थानपर 'रक्तः' पाठ भी मिलता है। उस पक्षमें यह अर्थ होता है कि वे ज्ञान, ध्यान और तपमें रँगे होते हैं—अपनी पूर्णशक्ति इन्हीं कार्योंमें लगाते हैं परंतु इन तीनोंमें लीनता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि परिग्रह विद्यमान रहता है। क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य सम्पदा आदि अचेतन और दासीदास तथा वाहन आदि सचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो अथवा दस प्रकारका है तथा मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेदके भेदसे अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह प्रकारका है। ज्ञान, ध्यान और तपमें लीनता प्राप्त करनेके लिए गुरुको इन सभी प्रकारके परिग्रहोंका पूर्ण त्याग करना पड़ता है। यह अपरिग्रह दशा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उस परिग्रहको बढ़ानेवाले खेती तथा व्यापार आदि आरम्भोंका त्याग नहीं किया जाता, इसलिये अपरिग्रह दशा प्राप्त करनेके लिए गुरुको सब प्रकारके आरम्भोंका त्याग करना पड़ता है। यह निरारम्भ दशा भी तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी अधीनतासे मुक्त नहीं हुआ जाता। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों और मनके विषयोंको मिलाकर सब विषयोंकी संख्या अट्ठाईस होती है अर्थात् आठ प्रकारके स्पर्श, पाँच प्रकारके रस, दो प्रकारके गन्ध, पाँच प्रकारके रूप, सात प्रकारके स्वर और मनका विषय एक इस तरह अट्ठाईस प्रकारके विषय हैं—इनके प्राप्त करनेकी आकांक्षाको विषयाशा कहते हैं। निरारम्भ दशा प्राप्त करनेके लिए उस विषयाशाकी अधीनतासे दूर रहना पड़ता है। अथवा जब तक विषयोंकी आशा नहीं छूटती तब तक आरम्भ नहीं छूटता, जब तक आरम्भ नहीं छूटता, तब तक परिग्रह नहीं छूटता और जब तक परिग्रह नहीं छूटता तब

करनेवाला है अथवा अपने-अपने यथार्थ स्वरूपसे सहित जीव पुद्गल आदि छह द्रव्योंका उपदेश करनेवाला है। **'सर्वेभ्यो हितं सार्वं'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार सब जीवोंका हित करनेवाला है और **'कुत्सितः पन्थाः कापथं तस्य घट्टनम्'** इस विग्रहके अनुसार कुत्सित मार्ग जो मिथ्यादर्शनादिक हैं उनका निराकरण करनेवाला है। शास्त्रकी यह सब विशेषताएँ उसके आप्तप्रणीत होनेपर ही सिद्ध हो सकती हैं।

विशेषार्थ—शास्त्रकी प्रामाणिकता वक्ताकी प्रामाणिकता पर निर्भर रहती है इसलिये यहाँ शास्त्रका पहला विशेषण दिया गया है कि वह **आप्तोपज्ञ** है वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा सर्वप्रथम उपज्ञात तथा उपदिष्ट है। आप्तके वचन सर्वमान्य होनेसे अनुल्लङ्घनीय होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणकी बाधासे रहित होते हैं तत्त्वोंका यथार्थ उपदेश करते हैं, प्राणिमात्रका हित करते हैं और संसारमें प्रचलित मिथ्यामार्गका निराकरण करते हैं। जो शास्त्र इन सभी विशेषताओंसे सहित होता है वही सच्चा शास्त्र है और उसीके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
[1]ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता। तदतीतो विषयाकांक्षारहितः। 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः। 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः। 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

अब इसके बाद सम्यग्दर्शनके विषयभूत तपोभृत—गुरुका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

विषयाशेति—[**यः**] जो (**विषयाशावशातीतः**) विषयोंकी आशाके वशसे रहित हो, (**निराम्भः**) आरम्भ रहित हो, (**अपरिग्रहः**) परिग्रहरहित हो और (**ज्ञानध्यानतपोरत्नः**) ज्ञान, ध्यान तथा तप रूपी रत्नोंसे सहित हो (**सः**) वह (**तपस्वी**) गुरु (**प्रशस्यते**) प्रशंसनीय है।

टीकार्थ :- स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषयभूत माला तथा स्त्री आदि विषयोंकी आकांक्षा सम्बन्धी अधीनता जिनकी नष्ट हो गई है अर्थात् जिन्होंने इन्द्रिय

---

१. 'ज्ञानध्यानतपोरक्त इत्यपि' प्रसिद्धः।

विषयोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जो खेती आदि व्यापारका परित्याग कर चुके हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तपको ही जो रत्नोंके समान श्रेष्ठ समझकर उन्हींकी प्राप्तिमें लीन रहते हैं वही तपस्वी अर्थात् गुरु प्रशंसनीय होते हैं।

विशेषार्थ—गुरुका मुख्य कार्य ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण है अर्थात् स्वाध्यायके द्वारा अपने ज्ञानको बढ़ाना, योग और कषाय जनित चञ्चलताको दूर कर धर्म्य तथा शुक्लध्यानमें लीन होना है और अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश इन छह बाह्य तपों एवं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह अन्तरङ्ग तपोंको शक्ति अनुसार धारण करना ही गुरुका प्रमुख कार्य है। इन कार्योंको रत्नोंकी तरह श्रेष्ठ समझकर इन्हींके संचयमें वे रातदिन लीन रहते हैं। अथवा 'रत्नः' के स्थानपर 'रक्तः' पाठ भी मिलता है। उस पक्षमें यह अर्थ होता है कि वे ज्ञान, ध्यान और तपमें रँगे होते हैं—अपनी पूर्णशक्ति इन्हीं कार्योंमे लगाते हैं परंतु इन तीनोंमें लीनता तब तक नहीं हो सकती जब तक कि परिग्रह विद्यमान रहता है। क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य सम्पदा आदि अचेतन और दासीदास तथा वाहन आदि सचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो अथवा दस प्रकारका है तथा मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेदके भेदसे अन्तरङ्ग परिग्रह चौदह प्रकारका है। ज्ञान, ध्यान और तपमें लीनता प्राप्त करनेके लिए गुरुको इन सभी प्रकारके परिग्रहोंका पूर्ण त्याग करना पड़ता है। यह अपरिग्रह दशा तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उस परिग्रहको बढ़ानेवाले खेती तथा व्यापार आदि आरम्भोंका त्याग नहीं किया जाता, इसलिये अपरिग्रह दशा प्राप्त करनेके लिए गुरुको सब प्रकारके आरम्भोंका त्याग करना पड़ता है। यह निरारम्भ दशा भी तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयोंकी अधीनतासे मुक्त नहीं हुआ जाता। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों और मनके विषयोंको मिलाकर सब विषयोंकी संख्या अट्ठाईस होती है अर्थात् आठ प्रकारके स्पर्श, पाँच प्रकारके रस, दो प्रकारके गन्ध, पाँच प्रकारके रस, सात प्रकारके स्वर और मनका विषय एक इस तरह अट्ठाईस प्रकारके विषय हैं—इनके प्राप्त करनेकी आकांक्षाको विषयाशा कहते हैं। निरारम्भ दशा प्राप्त करनेके लिए उस विषयाशाकी अधीनतासे दूर रहना पड़ता है। अथवा जब तक विषयाकी आशा नहीं छूटती तब तक आरम्भ नहीं छूटता, जब तक आरम्भ नहीं छूटता, तब तक परिग्रह नहीं छूटता और जब तक परिग्रह नहीं छूटता तब

तक ज्ञान, ध्यान, तपमें लीनता नहीं हो सकती। अतएव इनमें लीनता प्राप्त करनेके लिए गुरुको सर्वप्रथम विषयोंकी आकांक्षाका परित्याग करना होता है। जैनागममें पांच महाव्रत, पांच समिति, पञ्चेन्द्रिय दमन, छह आवश्यक और भूमिशयन आदि शेष सात गुण इन अट्ठाईस मूलगुणोंको धारण करनेवाले गुरुको ही सद्गुरु माना गया है। उसीकी श्रद्धासे ही सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह सम्यग्दर्शनमें विषयभूत देव, शास्त्र और गुरुका सामान्य स्वरूप कहा है ॥ १० ॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह,—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शनं। 'असंशया' निशंकितत्वधर्मोपेता। किंविशिष्टा सती? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत्? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायसं तच्च तदम्भश्च पानीयं तदिव तद्वत् खड्गादिगतपानीयवदित्यर्थः क्व[1] साकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' संसारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन्। केनोल्लेखेनेत्याह- 'इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्वं। 'ईदृशमेव' उक्तप्रकारेणैव लक्षणेन लक्षितं। 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्नं न। 'न चान्यथा' उक्तलक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षितं, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥ ११ ॥

अब सम्यग्दर्शनके निःशङ्कितत्व नामक गुणका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

इदमेवेति—(**तत्त्वं**) आप्त, आगम और तपस्वी रूप तत्त्व अथवा जीवाजीवादि तत्त्व (**इदमेव**) यही है (**ईदृशमेव**) ऐसा ही है (**अन्यत् न**) अन्य नहीं है (**च**) और (**अन्यथा न**) अन्य प्रकार नहीं है (**इति**) इस तरह (**सन्मार्गे**) आप्त, आगम और गुरुके प्रवाह अथवा समीचीन मोक्षमार्गके विषयमें (**आयसाम्भोवत्**) लोहेके पानीके समान (**अकम्पा**) निश्चल (**रुचिः**) श्रद्धा (**असंशया**) निःशङ्कितत्व गुण [**अस्ति**] है।

टीकार्थ—'सद्भिः मृग्यते अन्विष्यते इति सन्मार्गः आप्तागमगुरुप्रवाहः तस्मिन्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये सत्पुरुषोंके द्वारा जिसकी

---

१. क्व सा अकम्पेत्याह घ०।

खोज की जाय वह सम्मार्ग है, इस तरह सन्मार्गका अर्थ आप्त, आगम और गुरुका प्रवाह है [अथवा 'संश्चासौ मार्गः सन्मार्गः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मोक्षका समीचीन मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र है] रुचिका अर्थ सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रतीति ये सब सम्यग्दर्शनके नामान्तर कहे जाते हैं। जिस प्रकार तलवार आदि पर चढ़ाया हुआ लोहेका पानी अकम्प-निश्चल होता है उसी तरह सन्मार्गके विषयमें तत्त्व—आप्त, आगम और तपस्वी अथवा जीवाजीवादिका स्वरूप यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है और अन्य प्रकार नहीं है ऐसी जो अकम्प-निश्चल श्रद्धा है वही सम्यदर्शनका निःशङ्कितत्त्व गुण अथवा निःशङ्कितत्त्व अङ्ग कहलाता है।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थमें सम्यग्दर्शनका विषय आप्त, आगम और गुरुको माना गया है तथा ग्रन्थान्तरोंमें जीव, अजीव आदि तत्त्वोंको सम्यग्दर्शनका विषय बताया गया है इसलिये 'तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है' इस प्रकारकी जो दृढ़ श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शनका निःशङ्कितत्त्व नामका गुण है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणोंके द्वारा साध्य पदार्थोंके विषयमें तो संशय होता नहीं है किन्तु सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके विषयमें कदाचित् संशयकी संभावना रहती है। पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य ऐसे पदार्थोंके विषयमें आगमको प्रमाण मानकर संशयको उत्पन्न नहीं होने देता। वह ऐसे पदार्थोंको वीतराग-सर्वज्ञ-देवकी आज्ञामात्रसे स्वीकृत करता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी यह श्रद्धाविषयक दृढ़ता तलवार आदिपर चढ़ाये हुए लोहेके पानीके समान निश्चल रहती है, वह किसी भी प्रकारके लौकिक और पारलौकिक प्रलोभनोंसे विचलित नहीं होती। कुछ ग्रन्थकारोंने सात प्रकारके भयोंसे सन्मार्गविषयक श्रद्धामें चञ्चलता नहीं होनेको सम्यग्दर्शनका निःशङ्कितत्त्व गुण माना है॥ ११॥

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता॥ १२॥

'अनाकांक्षणा स्मृता' निष्कांक्षितत्वं निश्चितं। कासौ? 'श्रद्धा'। कथंभूता? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां। अथवा न आस्था अनास्था। तस्यां

१. सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुतत्त्वमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या॥ २३॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा सा [1]चाप्यनाकांक्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचिः ? 'सुखे' वैषयिके। कथंभूते ? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य। तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ॥ १२ ॥

अब सम्यग्दर्शनमें निःकाङ्क्षितत्त्व गुणको दिखलाते हुए कहते हैं—

कर्मेति—(**कर्मपरवशे**) कर्मोंके अधीन (**सान्ते**) अन्तसे सहित (**दुःखैः अन्तरितोदये**) दुःखोंसे मिश्रित अथवा बाधित और (**पापबीजे**) पापके कारण (**सुखे**) विषयसम्बन्धी सुखमें जो (**अनास्था श्रद्धा**) अरुचिपूर्ण श्रद्धा है वह (**अनाकाङ्क्षणा**) निःकाङ्क्षितत्त्व नामका गुण (**स्मृता**) माना गया है।

टीकार्थ--अनास्था-श्रद्धाका व्याख्यान दो प्रकारका है। **'न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्यां सा अनास्था'** जिसमें नित्यत्वकी बुद्धि नहीं है, ऐसा समास-कर अनास्थाको श्रद्धाका विशेषण बनाया गया है।

इस पक्षमें अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदोंको असमस्त—समास रहित स्वीकृत किया गया है। और दूसरे पक्षमें **'न आस्था अनास्था अरुचिरित्यर्थः', 'तस्यां तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा'**—अरुचिमें अथवा अरुचिके द्वारा होनेवाली श्रद्धा, ऐसा समास कर अनास्था और श्रद्धा इन दोनों पदोंको समस्त—समास सहित स्वीकृत किया है। इसका अर्थ होता हैं—अरुचिपूर्व श्रद्धा। विषयसम्बन्धी सुख कर्मोंके अधीन है कर्मोंकी उदयादि अवस्थाके अनुसार होता है, अन्तसे सहित है, इसका उदय मानसिक तथा शारीरिक दुःखोंसे मिला रहता है अथवा इसका उदय उपर्युक्त दुःखोंसे बाधित रहता है, तथा पापका कारण है—अशुभकर्मोंके बन्ध का निमित्त है ऐसे सुखमें जो शाश्वत बुद्धिसे रहित श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शनका निःकांक्षितत्व गुण है अथवा उपर्युक्त विषयसम्बन्धी सुखमें जो अरुचिपूर्ण श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शका निःकाङ्क्षितत्व नामका गुण है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन धारणकर उसके फलस्वरूप किसी सांसारिक सुखकी आकांक्षा नहीं रखना सम्यग्दर्शनका निःकांक्षितत्वगुण है। इस गुणका धारक जीव विचार करता है कि मैं जिस सांसारिक सुखकी आकांक्षा करता हूँ वह मेरे अधीन न होकर कर्मोंके अधीन है, कर्मोंके तीव्र, मन्द उदयके समय घटता बढ़ता रहता है। अन्तसे सहित है, संसारमें इन्द्र और चक्रवर्तीके सुखकी

१. सा चानाकाङ्क्षणेति घ०।

प्रधानता है परन्तु वह भी अवधिपूर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है। इस सांसारिक सुखके बीचमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःख मिश्रित हैं अथवा बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। साथ ही पापबन्धका कारण है[1] इसलिये उसे अशाश्वत-अनित्य समझकर उसकी इच्छा नहीं करना चाहिये अथवा इस अस्वाधीन विनश्वर सुखकी क्या इच्छा करना है। मेरा लक्ष्य तो मोक्षका शाश्वत सुख प्राप्त करनेका है। इस सांसारिक सुखके प्रलोभनसे मुझे दूर रहना चाहिये। ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव अपने निःकांक्षितत्व गुणको सबल बनाता है[2]॥ १२॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥ १३॥

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यतां नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—'गुणप्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकत्वलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यशरीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगुप्सेति॥ १३॥

अब सम्यग्दर्शनके निर्विचिकित्सा गुणका निरूपण करते हुए कहते हैं—

स्वभावत इति—(**स्वभावतः**) स्वभावसे (**अशुचौ**) अपवित्र, किन्तु (**रत्नत्रयपवित्रिते**) रत्नत्रयसे पवित्र (**काये**) शरीरमें (**निर्जुगुप्सा**) ग्लानि-रहित (**गुणप्रीतिः**) गुणोंसे प्रेम करना (**निर्विचिकित्सिता**) निर्विचिकित्सागुण (**मता**) माना गया है।

टीकार्थ—'निर्गता विचिकित्सा यस्मात् स निर्विचिकित्सः, तस्य भावो निर्विचिकित्सता'—इस विग्रहके अनुसार विचिकित्सा ग्लानिको कहते हैं, जो

१. सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा॥ ७६॥
—प्रवचनसार

२. इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाङ्क्षेत्॥ २४॥
—पुरुषार्थ०

ग्लानिसे रहित है उसे निर्विचिकित्स कहते हैं और उसका जो भाव है उसे निर्विचिकित्सता कहते हैं। मनुष्यका यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है अर्थात् माता-पिताके रजवीर्यरूप अशुद्ध उपादानसे निर्मित होनेके कारण अपवित्र है। परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके द्वारा पवित्रताको प्राप्त कराया जाता है—पूज्यताको प्राप्त कराया जाता है। ऐसे शरीरमें गुणके कारण अर्थात् 'यह मनुष्यका शरीर ही रत्नत्रयके आधारभूत मोक्षका साधक है, अन्य देवादिकका शरीर मोक्षका साधक नहीं है।' इस विशिष्ट गुणके कारण जो ग्लानि रहित प्रीति होती है वह **'निर्विचिकित्सता'** नामका गुण माना गया है।

विशेषार्थ—मनुष्यका अपवित्र शरीर भी रत्नत्रयके द्वारा पूज्यताको प्राप्त हो जाता है यह विचार कर मुनियोंके मलिन शरीरमें ग्लानि नहीं करना, किन्तु 'मोक्षकी प्राप्ति इसी शरीरसे होती है अन्य देवादिकके शरीरसे नहीं, इस गुणके कारण उसमें प्रीति रखना **'निर्विचिकित्सा'** गुण है। 'जुगुप्सा,' यह नोकषायका एक भेद है, इसके उदयसे मलिन पदार्थोंमें ग्लानि होती है। सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थके बाह्यरूपकी ओर दृष्टि न देकर उसके अन्तररूपकी ओर दृष्टि देता है। इस अन्तर् दृष्टिके कारण ही वह शरीरके ग्लानिजनक रूपसे विमुख हो उसके गुणोंमें प्रीति रखता है[1] ॥ १३ ॥

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शनं। का ? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयःसाधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व ? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते ? 'पथि' मार्गे। केषां ? 'दुःखानां'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्तिः' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नखच्छोटिकादिना[2] अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्तिः'

१. क्षुत्तृष्णशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५ ॥
—पुरुषार्थ०

२. नखच्छोटिकादिना प्रशंसा घ०।

न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तनं वाचा संस्तवनं यत्र । मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणममूढं सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

आगे सम्यग्दर्शनके अमूढदृष्टित्व गुणको प्रकट करते हुए कहते हैं—

कापथ इति—(**या दृष्टिः**) जो दृष्टि, (**दुःखानां**) दुःखोंके (**पथि**) मार्गस्वरूप (**कापथे**) मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गमें और (**कापथस्थे अपि**) कुमार्गमें स्थित जीवमें भी (**असम्मतिः**) मानसिक सम्मतिसे रहित (**असंपृक्तिः**) शारीरिक संपर्कसे रहित और (**अनुत्कीर्तिः**) वाचनिक प्रशंसासे रहित है वह (**अमूढा दृष्टिः**) मूढ़ता रहित दृष्टि अर्थात् अमूढ दृष्टि नामका गुण (**उच्यते**) कहा जाता है ।

टीकार्थ—'**कुत्सितः पन्थाः कापथम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार कापथका अर्थ कुमार्ग होता है । मिथ्यादर्शनादिक, संसारके मार्ग होनेसे कुमार्ग कहलाते हैं, ऐसे कुमार्गमें तथा इस कुमार्गमें स्थित मिथ्यादर्शनादिके आधारभूत किसी जीवके विषयमें मनसे ऐसी सम्मति नहीं करना कि यह कल्याणका मार्ग है, शरीरसे—नखोंकी चुटकी बजाकर, अङ्गुलियां चलाकर, अथवा मस्तक हिलाकर उसकी प्रशंसा नहीं करना तथा वचनसे उसकी स्तुति नहीं करना अमूढदृष्टि गुण कहलाता है ।

विशेषार्थ—लौकिक चमत्कारपूर्ण कुमार्गमें और कुमार्गमें स्थित होनेपर भी फलते फूलते हुए किसी कुमार्गस्थ—मिथ्यादृष्टि जीवको देखकर उसके विषयमें मनमें ऐसा भाव नहीं लाना कि यह मार्ग अच्छा है अथवा इस मार्गका पालन करने वाला मनुष्य अच्छा है, शरीरसे उसकी प्रशंसा नहीं करना और वचनसे उसकी स्तुति नहीं करना अमूढदृष्टित्व नामका गुण है । सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धालु तो होता है पर अन्धश्रद्धालु नहीं होता । वह प्रत्येक कार्य, विचार-पूर्वक ही करता है । किसी मिथ्यामार्गी जीवको फलता-फूलता हुआ देखकर वह ऐसा विचार करता है कि इसका यह वैभव पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मका फल है न कि वर्तमानमें सेवित मिथ्यामार्गका, इस मिथ्यामार्गकी उपासनाका फल जब इसे प्राप्त होगा तब इसकी भी संकटापन्न दशा होगी और समीचीन मार्गका आश्रय करनेपर अपनी वर्तमान कालकी संकटापन्न दशाको देखकर ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि समीचीन मार्गका आश्रय करना व्यर्थ है किन्तु ऐसा विचार करना चाहिये कि इस समय मेरे पूर्वोपार्जित पापकर्मका फल

चल रहा है, उसीके कारण मेरी संकटापन्न दशा है। समीचीन मार्गके आश्रयका फल तो सुखरूप ही होता है दुःखरूप नहीं[1] ॥ १४ ॥

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह—

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

तदुपगूहनं वदन्ति यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः। कां ? 'वाच्यतां' दोषं। कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य। किंविशिष्टस्य ? 'स्वयं शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य। कथंभूतां ? 'बालाशक्तजनाश्रयां' बालोऽज्ञः, अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः। अयमर्थ—हिताहितविवेकविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् प्रच्छादनं तदुपगूहनमिति ।१५।

इसके आगे सम्यग्दर्शनके उपगूहन गुणका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

स्वयमिति—(**स्वयं**) स्वभावसे (**शुद्धस्य**) निर्मल (**मार्गस्य**) रत्नत्रयरूप मार्गकी (**बालाशक्तजनाश्रयाम्**) अज्ञानी तथा असमर्थ मनुष्योंके आश्रयसे होनेवाली (**वाच्यतां**) निन्दाको (**यत्**) जो (**प्रमार्जन्ति**) प्रमार्जित करते हैं—दूर करते हैं (**तत्**) उनके उस प्रमार्जनको (**उपगूहनम्**) उपगूहन गुण (**वदन्ति**) कहते हैं।

टीकार्थ—रत्नत्रयरूप मोक्षका मार्ग स्वभावसे निर्मल हैं परन्तु कदाचित् अज्ञानी अथवा व्रतादिके आचरण करनेमें असमर्थ मनुष्योंके द्वारा उसमें यदि कोई दोष उत्पन्न होता है—लोकापवादका अवसर आता है तो सम्यग्दृष्टि जीव उसका निराकरण करते हैं अर्थात् उस दोषको छिपाते हैं। उनकी इस क्रियाको उपगूहन गुण कहते हैं। जो हित और अहितके विवेकसे रहित है ऐसे अज्ञानी जीवको बाल कहते हैं तथा बाल्यावस्था, वृद्धावस्था या रुग्णावस्थाके कारण जो व्रतोंका निरतिचार पालन करनेमें असमर्थ है उसे अशक्त कहते हैं। ऐसे बाल और अशक्त मनुष्योंके आश्रयसे रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक पुरुषमें आये हुए दोषका प्रच्छादन करना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है।

---

१. लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६ ॥
—पुरुषार्थ०

विशेषार्थ—धर्म और धर्मके धारक जीवोंकी निन्दासे दूर रहना सम्यग्दृष्टिका प्रमुख कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी किसीको गिरानेका अभिप्राय नहीं रखता। धर्मात्मा जीवोंका यदि कोई दोष उसकी दृष्टिमें आता है तो उन्हें प्रेमपूर्वक एकान्तमें समझाकर उस दोषको दूर करनेका प्रयत्न करता है। यदि इस प्रकारका प्रयत्न करनेपर भी कोई धृष्टतावश अपना दोष नहीं छोड़ता है तो मार्गकी रक्षाके लिए उसके उस दोषको प्रकट भी करता है[1]। इस अङ्गका दूसरा नाम उपवृंहण भी है जिसका अर्थ आत्मगुणोंकी वृद्धि करना होता है॥१५॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

'स्थितीकरणं' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थितकरणं[2] स्थितीकरणमुच्यते। कैः ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः। किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापनं' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापनं। केषां ? 'चलतां'। कस्मात् ? दर्शनाच्चरणाद्वापि। कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनं ? 'धर्मवत्सलैः' धर्मवात्सल्ययुक्तैः॥ १६ ॥

अब इसके बाद सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण गुणको दिखलाते हुए कहते हैं—

दर्शनादिति—(**धर्मवत्सलैः**) धर्मस्नेही जनोंके द्वारा (**दर्शनात्**) सम्यग्दर्शनसे (**वा**) अथवा (**चरणात् अपि**) चारित्रसे भी (**चलतां**) विचलित होते हुए पुरुषोंका (**प्रत्यवस्थापनं**) फिरसे पहलेकी तरह स्थित किया जाना (**स्थितिकरणं**) स्थितिकरण गुण (**उच्यते**) कहा जाता है।

टीकार्थः—'स्थितीकरणम्'में जो 'च्वि' प्रत्यय हुआ है वह 'अभूत तद्भाव' अर्थमें हुआ है इसलिये (**'अस्थितस्य स्थितिकरणं स्थितीकरणं'**) ऐसा उसका विग्रह होता है। अस्थित—दर्शन आदिसे विचलित होते हुए पुरुषका फिरसे स्थित कर देना स्थितीकरण है। कोई जीव बाह्य आचरणका यथायोग्य पालन करता हुआ भी दर्शन—श्रद्धासे भ्रष्ट है, कोई जीव श्रद्धासे दृढ़ होता हुआ भी शारीरिक अशक्ति या प्रमादके कारण बाह्य आचरणसे भ्रष्ट है और कोई जीव

---

१. धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥
—पुरुषार्थ०

२. स्थितस्य करणं घ०।

कर्मोदयकी तीव्रताके कारण श्रद्धा और आचरण दोनोंसे भ्रष्ट है। इन तीनों प्रकारके जनोंका, धर्मसे स्नेह रखने वाले पुरुषोंके द्वारा फिरसे उसी धर्ममें स्थित किया जाना स्थितीकरणगुण कहलाता है।

विशेषार्थ :—धर्मसे स्नेह रखने वाले पुरुष सदा इस बातका ध्यान रखते हैं कि हमारा कोई सहधर्मी बन्धु, धर्मकी श्रद्धा और आचरणसे विचलित तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा आभास उन्हें मिलता है तो वे पूर्ण प्रयत्नसे अर्थात् उपदेशसे, शारीरिक सेवासे और धनादिककी सहायतासे उस विचलित होते हुए बन्धुको फिरसे धर्ममें स्थित करते हैं। उनकी इस क्रियाको स्थितीकरणगुण कहते हैं। इस स्थितीकरणगुणके द्वारा ही सहधर्मी बन्धुओंका संगठन स्थिर रहता है। यह स्थितीकरणगुण दूसरोंके लिए ही नहीं है किन्तु अपने लिए भी है। परीषह या उपसर्गके कारण कदाचित् अपने परिणाम धर्मसे विचलित हो रहे हों तो उस समय परीषह और उपसर्ग सहन करने वाले पूर्व पुण्य पुरुषोंके चरित्रका स्मरणकर अपने आपका भी स्थितीकरण करना चाहिए[1] ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

'वात्सल्यं' सधर्मिणि स्नेहः। 'अभिलप्यते' प्रतिपाद्यते। कासौ ? 'प्रतिपत्तिः' पूजाप्रशंसादिरूपा। कथं ? 'यथायोग्यं' योग्यानतिक्रमेण अञ्जलिकरणाभिमुखगमन प्रशंसावचनोपकरणसम्प्रदानादिलक्षणा। कान् प्रति ? 'स्वयूथ्यान्' जैनान् प्रति। कथंभूता ? 'सद्भावसनाथा' सद्भावेनावक्रतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यर्थः। अत एव 'अपेतकैतवा' अपेतं विनष्टं कैतवं माया यस्याः ॥ १७ ॥

आगे सम्यग्दर्शनके वात्सल्यगुणका स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं —

स्वयूथ्यानिति—(**स्वयूथ्यान् प्रति**) अपने सहधर्मी बन्धुओंके समूहमें रहनेवाले लोगोंके प्रति (**सद्भावसनाथा**) अच्छे भावोंसे सहित और (**अपेतकैतवा**) मायासे रहित (**यथायोग्यं**) उनकी योग्यताके अनुसार (**प्रतिपत्तिः**) आदर-सत्कार आदि करना (**वात्सल्यं**) वात्सल्यगुण (**अभिलप्यते**) कहा जाता है।

---

१. कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥ २८ ॥
—पुरुषार्थ०

टीकार्थ—'स्वयूथे भवाः स्वयूथ्यास्तान्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने सहधर्मी भाइयोंके समूहमें जो रहते हैं उन्हें स्वयूथ्य कहते हैं। ऐसे लोगोंके प्रति सद्भावसे सहित अर्थात् सरलतासे सहित—मनोयोग पूर्वक और मायाचारसे रहित उनकी योग्यताके अनुसार जो प्रतिपत्ति होती है हाथ जोड़ना, संमुख जाना, प्रशंसाके वचन कहना तथा उपकरण आदिके देने रूप जो प्रवृत्ति होती है वह वात्सल्यगुण कहलाता है। **'वत्सलस्य भावो वात्सल्यं'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वात्सल्यका अर्थ सहधर्मी भाईयोंके प्रति धार्मिक स्नेहका होना है।

विशेषार्थ—सहधर्मी भाईयोंके प्रति कपटरहित आन्तरिक स्नेह होना वात्सल्यगुण है। इस गुणके कारण, जब कोई सहधर्मी बन्धु अपने समीप आता है तब उसे हाथ जोड़ना, सन्मुख जाकर स्वागत करना, प्रशंसाके वचन कहना, पाछी, कमण्डलु तथा शास्त्ररूप उपकरण देना आदि सन्मानसूचक प्रवृत्ति होती है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि भी अपने सहधर्मी बन्धुओंके सुख-दुःखमें संमिलित होकर उनके प्रति हार्दिक स्नेह प्रकट करता है। उनपर कदाचित् कोई संकट आता है तो शक्तिभर उस सकटका निवारण करता है। परस्परके प्रेमभावसे अपने संगठनको सुदृढ़ रखता है[२]।॥ १७॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाह—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

'प्रभावना' स्यात्। कासौ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः'। ❀ जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु[१] ❀ तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणं। कथं? 'यथायथं' स्नपनदान-पूजाविधानतपोमंत्रतंत्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण। किं कृत्वा? 'अपाकृत्य' निराकृत्य। कां? 'अज्ञानतिमिरव्याप्ति'❀ जिनमतात्परेषां यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्ति ❀ प्रसरम्॥ १८॥

अब सम्यग्दर्शनके प्रभावनागुणका निरूपण करते हुए कहते हैं—

अज्ञा ति—(अज्ञानतिमिरव्याप्तिम् अज्ञानरूपी अन्धकारके विस्ता-

---

१. अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मसु परमवात्सल्यमालम्ब्यम्॥ २९॥ पुरुषार्थ०

२. घ पुस्तके 'तु' नास्ति। सम्पादनादिलक्षणा ख।

३. पुष्पमध्यगतः पाठः क-पुस्तके नास्ति।

रको (अपाकृत्य) दूरकर (यथायथं) अपनी शक्तिके अनुसार (जिनशासन-माहात्म्यप्रकाशः) जिनशासनके माहात्म्यको प्रकट करना (प्रभावना) प्रभावनागुण (स्यात्) है।

टीकार्थ—जैनधर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियोंमें, अभिषेक, दान, पूजाविधान, तप, मन्त्र तथा तन्त्र आदिके विषयमें जो अज्ञानरूप अन्धकार फैल रहा है उसे अपनी शक्तिका उल्लङ्घन न कर दूर करते हुए, जिनशासनकी महिमा प्रकट करना—उसके तप तथा ज्ञान आदिका अतिशय बतलाना प्रभावना अङ्ग है।

विशेषार्थ—अन्य लोगोंके, जिनधर्म विषयक अज्ञानको दूर कर उन्हें धर्मका वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। आज देव, शास्त्र और गुरुके स्वरूपको लेकर जनसाधारणमें अज्ञान छाया हुआ है। रागी, द्वेषी देवोंकी आराधना की जाती है, वीतराग जिनेन्द्रदेवकी नग्न मूर्तिका विरोध किया जाता है, जिन-शास्त्रोंमें वर्णित अहिंसाधर्मका उपहास किया जाता है और नग्नमुद्राके धारक निर्ग्रन्थ गुरुओंके नगरप्रवेश आदि पर आपत्ति की जाती है। इन सबका मूलकारण अज्ञानभाव है। सम्यग्दृष्टि जीव लोगोंके इस अज्ञानभावको दूरकर जिनशासनकी महिमाको प्रकट करता है। साथ ही इस बातका ध्यान रखता है कि हमारा कोई आचरण ऐसा न हो कि उसके कारण जैनधर्मका अपवाद होनेका प्रसङ्ग आजावे। वह सदा ऐसा आचरण करता है कि उसे देखकर लोग जैनधर्मके प्रति आस्थावान् होते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष रत्नत्रयके तेजसे आत्माको प्रभावित करता है और दान, तप, जिनपूजा और विद्याके अतिशयसे जिनधर्मकी प्रभावना बढ़ाता है[1] ॥ १८॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टगुणानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह—

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

---

१. आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ —पुरुषा०

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टांगान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेंऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यतां दृष्टान्ततां गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः। द्वितीयेंऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यतां गता मता। तृतीयेंऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यतां गतो मतः। तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यतां गता मता। ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यतां गतो मतः। ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेणः स्थितीकरणे लक्ष्यतां गतो मतः। विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमारः शेषयोर्वात्सल्यप्रभावनयोर्लक्ष्यतां गतौ मतौ। गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतो[1]क्तात्मव्यक्तिबहुत्वापेक्षया।

अब ऊपर कहे हुए निःशङ्कितत्त्वादि आठ गुणोंके मध्यमें कौन पुरुष किस गुणके द्वारा प्रसिद्ध हुआ है यह दिखलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—

तावदीति—(तावत्) क्रमसे [प्रथमे] प्रथम अङ्गमें (अञ्जनचोरः) अञ्जन चोर [स्मृतः] स्मृत है (ततः) तदन्तर द्वितीय अङ्गमें (अनन्तमती) अनन्तमती (स्मृता) स्मृत है (तृतीये अपि अङ्गे) तृतीय अङ्गमें (उद्दायनः) उद्दायन नामका राजा [मतः] माना गया है (तुरीये) चतुर्थ अङ्गमें (रेवती) रेवती रानी (मता) मानी गई है (ततः) तदन्तर पञ्चम अङ्गमें (जिनेन्द्रभक्तः) जिनेन्द्रभक्त सेठ (ततः अन्यः) उसके बाद षष्ठ अङ्गमें (वारिषेणः) वारिषेण राजकुमार (ततः परः) उसके बाद (शेषयोः) सप्तम और अष्टम अङ्गमें (विष्णुश्च) विष्णुकुमार मुनि और (वज्रनामा च) वज्रकुमार मुनि (लक्ष्यतां गताः) प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनके जो निःशङ्कितत्त्व आदि आठ अङ्ग कहे गये हैं उनमेंसे पहले निःशङ्कित अङ्गमें अञ्जन चोर, दूसरे निःकाङ्क्षतत्त्व अङ्गमें अनन्तमती रानी, तीसरे निर्विचिकित्सत्व अङ्गमें उद्दायन राजा, चौथे अमूढदृष्टित्वअङ्गमें रेवती रानी, पांचवें उपगूहन अङ्गमें जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठवें स्थितीकरण अङ्गमें वारिषेण, सातवें वात्सल्य अङ्गमें विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अङ्गमें वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं।

तत्र निःशंकितत्वेंऽजनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा।

यथा—धन्वंतरिविश्वलोमौ सुकृत[2]कर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ संजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो [3]यमदग्निस्ताभ्यां तपसश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो

१. दृष्टान्तभूतोक्तत्वाद् व्यक्ति घ०। २. स्वकृत घ०। ३. जमदग्नि घ०।

दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठंतु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चलितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता तस्मै,[1] कथितं च तवेयं सिद्धाऽन्यस्य च पंचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति। सोमदत्तपुष्पवटुकेन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः—क्व भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति। तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवंदनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि। ममेत्थं विद्यालाभः संजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्यां देहि येन त्वया सह पुष्पादिकं गृहीत्वा वंदनाभक्तिं करोमीति। ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः। तेन च कृष्णचतुर्दश्यां श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपादं दर्भशिक्यं बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गंधपुष्पादिकं दत्त्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पंचनमस्कारानुच्चार्य छुरिकयैकैकं पादं छिंदताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन संचिंतितं—यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्यं भवति तदा मरणं भवतीति शंकितमना वारंवारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालस्य राज्ञः कनकाराज्ञीहारं दृष्ट्वांजनसुंदर्या विलासिन्या रात्रावागतोंजनचोरो भणितः। यदि मे कनकाराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्वं नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वांऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोंऽगरक्षैः कोट्टपालैश्च ध्रिय[2]माणो हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्यं छिन्नं शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणितं—ममादेशं देहीति। तेनोक्तं—जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मां नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः[3]। पूर्ववृत्तांतं कथयित्वा तेन भणितं—यथेयं सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारणमुनिसन्निधौ तपो गृहीत्वा कैलासे केवलमुत्पाद्य मोक्षं गतः॥ १॥

अञ्जन चोरकी कथा

धन्वन्तरि और विश्वलोमा पुण्यकर्मके प्रभावसे अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नामके देव हुए। और एक दूसरेके धर्मकी परीक्षा करनेके लिए पृथिवीलोकपर आये। तदनन्तर उन्होंने यमदग्नि ऋषिको तपसे विचलित किया। मगध देशके राजगृह नगरमें जिनदत्त नामका सेठ उपवासका नियम लेकर कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिको श्मसानमें कायोत्सर्गसे स्थित था। उसे देखकर अमितप्रभ देवने विद्युत्प्रभसे कहा कि हमारे मुनि दूर रहें, इस गृहस्थको ही तुम ध्यानसे विचलित करो। तदनन्तर विद्युत्प्रभ देवने उसपर अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, फिर भी वह

१. तस्मै नास्ति घ पुस्तके। २. गृह्यमाणः इति पाठांतरम्। ३ धृत इत्यन्यत्र।

ध्यानसे विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर प्रातःकाल अपनी मायाको समेटकर विद्युतप्रभने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे आकाशगामिनी विद्या दी। विद्या प्रदान करते समय उससे कहा कि तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो चुकी है, दूसरेके लिए पञ्चनमस्कार मन्त्रकी अर्चना और आराधनाकी विधिसे सिद्ध होगी। जिनदत्तके यहाँ सोमदत्त नामका एक ब्रह्मचारी वटु रहता था, जो जिनदत्तके लिए फूल लाकर देता था। एक दिन उसने जिनदत्त सेठसे पूछा कि आप प्रातःकाल ही उठकर कहाँ जाते हैं? सेठने कहा कि मैं अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दनाभक्ति करनेके लिये जाता हूँ। 'मुझे इस प्रकारसे आकाशगामिनी विद्याका लाभ हुआ है' सेठके ऐसा कहनेपर सोमदत्त वटुने कहा कि मुझे भी यह विद्या देओ, जिससे मैं भी तुम्हारे साथ पुष्पादिक लेकर वन्दना भक्ति करूँगा। तदनन्तर सेठने उसके लिए विद्या सिद्ध करनेकी विधि बतलाई।

सोमदत्त वटुने कृष्ण पक्षकी चतुर्दशीको रात्रिको श्मशानमें वटवृक्षकी पूर्व-दिशावाली शाखापर एकसौ आठ रस्सियोंका एक मूंजका सींका बांधा, उसके नीचे सब प्रकारके पैने शस्त्र ऊपरकी ओर मुखकर रक्खे। पश्चात् गन्ध, पुष्प आदि देकर सींकेके बीच प्रविष्ट हो उसने बेला—दो दिनके उपवासका नियम लिया। फिर पञ्चनमस्कार मन्त्रका उच्चारणकर छुरीसे सींकेकी एक एक रस्सीको काटनेके लिए तैयार हुआ। परन्तु नीचे चमकते हुए शस्त्रोंके समूहको देखकर वह डर गया तथा विचार करने लगा कि यदि सेठके वचन असत्य हुए तो मरण हो जावेगा। इस प्रकार शङ्कित चित्त होकर वह सींकेपर बार-बार चढ़ने और उतरने लगा।

उसी समय राजगृही नगरीमें एक अञ्जन सुन्दरी नामकी वेश्या रहती थी। एक दिन उसने कनकप्रभ राजाकी कनकारानीका हार देखा। रात्रिको जब अञ्जन चोर उस वेश्याके यहाँ गया तब उसने कहा कि यदि तुम मुझे कनका रानीका हार दे सकते हो तो मेरे भर्ता बन सकते हो अन्यथा नहीं। तदनन्तर अञ्जन चोर रात्रिमें हार चुराकर आ रहा था कि हारके प्रकाशसे वह जान लिया गया। अंगरक्षकों और कोटपालने उसे पकड़ना चाहा परन्तु वह हार छोड़कर भाग गया। वटवृक्षके नीचे सोमदत्त वटुकको देखकर उसने उससे सब समाचार पूछा तथा उससे मन्त्र लेकर वह सींकेपर चढ़ गया। उसने निःशङ्कित होकर उस विधिसे एक ही बारमें सींकेकी सब रस्सियां काट दीं। ज्यों ही वह शस्त्रोंके ऊपर गिरने लगा त्यों ही विद्या सिद्ध हो गई। सिद्ध हुई विद्याने उससे कहा कि मुझे आज्ञा दो। अञ्जन चोरने कहा कि मुझे जिनदत्त

सेठके पास ले चलो। उस समय जिनदत्त सेठ सुदर्शन मेरुके चैत्यालयमें स्थित था। विद्याने अञ्जन चोरको ले जाकर सेठके आगे खड़ा कर दिया। अपना पिछला वृत्तान्त कह कर अञ्जनचोरने सेठसे कहा कि आपके उपदेशसे मुझे जिस प्रकार यह विद्या सिद्ध हुई है उसी प्रकार परलोककी सिद्धिके लिये भी आप मुझे उपदेश दीजिये। तदनन्तर चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके पास दीक्षा लेकर उसने कैलास पर्वत पर तप किया और केवलज्ञान प्राप्तकर वहींसे मोक्ष प्राप्त किया।

निःकांक्षितत्त्वेऽनंतमतीदृष्टांतोऽस्याः कथा।

अंगदेशे चंपानगर्य्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्ठी प्रियदत्तस्तद्भार्या अंगवती पुत्र्यनंतमती। नंदीश्वराष्टम्यां श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं। क्रीडयाऽनंतमती च ग्राहिता। अन्यदा संप्रदानकालेऽनंतमत्योक्तं—तात! मम त्वया ब्रह्मचर्यं दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्तं क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापितं। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीडा। ननु पुत्रि! नंदीश्वराष्टदिनान्येव व्रतं तव न सर्वदा दत्तं। सोवाच ननु तात! तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति। इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षां कुर्वंती स्थिता। यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आंदोलयंती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुंडलमंडित-नाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा। किमनया विना जीवितेनेति संचित्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपंती तेन सा नीता। आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्याः[1] समर्प्य महाटव्यां मुक्ता। तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामि मामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छंतीं भोक्तुमारब्धा। व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनाद्युपसर्गः कृतः। देवता काचिदियमिति भीतेन तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्नः सार्थवाहस्य समर्पिता। सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः। तेन चानीयायोध्याया कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता। ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा। नगरदेवतया तद्व्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः। तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता। रुदती सखेदं सा कमलश्रीक्षांतिकया[2] श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता। अथानंतमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वंदनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजश्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे संध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीहरणवार्तां कथितवान्। प्रभाते तस्मिन् वंदनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवित-प्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षांतिका[3] श्राविका

१. विद्यायाः घ०। २. कंतिका घ०। ३. कंतिका घ०।

जिनदत्तभार्यया आकारिता। सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता। वंदनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानंतमतीं स्मृत्वा गह्वरितहृदयेन गद्‌गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितं—यया गृहमंडनं कृतं तां मे दर्शयेति। ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः। अनंतमत्या चोक्तं तात! इदानीं मे तपो दापय, दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति। ततः कमलश्रीक्षांतिकापार्श्वे[1] तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः॥ २॥

अनन्तमतीकी कथा

अङ्ग देशकी चंपानगरीमें राजा वसुवर्धन रहते थे। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था। प्रियदत्त नामका सेठ था, उसकी स्त्रीका नाम अंगवती था और दोनोंके अनन्तमती नामकी पुत्री थी। एकवार नन्दीश्वर-अष्टाह्निक पर्वकी अष्टमीके दिन सेठने धर्मकीर्ति आचार्यके पादमूलमें आठ दिन तकका ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सेठने क्रीडावश अनन्तमतीको भी ब्रह्मचर्य व्रत लिवा दिया।

अन्य समय जब अनन्तमतीके विवाहका अवसर आया तब उसने कहा कि पिताजी! आपने तो मुझे ब्रह्मचर्यव्रत दिलाया था, इसलिये विवाहसे क्या प्रयोजन है? सेठने कहा—मैंने तो तुझे क्रीडावश ब्रह्मचर्य दिलाया था। अनन्तमतीने कहा कि व्रतरूप धर्मके विषयमें क्रीडा क्या वस्तु है? सेठने कहा—पुत्रि! नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनके लिये ही तुझे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था, न कि सदाके लियें। अनन्तमतीने कहा कि पिताजी! भट्टारक महाराजने तो वैसा नहीं कहा था। इस जन्ममें मेरा विवाह त्याग है। ऐसा कहकर वह समस्त कलाओंके विज्ञानकी शिक्षा लेती हुई रहने लगी।

एक बार जब वह पूर्ण यौवनवती हो गई तब चैत्र मासमें अपने घरके उद्यानमें झूला झूल रही थी। उसी समय विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित किन्नरपुर नगरमें रहनेवाला कुण्डलमण्डित नामक विद्याधरोंका राजा अपनी सुकेशी नामक स्त्रीके साथ आकाशमें जा रहा था। उसने उस अनन्तमतीको देखा। देखते ही वह विचार करने लगा कि इसके बिना जीवित रहनेसे क्या प्रयोजन है? ऐसा विचारकर वह अपनी स्त्रीको तो घर छोड़ आया और शीघ्र ही आकर विलाप करती हुई अनन्तमतीको हर ले गया। जब वह आकाशमें जा रहा था तब उसने अपनी स्त्री सुकेशीको वापिस आती देखा। देखते ही वह भयभीत हो गया और उसने पर्णलघु विद्या देकर अनन्तमतीको

१. क्षांतिका घ०।

महाअटवीमें छोड़ दिया। वहाँ उसे रोती देख भीम नामक भीलोंका राजा अपनी वसतिमें ले गया और 'मैं तुम्हें प्रधान रानीका पद देता हूँ तुम मुझे चाहो' ऐसा कहकर रात्रिके समय उसके न चाहनेपर भी उपभोग करनेके लिए उद्यत हुआ। व्रतके माहात्म्यसे वन देवताने उस भीलोंके राजाकी अच्छी पिटाई की। 'यह काई देवी है' ऐसा समझकर भीलोंका राजा डर गया और उसने वह अनन्तमती बहुतसे वनिजारोंके साथ ठहरे हुए पुष्पक नामक प्रमुख वनिजारेके लिये दे दी। प्रमुख वनिजारेने लोभ दिखाकर विवाह करनेकी इच्छा की, परन्तु अनन्तमतीने उसे स्वीकृत नही किया। तदनन्तर वह वनिजारा उसे लाकर अयोध्याकी कामसेना नामकी वेश्याको सौंप गया। कामसेनाने उसे वेश्या बनाना चाहा, पर वह किसी भी तरह वेश्या नहीं हुई। तदनन्तर उस वेश्याने सिंहराज नामक राजाके लिये वह अनन्तमती दिखलाई और वह राजा रात्रिमें उसे बलपूर्वक सेवन करनेके लिये उद्यत हुआ, परन्तु उसके व्रतके माहात्म्यसे नगर देवताने राजाके ऊपर उपसर्ग किया, जिससे डरकर उसने उसे घरसे निकाल दिया।

खेदके कारण अनन्तमती रोती हुई बैठी थी कि कमलश्री नामकी आर्यिकाने 'यह श्राविका है' ऐसा मानकर बड़े सम्मानके साथ उसे अपने पास रख लिया। तदनन्तर अनन्तमतीका शोक भुलानेके लिये प्रियदत्तसेठ बहुतसे लोगोंके साथ वन्दना भक्ति करता हुआ अयोध्या गया, और अपने साले जिनदत्त सेठके घर संध्याके समय पहुँचा। वहाँ उसने रात्रिके समय पुत्रीके हरणका समाचार कहा। प्रात काल होनेपर सेठ प्रियदत्त तो वन्दना भक्ति करनेके लिये गये। इधर जिनदत्त सेठकी स्त्री ने अत्यन्त गौरवशाली पाहुनेके निमित्त उत्तम भोजन बनाने और घरमें चौक पूरनेके लिये कमलश्री आर्यिकाकी श्राविकाको बुलवा लिया। वह श्राविका सब काम करके अपनी वसतिकामें चली गई। वन्दना भक्ति करके जब प्रियदत्त सेठ वापिस आये तब चौक देखकर उन्हें अनन्तमतीका स्मरण हो आया, उनके हृदय पर गहरी चोट लगी। गद्गद् वचनोंसे अश्रुपात करते हुए उन्होंने कहा कि जिसने यह चौक पूरा है उसे मुझे दिखलाओ। तदनन्तर वह श्राविका बुलाई गई। पिता और पुत्रीका मेल होनेपर जिनदत्त सेठने बहुत भारी उत्सव किया। अनन्तमतीने कहा कि पिताजी! अब मुझे तप दिला दो, मैंने एक ही भवमें संसारकी विचित्रता देख ली है। तदनन्तर कमलश्री आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर उसने बहुत काल तप किया। अन्तमें संन्यासपूर्वक मरणकर उसकी आत्मा सहस्रार स्वर्गमें देव हुई।

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टांतोऽस्य कथा ।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भरते [1]वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंसितस्तं परीक्षितुं वासवदेव उदुंवरकुष्ठ-कुथितं मुनिरूपं विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंधं बहुवमनं कृतवान् । दुर्गंधभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्दे-व्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा ! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निंदयतस्तं च प्रक्षालयतो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्गं गतः । उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्तिं गतः । प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ।

उद्दायन राजाकी कथा

एकबार अपनी सभामें सम्यग्दर्शनके गुणोंका वर्णन करते हुए सौधर्मेन्द्रने वत्स देशके रौरकपुर नगरके राजा उद्दायन महाराजके निर्विकिाचत्सित गुणकी बहुत प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करनेके लिये एक वासव नामका देव आया। उसने विक्रियासे एक ऐसे मुनिका रूप बनाया जिसका शरीर उदुम्बर कुष्ठसे गलित हो रहा था। उस मुनिने विधिपूर्वक खड़े होकर उसी राजा उद्दायनके हाथसे दिया हुआ समस्त आहार और जल मायासे ग्रहण किया। पश्चात् अत्यन्त दुर्गन्धित वमन कर दिया। दुर्गन्धके भयसे परिवारके सब लोग भाग गये, परन्तु राजा उद्दायन अपनी रानी प्रभावतीके साथ मुनिकी परिचर्या करता रहा। मुनिने उन दोनोंके ऊपर वमन कर दिया। 'हाय हाय मेरे द्वारा विरुद्ध आहार दिया गया है' इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए राजाने मुनि-का प्रक्षालन किया। अन्तमें देव अपनी मायाको समेटकर असली रूपमें प्रकट हुआ और पहलेका सब समाचार कहकर तथा राजाकी प्रशंसा कर स्वर्ग चला गया। उद्दायन महाराज वर्धमान स्वामीके पादमूलमें तप ग्रहण कर मोक्ष गये और रानी प्रभावती तपके प्रभावसे ब्रह्मस्वर्गमें देव हुई।

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः। चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः। तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ता-चार्यः पृष्टः किं कस्य कथ्यते[2] ? भगवतोक्तं सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या

१. कच्छदेशे क, ग, घ०। २. 'कथ्यते ख.।

आशीर्वादश्च कथनीयः। त्रिपृष्टेनापि[1] तेन एतावदेवोक्तं। ततः क्षुल्लकेनोक्तं। भव्यसेनाचार्यस्यैकादशांगधारिणोऽन्येषां च नामापि भगवान् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं च विशिष्टं वात्सल्यं दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिकां गतः। तत्र गतस्य च[2] भव्यसेनेन संभाषणमपि न कृतं। कुण्डिकां गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह वहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः। तं दृष्ट्वा "आगमे किलैते जीवाः कथ्यन्ते" इति भणित्वा तत्रारुचिं[3] कृत्वा तृणोपरि गतः शौचसमये कुण्डिकायां जलं नास्ति तथा विकृतिश्च क्वापि न दृश्यतेऽतोऽत्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकया शौचं कृतवान्। ततस्तं मिथ्यादृष्टिं ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतं। ततोऽन्यस्मिन् दिने पूर्वस्यां दिशि पद्मासनस्थं चतुर्मुखं यज्ञोपवीताद्युपेतं देवासुरवन्द्यमानं ब्रह्मरूपं दर्शितं। तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च जना गताः। रेवती तु कोऽयं ब्रह्मनाम देवः इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता। एवं दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशंखादिधारकं वासुदेवरूपं। पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटगौरीगणोपेतं शंकररूपं। उत्तरस्यां दिशि समवसरणमध्ये प्रातिहार्याष्टकोपेतं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थितं तीर्थंकरदेवरूपं दर्शितं। तत्र च सर्वलोका गताः। रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता नवैव वासुदेवाः, एकादशैव रुद्राः, चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकरा जिनागमे कथिताः। ते चातीताः कोऽप्ययं मायावीत्युक्त्वा स्थिता। अन्यदिने चर्यावेलायां व्याधिक्षीणशरीरक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीपमार्गे मायामूर्च्छया पतितः। रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोपचारं कृत्वा पथ्यं कारयितुमारब्धः। तेन च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गन्धवमनं कृतं। तदपनीय हा! विरूपकं मयाऽपथ्यं दत्तमिति रेवत्या वचनमाकर्ण्य तोषान्मायामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दयित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा लोकमध्ये तु अमूढदृष्टित्वं तस्या उच्चैः प्रशस्य स्वस्थाने गतः। वरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्यं दत्वा तपो गृहीत्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जातः। रेवत्यपि तपः कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव।

रेवती रानीकी कथा

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणी सम्बन्धी मेघकूट नगरका राजा चन्द्रप्रभ, अपने चन्द्रशेखर पुत्रके लिये राज्य देकर, परोपकार तथा वन्दना-भक्तिके लिये कुछ विद्याओंको धारण करता हुआ दक्षिण मथुरा गया और वहाँ गुप्ताचार्यके समीप क्षुल्लक हो गया। एक समय वह क्षुल्लक, वन्दना-भक्तिके लिये उत्तर मथुराकी ओर जाने लगा। जाते समय उसने गुप्ताचार्यसे पूछा कि क्या किसीसे

---

१. त्रिःपृष्टेनाप्येतावदेवोक्तं घ०। २ 'च' नास्ति घ पुस्तके। ३. आगमे।

कुछ कहना है। भगवान् गुप्ताचार्यने कहा कि सुव्रत मुनिको वन्दना और वरुणराजकी महारानी रेवतीके लिये आशीर्वाद कहनेके योग्य है। क्षुल्लकने तीन वार पूछा फिर भी उन्होंने इतना ही कहा। तदनन्तर क्षुल्लकने कहा कि वहाँ ग्यारह अङ्गके धारक भव्यसेनाचाय तथा अन्य धर्मात्मा लोग भी रहते हैं उनका आप नाम भी नहीं लेते हैं। उसमें कुछ कारण अवश्य होगा ऐसा विचार कर क्षुल्लक उत्तर मथुरा गया। वहाँ जाकर उसने सुव्रत मुनिके लिये भट्टारककी वन्दना कही। सुव्रत मुनिने परम वात्सल्य भाव दिखलाया। उसे देखकर वह भव्यसेनकी वसतिकामें गया। क्षुल्लकके वहाँ पहुँचनेपर भव्यसेनने उससे संभाषण भी नहीं किया। भव्यसेन, शौचके लिये वाहर जा रहे थे सो क्षुल्लक उनका कमण्डलु लेकर उनके साथ वाह्य भूमिमें गया और विक्रियासे उसने आगे ऐसा मार्ग दिखाया जो कि हरे हरे कोमल तृणोंके अंकुरोंसे आच्छादित था। उस मार्गको देखकर क्षुल्लकने कहा भी कि 'आगममें ये सब जीव कहे गये हैं।' भव्यसेन आगमपर अरुचि-अश्रद्धा दिखाते हुए तृणोंपर चले गये। क्षुल्लकने विक्रियासे कमण्डलुका पानी सुखा दिया। जब शुद्धिका समय आया तब कमण्डलुमें पानी नहीं है तथा कहीं कोई विक्रिया भी नहीं दिखाई देती है यह देख वे आश्चर्यमें पड़ गये। तदनन्तर उन्होंने स्वच्छ सरोवरमें उत्तम मिट्टीसे शुद्धि की। इन सब क्रियाओंसे उन्हें मिथ्यादृष्टि जानकर क्षुल्लकने भव्यसेनका अभव्यसेन नाम रख दिया।

तदनन्तर दूसरे दिन पूर्व दिशामें पद्मासनपर स्थित, चारमुखोंसे सहित, यज्ञोपवीत आदिसे युक्त तथा देव और दानवोंसे वन्दित ब्रह्माका रूप दिखाया। राजा तथा भव्यसेन आदि लोग वहाँ गये परन्तु रेवतीरानी लोगोंसे प्रेरित होने पर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि यह ब्रह्म नामका देव कौन है? इसी प्रकार दक्षिण दिशामें गरुडके ऊपर आरूढ़, चार भुजाओंसे सहित, तथा गदा शङ्ख आदिके धारक नारायणका रूप दिखाया। पश्चिम दिशामें बैलपर आरूढ़ तथा अर्धचन्द्र, जटाजूट, पार्वती और गणोंसे सहित शङ्करका रूप दिखाया। उत्तर दिशामें समवसरणके मध्यमें आठ प्रातिहार्योंसे सहित, सुर, नर, विद्याधर और मुनियोंके समूहसे वन्द्यमान, पर्यंकासनसे स्थित तीर्थङ्कर देवका रूप दिखाया। वहां सब लोग गये, परन्तु रेवती रानी लोगोंके द्वारा प्रेरणा की जानेपर भी नहीं गई। वह यही कहती रही कि नारायण नौ ही होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थङ्कर चौबीस होते हैं ऐसा जिनागममें कहा गया है। और वे सब हो चुके हैं यह तो कोई मायावी है।

दूसरे दिन चर्याके समय उसने एक ऐसे क्षुल्लकका रूप वनाया, जिसका शरीर वीमारीसे क्षीण हो गया था। वह रेवती रानीके घरके समीपवर्ती मार्गमें मायामयी मूर्छासे पड़ रहा। रेवती रानीने जब यह समाचार सुना तव वह भक्तिपूर्वक उठाकर ले गई, उसका उपचार किया और पथ्य करानेके लिए उद्यत हुई। उस क्षुल्लकने सव आहार कर दुर्गन्धसे युक्त वमन कर दिया। रानीने वमनको दूरकर कहा कि हाय मैंने प्रकृतिके विरुद्ध अपथ्य आहार दिया। रेवती रानीके उक्त वचन सुनकर क्षुल्लकने संतोषसे सव मायाको संकोच कर उसे गुप्ताचार्यको परोक्ष वन्दना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगोंके वीच उसकी अमूढदृष्टिताकी खूव प्रशंसा की। यह सव कर क्षुल्लक अपने स्थानपर चला गया। राजा वरुण शिवकीर्ति पुत्रके लिये राज्य देकर तथा तप ग्रहणकर माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ तथा रेवती रानी भी तपकर ब्रह्म स्वर्ग में देव हुई।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो[1] राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि वहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारंपर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य च क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्वहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान्। कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्ते तस्य वचनं [2]प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्धाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यं।

जिनेन्द्रभक्त सेठकी कथा

सुराष्ट्र देशके पाटलिपुत्र नगरमें राजा यशोधर रहता था। उसकी रानीका नाम सुसीमा था। उन दोनोंके सुवीर नामका पुत्र था। सुवीर

१. यशोध्वजो घ०। २. तस्य प्रणामं कृत्वा घ०।

सप्तव्यसनोंसे अभिभूत था तथा ऐसे ही चोर पुरुष उसकी सेवा करते थे। उसने कानों कान सुना कि पूर्व गौड़ देशकी ताम्रलिप्त नगरीमें जिनेन्द्रभक्त सेठके सतखण्डा महलके ऊपर अनेक रक्षकोंसे सहित श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌की प्रतिमाके ऊपर जो छत्रत्रय लगा है उसपर एक विशेष प्रकारका अमूल्य वैडूर्यमणि संलग्न है। लोभवश उस सुवीरने अपने पुरुषोंसे पूछा कि क्या कोई उस मणिको लानेके लिये समर्थ है? सूर्य नामक चोरने गला फाड़कर कहा कि यह तो क्या है मैं इन्द्रके मुकुटका मणि भी ला सकता हूँ। इतना कहकर वह कपटसे क्षुल्लक बन गया और अत्यधिक कायक्लेशसे ग्राम तथा नगरोंमें क्षोभ करता हुआ क्रमसे ताम्रलिप्त नगरी पहुँच गया। प्रशंसासे क्षोभको प्राप्त हुए जिनेन्द्रभक्त सेठने जब सुना तब वह जाकर दर्शन कर, वन्दनाकर तथा वार्तालापकर उस क्षुल्लकको अपने घर ले आया। उसने पार्श्वनाथ देवके उसे दर्शन कराये और मायासे न चाहते हुए भी उसे मणिका रक्षक बनाकर वहीं रख लिया।

एक दिन क्षुल्लकसे पूछकर सेठ समुद्र यात्राके लिये चला और नगरसे बाहर निकलकर ठहर गया। वह चोर क्षुल्लक घरके लोगोंको सामान ले जानेमें व्यग्र जानकर आधीरातके समय उस मणिको लेकर चलता बना। मणिके तेजसे मार्गमें कोतवालोंने उसे देख लिया और पकड़नेके लिये उसका पीछा किया। कोतवालोंसे बचकर भागनेमें असमर्थ हुआ वह चोर क्षुल्लक सेठकी ही शरणमें जाकर कहने लगा कि मेरी रक्षा करो रक्षा करो। कोतवालोंका कल कल शब्द सुनकर तथा पूर्वापर विचारकर सेठने जान लिया कि यह चोर है परन्तु धर्मका उपहास बचानेके लिये उसने कहा कि यह मेरे कहनेसे ही रत्न लाया है, आप लोगोंने अच्छा नहीं किया जो इस महा तपस्वीको चोर घोषित किया। तदनन्तर सेठके वचनको प्रमाण मानकर कोतवाल चले गये और सेठने उसे रात्रिके समय निकाल दिया। इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टिको भी असमर्थ और अज्ञानी जनोंसे आये हुए धर्मके दोषका आच्छादन करना चाहिये।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[1] परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं

---

१. ज्येष्ठिना घ०।

दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्युच्चरेणोक्तं प्रिये! किमेवं स्थितासीति। तयोक्तं श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्या[1] हारं यदि मे ददासि तदा जीवामि त्वं च मे भर्ता नान्यथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्धरात्रे गत्वा निजकौशलेन तं हारं चोरयित्वा निर्गतः। तदुद्योतेन चौरोऽयमिति ज्ञात्वा गृहरक्षकैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो पलायितुमसमर्थो वारिषेण-कुमारस्याग्रे तं हारं धृत्वाऽदृश्यो भूत्वा स्थितः। कोट्टपालैश्च तं तथालोक्य श्रेणिकस्य कथितं देव! वारिषेणश्चौर इति। तं श्रुत्वा तेनोक्तं मूर्खस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति। मातंगेन योऽसिः शिरोग्रहणार्थं वाहितः स कण्ठे तस्य पुष्पमाला बभूव। तमतिशयमा-कर्ण्य श्रेणिकेन गत्वा वारिषेणः क्षमां कारितः। लब्धाभयप्रदानेन विद्युच्चौरेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्धः। तेन चोक्तं मया पाणिपात्रे भोक्तव्य-मिति। ततोऽसौ सूरसेन[2]मुनिसमीपे मुनिरभूत्। एकदा राजगृहसमीपे पलाशकूटग्रामे चर्यायां स प्रविष्टः। तत्र श्रेणिकस्य, योऽग्निभूतिमंत्री तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापितं, चर्यां कारयित्वा स सोमिल्लां निजभार्यां पृष्ट्वा[3] प्रभुपुत्रत्वाद्बालसखित्वाच्च स्तोकं मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गतः। आत्मनो व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्वन्दनां कुर्वन् हस्ते धृत्वा नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा वैराग्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सोमिल्लां न विस्मरति। तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रां कृत्वा वर्धमानस्वामिसमवसरणं गतौ। तत्र वर्धमानस्वामिनः पृथिव्याश्च सम्बन्धिगीतं देवैर्गीयमानं पुष्प[4]डालेन श्रुतं। यथा

"मइलकुचेली दुम्मनी नाहिं[5] पविसियएण।
कह जीवेसइ धणिय, घर [6]उज्झंते हियएण॥"

एतदात्मनः सोमिल्लायाश्च संयोज्य उत्कण्ठितश्चलितः। स वारिषेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः। चेलिन्या तौ दृष्ट्वा वारिषेणः किं चारित्राच्चलितः आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते। वीतरागासने वारि-षेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तःपुरमानीयतां। ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्कारा आनीता। ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण। तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीव लज्जितः परं वैराग्यं गतः। परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति।[7]

---

१. श्रेष्ठिनो हारं घ०। २. सूरदेवमुनि घ०। ३. दृष्ट्वा घ०। ४. लाडेन ख। ५. नाहेर वसियएण ख। ६. डज्झंगी घ०। ७. इतोग्रे 'घ' पुस्तके अधिकः पाठः 'ततो वारिषेणमुनिः मुक्तिं गतः पुष्पडालश्च स्वर्गे देवो जातः।'

वारिषेणकी कथा

मगध देशके राजगृह नगरमें राजा श्रेणिक रहता था। उसकी रानीका नाम चेलिनी था। उन दोनोंके वारिषेण नामका पुत्र था। वारिषेण उत्तम श्रावक था। एकवार वह उपवास धारणकर चतुर्दशीकी रात्रिमें श्मशानमें कायोत्सर्गसे खड़ा था। उसी दिन बगीचेमें गई हुई मगधसुन्दरी नामक वेश्याने श्रीकीर्ति-सेठानीके द्वारा पहिना हुआ हार देखा। तदनन्तर उस हारको देखकर 'इस आभूषणके विना मुझे जीवनसे क्या प्रयोजन है' ऐसा विचार कर वह शय्यापर पड़ रही। उस वेश्यामें आसक्त विद्युच्चोर जब रात्रिके समय उसके घर आया तब उसे शय्यापर पड़ी देख बोला कि प्रिये इस तरह क्यों पड़ी हो? वेश्याने कहा कि 'यदि श्री कीर्ति सेठानीका हार मुझे देते हो तो मैं जीवित रहूँगी और तुम मेरे पति होओगे अन्यथा नहीं।' वेश्याके यह वचन सुनकर तथा उसे आश्वासन देकर विद्युच्चोर आधीरातके समय श्रीकीर्ति सेठानीके घर गया और अपनी चतुराईसे हार चुराकर बाहर निकल आया। हारके प्रकाशसे 'यह चोर है' ऐसा जानकर गृहके रक्षकों तथा कोतवालोंने उसे पकड़ना चाहा। जब वह चोर भागनेमें असमर्थ हो गया तब वारिषेण कुमारके आगे उस हारको डालकर छिपकर बैठ गया। कोतवालोंने उस हारको वारिषेणके आगे पड़ा देखकर राजा श्रेणिकसे कह दिया कि राजन्! वारिषेण चोर है। यह सुनकर राजाने कहा कि इस मूर्खका मस्तक छेदकर लाओ। चाण्डालने वारिषेणका मस्तक काटनेके लिये जो तलवार चलाई वह उसके गलेमें फूलोंकी माला बन गई। उस अतिशयको सुनकर राजा श्रेणिकने जाकर वारिषेणसे क्षमा कराई। विद्युच्चोरने अभयदान पाकर राजासे जब अपना सब वृत्तान्त कहा तब वह वारिषेणको घर ले जाने के लिये उद्यत हुआ। परन्तु वारिषेणने कहा कि अब तो मैं पाणिपात्रमें भोजन करूँगा अर्थात् दिगम्बर मुनि बनूंगा। तदनन्तर वह सूरसेनगुरुके समीप मुनि हो गया।

एक समय वह मुनि राजगृहके समीपवर्ती पलाशकूट ग्राममें चर्याके लिये प्रविष्ट हुए। वहाँ राजा श्रेणिकके अग्निभूति मंत्रीके पुत्र पुष्पडालने उन्हें पड़गाहा। चर्या करानेके बाद वह अपनी सोमिल्ला नामक स्त्रीसे पूछकर स्वामीका पुत्र तथा बाल्यकालका मित्र होनेके कारण कुछ दूर तक भेजनेके लिए वारिषेणके साथ चला गया। अपने लौटनेके अभिप्रायसे वह क्षीरवृक्ष आदिको दिखाता तथा बारबार मुनिको वन्दना करता था। परन्तु मुनि हाथ पकड़कर उसे साथ ले गये और धर्मका विशिष्ट उपदेश सुनाकर तथा वैराग्य उपजाकर

उन्होंने उसे तप ग्रहण करा दिया। तप धारण करनेपर भी वह सोमिल्ला स्त्रीको नहीं भूलता था।

पुष्पडाल ओर वारिषेण-दोनों ही मुनि वारह वर्ष तक तीर्थयात्राकर भगवान् वर्धमान स्वामीके समवसरणमें पहुँचे। वहाँ वर्धमान स्वामी और पृथिवीसे सम्वन्ध रखने वाला एक गीत देवोंके द्वारा गाया जा रहा था उसे पुष्पडालने सुना। गीतका भाव यह था कि जव पति प्रवासको जाता है तव स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली कुचैली रहती है परन्तु जव वह घर छोड़कर ही चल देता है तव वह कैसे जीवित रह सकती है।

पुष्पडालने यह गीत अपने तथा सोमिल्लाके सम्वन्धमें लगा लिया इसलिये वह उत्कण्ठित होकर चलने लगा। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितीकरण करनेके लिये उसे अपने नगर ले गये। चेलिनीने उन दोनों मुनियोंको देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्रसे विचलित होकर आ रहा है? परीक्षा करनेके लिये उसने दो आसन दिये—एक सराग और दूसरा वीतराग। वारिषेणने वीतराग आसनपर वैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर वुलाया जावे। महारानी चेलिनीने आभूषणोंसे सजी हुई उसकी वत्तीस स्त्रियां वुलाकर खड़ी कर दीं। तदनन्तर वारिषेणने पुष्पडालसे कहा कि ये स्त्रियां और मेरा युवराज पद तुम ग्रहण करो। यह सुनकर पुष्पडाल अत्यन्त लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्यको प्राप्त हुआ परमार्थसे तप करने लगा।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा[1] राजा, तस्य[2] वलिर्वृहस्पतिः प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः। तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितो[3]ऽकम्पनाचार्य[4] आगत्योद्यानके स्थितः[5]। समस्तसंघश्च वारितः रा[6]जादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति। राज्ञा च धवलगृ[7]हास्थितेन पूजाहस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति। तैरुक्तं क्षपणका वहवो वहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति। वयमपि तान् दृष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रिसमन्वितो गतः। प्रत्येकं सर्वे वन्दिताः। न च केनापि आशीर्वादो दत्तः। दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य

---

१. श्रीवर्मा घ० २. तस्य राज्ञी श्रीमतिः घ०। ३. समन्विता घ० ४. अकम्पनामार्याः घ० ५. स्थिताः घ० ६. राजन्यकेऽप्यायाते घ० ७. धवलगृहस्थितेन घ०।

व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः। एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं "अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति।" एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः। अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता। तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति। ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः। मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हंतव्य इति पर्यालोच्य तद्वधार्थं युगपच्चतुर्भिः खड्गा उद्‌गूर्णाः। कंपितनगरदेवतया तथैव ते कीलिताः। प्रभाते तथैव ते सर्वलोकैर्दृष्टाः। रुष्टेन राजा क्रमागता इति न मारिता गर्दभारोहणादिकं कारयित्वा देशान्निर्घाटिताः। अथ कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे राजा महापद्मो राज्ञी लक्ष्मीमती पुत्रौ पद्मो विष्णुश्च। स एकदा पद्माय राज्यं दत्वा महापद्मो विष्णुना सह श्रुतसागरचंद्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जातः। ते च बलिप्रभृतय आगत्य पद्मराजस्य मंत्रिणो जाताः। कुम्भपुरदुर्गे च सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पद्ममण्डलस्योपद्रवं करोति। तद्‌ग्रहणचिन्तया पद्मं दुर्बलमालोक्य बलिनोक्तं किं देव ! दौर्बल्ये कारणमिति। कथितं च राज्ञा। तच्छ्रुत्वा आदेशं याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहात्म्येन दुर्गं भंक्त्वा सिंहबलं गृहीत्वा व्याघुट्यागतः। तेन पद्मस्यासौ समर्पितः। देव ! सोऽयं सिंहबल इति। तुष्टेन तेनोक्तं वांछितं वरं प्रार्थयेति। बलिनोक्तं यदा प्रार्थयिष्यामि तदा दीयतामिति। अथ कतिपयदिनेषु विहरन्तस्तेऽकम्पनाचार्यादयः सप्तशतयतयस्तत्रागताः। पुरक्षोभाद्बलिप्रभृतिभिस्तान् परिज्ञाय राजा एतद्भक्त इति पर्यालोच्य भयात्तन्मारणार्थं पद्मः पूर्ववरं प्रार्थितः सप्तदिनान्यस्माकं राज्यं देहीति। ततोऽसौ सप्तदिनानि राज्यं दत्वाऽन्तःपुरे प्रविश्य स्थितः। बलिना च आतपनगिरौ कायोत्सर्गेण स्थितान् मुनीन् वृत्यावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञः कर्तुमारब्धः। उच्छिष्टसरावच्छागादिजीवकलेवरैर्धूमैश्च मुनीनां मारणार्थमुपसर्गः कृतः। मुनयश्च द्विविधसंन्यासेन स्थिताः। अथ मिथिलानगर्यामर्धरात्रे बहिर्विनिर्गतश्रुतसागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्रं कम्पमानमालोक्यावधिज्ञानेन ज्ञात्वा भणितं महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते। तच्छ्रुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्टं भगवन् ! क्व केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? हस्तिनापुरे अकम्पनाचार्यादीनां सप्तशतयतीनां। उपसर्गः कथं नश्यति ? धरणिभूषणगिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियर्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति। एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः। स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः। ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः। किं त्वया मुनीनामुपसर्गः कारितः। भवत्कुले केनापीदृशं न कृतं। तेनोक्तं किं करोमि मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति। तत

विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मणरूपं धृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृतं। वलिनोक्तं किं तुभ्यं दीयते। तेनोक्तं भूमेः पादत्रयं देहि। ग्रहिलब्राह्मण वहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वारं वारं लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते। ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा वलिपृष्ठे तं पादं दत्वा वलिं वद्ध्वा मुनीनामुपसर्गो निवारितः। ततस्ते चत्वारोऽपि[1] मंत्रिणः पद्मस्य भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकंम्पनाचार्यादीनां च पादेषु लग्नाः। ते मंत्रिणः श्रावकाश्च जाता इति।[2]

विष्णुकुमार मुनिकी कथा

अवन्ति देशकी उज्जयिनी नगरीमें श्रीवर्मा राजा राज्य करता था। उसके वलि, वृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। वहाँ एक समय शास्त्रों के आधार, दिव्यज्ञानी तथा सात सौ मुनियोंसे सहित अकम्पनाचार्य आकर उद्यानमें ठहर गये। अकम्पनाचार्यने समस्त संघको मनाकर दिया कि राजा-दिकके आने पर किसीके साथ वार्तालाप न किया जावे, अन्यथा समस्त संघका नाश हो जावेगा।

राजा अपने धवलगृह पर वैठा था, वहाँसे उसने पूजाकी सामग्री हाथमें लेकर जाते हुए नागरिकोंको देखकर मन्त्रियोंसे पूछा कि ये लोग कहाँ जा रहे हैं, यह यात्राका समय तो है नहीं। मन्त्रियोंने कहा कि नगरके वाहिर उद्यानमें वहुतसे नग्न साधु आये हैं वहीं ये लोग जा रहे हैं। राजाने कहा कि हम भी उन्हें देखनेके लिये चलते हैं। ऐसा कहकर राजा मन्त्रियों सहित वहाँ गया। एक एक कर समस्त मुनियोंकी वन्दना राजाने की, परन्तु किसीने भी आशी-र्वाद नहीं दिया। 'दिव्य अनुष्ठानके कारण ये साधु अत्यन्त निःस्पृह हैं' ऐसा विचारकर जव राजा लौटा तो खोटा अभिप्राय रखनेवाले मन्त्रियोंने यह कह कर उन मुनियोंका उपहास किया कि ये वैल हैं, कुछ भी नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं' इसीलिये छलसे मौन लेकर वैठे हैं। ऐसा कहते हुए मन्त्री राजाके साथ जा रहे थे कि उन्होंने आगे चर्याकर आते हुए श्रुतसागर मुनिको देखा। देखकर कहा कि 'यह तरुण वैल पेटभर कर आ रहा है।' यह सुनकर उन मुनिने राजाके मन्त्रियोंसे शास्त्रार्थकर उन्हें हरा दिया। वापिस आकर मुनिने यह सव समाचार अकम्पनाचार्यसे कहा। अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने समस्त संघ-

---

१. चत्वारो मंत्रिणः पद्मश्च।

२. घ पुस्तके इतोऽग्रेधिकः पाठः 'व्यन्तरदेवैः सुघोषवीणात्रयं दत्तं विष्णुकुमारपादपूजार्थं।'

को मरवा दिया। यदि शास्त्रार्थके स्थान पर जाकर तुम रात्रिको अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराधको शुद्धि हो सकती है। तदनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्गसे स्थित हो गये।

अत्यन्त लज्जित और क्रोधसे भरे हुए मंत्री रात्रिमें समस्त संघको मारनेके लिये जा रहे थे कि उन्होंने कायोत्सर्गसे खड़े हुए उन मुनिको देखकर विचार किया कि जिसने हमलोगोंका पराभव किया है वही मारनेके योग्य है। ऐसा विचार कर चारों मंत्रियोंने मुनिको मारनेके लिये एक साथ खड्ग ऊपर उठाये। परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगरदेवताने आकर उन सबको उसी अवस्थामें कील दिया। प्रातःकाल सब लोगोंने उन मन्त्रियोंको उसी प्रकार कीलित देखा। मन्त्रियोंकी इस कुचेष्टासे राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंशपरम्परासे चले आ रहे हैं यह विचार कर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण आदि कराकर निकाल दिया।

तदनन्तर कुरुजांगलदेशके हस्तिनागपुर नगरमें राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था, उनके दो पुत्र थे—पद्म और विष्णु। एक समय राजा महापद्म, पद्मनामक पुत्रको राज्य देकर विष्णु नामक पुत्रके साथ श्रुतसागरचन्द्र नामक आचार्यके पास मुनि हो गये। वे बलि आदिक, आकर पद्मराजाके मन्त्री बन गये। उसी समय कुम्भपुरके दुर्गमें राजा सिंहबल रहता था। वह अपने दुर्गके बलसे राजा पद्मके देशमें उपद्रव करता था। राजा पद्म उसे पकड़नेकी चिन्तामें दुर्बल होता जाता था। उसे दुर्बल देख एक दिन बलिने कहा कि देव! दुर्बलताका क्या कारण है? राजाने उसे दुर्बलताका कारण बताया। उसे सुनकर तथा आज्ञा प्राप्त कर बलि वहाँ गया और अपनी बुद्धिके माहात्म्यसे दुर्गको तोड़कर तथा सिंहबलको लेकर वापिस आ गया। उसने राजा पद्मको यह कहकर सिंहबलको सौंप दिया कि यह वही सिंहबल है। राजा पद्मने संतुष्ट होकर कहा कि तुम अपना वाञ्छित वर मांगो। बलिने कहा कि जब मांगूगा तब दिया जावे।

तदनन्तर कुछ दिनोंमें विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि उसी हस्तिनागपुरमें आये। उनके आते ही नगरमें हलचल मच गई। बलि आदि मन्त्रियोंने उन्हें पहिचान कर विचार किया कि राजा इनका भक्त है। इस भयसे उन्होंने उन मुनियोंको मारनेके लिये राजा पद्मसे अपना पहलेका वर मांगा कि हमलोगोंको सात दिनका राज्य दिया जावे। तदनन्तर राजा पद्म उन्हें सात दिनका राज्य देकर अन्तःपुरमें चला गया। इधर बलिने आतापनगिरि पर

कायोत्सर्गसे खड़े हुए मुनियोंको वाड़ीसे वेष्टित कर मण्डप लगा यज्ञ करना शुरू किया। जूंठे सकोरे, वकरा आदि जीवोंके कलेवर तथा धूम आदिके द्वारा मुनियोंको मारनेके लिये वहुत भारी उपसर्ग किया। मुनि दोनों प्रकारका संन्यास लेकर स्थिर हो गये।

तदनन्तर मिथिलानगरीमें आधीरातके समय वाहिर निकले हुए श्रुतसागरचन्द्र आचार्यने आकाशमें काँपते हुए श्रवण नक्षत्रको देखकर अवधिज्ञानसे जानकर कहा कि महामुनियोंके ऊपर महान् उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लकने पूछा कि कहाँ किनपर महान् उपसर्ग हो रहा है? उन्होंने कहा कि हस्तिनागपुरमें अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर। 'उपसर्ग कैसे नष्ट हो सकता है' ऐसा क्षुल्लक द्वारा पूछे जाने पर कहा कि धरणिभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धिके धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित है, वे उपसर्गको नष्ट कर सकते हैं। यह सुन क्षुल्लकने उनके पास जाकर सब समाचार कहा। मुझे विक्रियाऋद्धि है क्या? ऐसा विचारकर विष्णुकुमार मुनिने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वतको भेदकर दूर तक चला गया। तदनन्तर विक्रियाका निर्णय कर उन्होंने हस्तिनागपुर जाकर राजा पद्मसे कहा कि तुमने मुनियोंपर उपसर्ग क्यों कराया? आपके कुलमें ऐसा कार्य किसीने नहीं किया। राजा पद्मने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले इसे वर दे दिया था।

तदनन्तर विष्णुकुमार मुनिने एक वौने ब्राह्मणका रूप वनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेदपाठ करना शुरू किया। वलिने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? वौने ब्राह्मणने कहा कि तीन डग भूमि देओ। 'पगले ब्राह्मण! देनेको वहुत है और कुछ मांग' इस प्रकार वार-वार लोगोंके कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही माँगता रहा। तदनन्र हाथमें संकल्पका जल लेकर जव उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी गई तव उसने एक पैर मेरु पर रक्खा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा और तीसरे पैरके द्वारा देवविमानों आदिमें क्षोभ उत्पन्न कर उसे वलिकी पीठपर रक्खा तथा वलिको वाँधकर मुनियोंका उपसर्ग दूर किया। तदनन्तर वे चारों मन्त्री राजा पद्मके भयसे आकर विष्णुकुमार मुनि तथा अकम्पनाचार्य आदि मुनियोंके चरणोंमें संलग्न हुए—चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे। वे मन्त्री श्रावक वन गये।

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा

हस्तिनागपुरे वलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणितं। माम! मां दुर्मुखराजस्य

दर्शयेत्[1]। न[2] च गर्वितेन तेन दर्शितः। ततो ग्रहिलो भूत्वा सभायां स्वयमेव तं दृष्ट्वा आशीर्वादं दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्वं प्रकाश्य मंत्रिपदं लब्धवान्। तं तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्तां पुत्रीं परिणेतुं दत्तवान्। एकदा तस्या गर्भिण्या[3] वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे दोहलको जातः। ततः सोमदत्तेन तान्युद्यानवने अन्वेपयता यत्राम्रवृक्षे सुमित्राचार्यो योगं गृहीतवांस्तं नानाफलैः फलितं दृष्ट्वा तस्मात्तान्यादाय पुरुषहस्ते प्रेषितवान्। स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निर्विण्णस्तपो गृहीत्वा आगममधीत्य परिणतो भूत्वा नाभिगिरौ आतपनेन स्थितः। यज्ञदत्ता च पुत्रं प्रसूता तं वृत्तान्तं[4] श्रुत्वा बंधुसमीपं गता। तस्य शुद्धिं ज्ञात्वा बन्धुभिः सह नाभिगिरिं गत्वा तमातपनस्थमालोक्यातिकोपात्तत्पादोपरि बालकं धृत्वा दुर्वचनानि दत्वा गृहं गता। अत्र प्रस्तावे दिवाकरदेवनामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्याः पुरन्दरनाम्ना लघुभ्रात्रा राज्यान्निर्धाटितः। सकलत्रो मुनिं वन्दितुमायातः। तं बालं गृहीत्वा निजभार्यायाः समर्प्य वज्रकुमार इति नाम कृत्वा गतः। स च वज्रकुमारः कनकनगरे[5] विमलवाहननिजमैथुनिकसमीपे सर्वविद्यापारगो युवा च क्रमेण जातः। अथ गरुडवेगाङ्गवत्योः पुत्री पवनवेगा हेमन्तपर्वते प्रज्ञप्तिं विद्यां महाश्रमेण साधयन्ती पवनाकम्पितबदरीवज्रकंटकेन लोचने विद्धा। ततस्तत्पीडया चलचित्ताया विद्या न सिद्धयति। ततो वज्रकुमारेण च तां तथा दृष्ट्वा विज्ञानेन कण्टक उद्धृतः। ततः स्थिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा। उक्तं च तया भवत्प्रसादेन एषा विद्या सिद्धा, त्वमेव मे भर्त्तेत्युक्त्वा परिणीतः। वज्रकुमारेणोक्तं तात! अहं कस्य पुत्र इति सत्यं कथय, तस्मिन् कथिते मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति। ततस्तेन पूर्ववृत्तान्तः सर्वः सत्य एव कथितः। तमाकर्ण्य निजगुरुं द्रष्टुं बन्धुभिः सह मथुरायां क्षत्रियगुहायां गतः। तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवाकरदेवेन वंदनां कृत्वा वृत्तान्तः कथितः। समस्तबन्धून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो मुनिर्जातः। अत्रान्तरे मथुरायामन्या कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी उर्विला।[6] सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनायां रता। नन्दीश्वराष्टदिनानि प्रतिवर्षं जिनेन्द्ररथयात्रां त्रीन् वारान् कारयति। तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्तः श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा। मृते सागरदत्ते दरिद्रा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्टा। ततो लघुमुनिनोक्तं हा! वराकी महता कष्टेन जीवतीति। तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टराज्ञी वल्लभा भविष्यतीति। भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवंदकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा[7] मृष्टाहारैः पोषिता।

---

१. दर्शमते ख, ग, दर्शय घ०। २. न, ख, ग. तेन च गर्वितेन न दर्शितः घ०। ३. गुर्विण्याः मूलपाठः। ४. तं ख, ग। ५. गिरौ, ख, ग कनकगिरे घ०। ६. उर्वी, ग। ७. मिष्टाहारैः घ०।

एकदा यौवनभरे चैत्रमासे आन्दोलयन्तीं तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः। ततो मंत्रिभिस्तां तदर्थं वंदको याचितः। तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति। तत्सर्वं कृत्वा परिणीता। पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता। फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विला रथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणितं देव! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु। राज्ञा चोक्तमेवं भवत्विति। तत उर्विला वदति मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वं गता। तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिताः। उर्विलायाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा भवद्भिः कर्तव्येति। ततस्तैर्बुद्धदासी रथं भङ्क्त्वा नानाविभूत्या उर्विलाया रथयात्रा कारिता। तमतिशयं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥ २० ॥

वज्रकुमार मुनिकी कथा

हस्तिनागपुरमें बल नामक राजा रहता था। उसके पुरोहितका नाम गरुड़ था। गरुड़के एक सोमदत्त नामका पुत्र था। उसने समस्त शास्त्रोंका अध्ययनकर अहिच्छत्रपुरमें रहनेवाले अपने मामा सुभूतिके पास जाकर कहा कि मामा जी! मुझे दुर्मुख राजाके दर्शन करा दो। परन्तु गर्वसे भरे हुए सुभूतिने उसे राजाके दर्शन नहीं कराये। तदनन्तर हठधर्मी होकर वह स्वयं ही राजसभामें चला गया। वहाँ उसने राजाके दर्शनकर आशीर्वाद दिया और समस्त शास्त्रोंकी निपुणताको प्रकटकर मन्त्रिपद प्राप्त कर लिया। उसे वैसा देख सुभूति मामाने अपनी यज्ञदत्ता नामकी पुत्री विवाहनेके लिये दे दी।

एक समय वह यज्ञदत्ता जब गर्भिणी हुई तब उसे वर्षाकालमें आम्रफल खानेका दोहला हुआ। तदनन्तर बाग-बगीचोंमें आम्रफलोंको खोजते हुए सोमदत्तने देखा कि जिस आम्रवृक्षके नीचे सुमित्राचार्यने योग ग्रहण किया है वह वृक्ष नानाफलोंसे फला हुआ है। उसने उस वृक्षसे फल लेकर आदमीके हाथ घर भेज दिये और स्वयं धर्म श्रवण कर संसारसे विरक्त हो गया तथा तप धारणकर आगमका अध्ययन करने लगा। जब वह अध्ययन कर परिपक्व हो गया तब नाभिगिरि पर्वत पर आतपन योगसे स्थित हो गया।

इधर यज्ञदत्ताने पुत्रको जन्म दिया। पतिके मुनि होनेका समाचार सुन कर वह अपने भाईके पास चली गई। पुत्रकी शुद्धिको जानकर वह अपने भाईयोंके साथ नाभिगिरि पर्वत पर गई। वहाँ आतपनयोगमें स्थित सोमदत्त

मुनिको देखकर अत्यधिक क्रोधके कारण उसने वह बालक उनके पैरोंके ऊपर रख दिया और गालियां देकर स्वयं घर चली गई।

उसी समय अमरावती नगरीका रहनेवाला दिवाकरदेव नामका विद्याधर जो कि अपने पुरन्दर नामक छोटे भाईके द्वारा राज्यसे निकाल दिया गया था, अपनी स्त्रीके साथ मुनिकी वन्दना करनेके लिये आया था। वह उस बालकको लेकर, अपनी स्त्रीको सौंपकर तथा उसका वज्रकुमार नाम रखकर चला गया। वह वज्रकुमार कनक नगरमें विमल वाहन नामक अपने मामाके समीप समस्त विद्याओंमें पारगामी होकर क्रम-क्रमसे तरुण हो गया।

तदनन्तर गरुड़वेग और अङ्गवतीकी पुत्री पवनवेगा हेमन्त पर्वतपर बड़े श्रमसे प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायुसे कम्पित वेरीका एक पैना कांटा उसकी आँखमें जा लगा। उसकी पीड़ासे चित्त चञ्चल हो जानेसे विद्या उसे सिद्ध नहीं हो रही थी। तदनन्तर वज्रकुमारने उसे वैसा देख कुशलतापूर्वक वह कांटा निकाल दिया। कांटा निकल जानेसे उसका चित्त स्थिर हो गया तथा विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध होने पर उसने कहा कि आपके प्रसादसे यह विद्या सिद्ध हुई है इसलिये आपही मेरे भर्त्ता हैं। ऐसा कहकर उसने वज्रकुमारको विवाह लिया।

एक दिन वज्रकुमारने दिवाकरदेव विद्याधरसे कहा कि तात! मैं किसका पुत्र हूँ सत्य कहिये, उसके कहने पर ही मेरी भोजनादिमें प्रवृत्ति होगी। तदनन्तर दिवाकरदेवने पहलेका सब वृत्तान्त सच-सच कह दिया। उसे सुनकर वह अपने पिताके दर्शन करनेके लिये भाईयोंके साथ मथुरा नगरीकी दक्षिणगुहामें गया। वहाँ दिवाकरदेवने वन्दना कर वज्रकुमारके पिता सोमदत्तको सब समाचार कह दिया। समस्त भाईयोंको बड़े कष्टसे विदाकर वज्रकुमार मुनि हो गया।

इसी बीचमें मथुरामें एक दूसरी कथा घटी। वहाँ पूतिगन्ध राजा करता था। उसकी स्त्रीका नाम उर्विला था। उर्विला सम्यग्दृष्टि तथा जिनधर्मकी प्रभावनामें अत्यन्त लीन थी। वह प्रतिवर्ष आष्टाह्लिक पर्वमें तीन बार जिनेन्द्र देवकी रथयात्रा कराती थी। उसी नगरीमें एक सागरदत्त सेठ रहता था. उसकी सेठानीका नाम समुद्रदत्ता था। उन दोनोंके एक दरिद्रा नामकी पुत्री हुई। सागरदत्तके मर जानेपर एक दिन दरिद्रा दूसरेके घरमें फेंके हुए भातके सीथ खा रही थी। उसी समय चर्याके लिये प्रविष्ट हुए दो मुनियोंने उसे वैसा करते हुए देखा। तदनन्तर छोटे मुनिने बड़े मुनिसे कहा कि हाय बेचारी बड़े

कष्टसे जीवन बिता रही है। यह सुनकर बड़े मुनिने कहा कि यह इसी नगरीमें राजाकी प्रिय पट्टरानी होगी। भिक्षाके लिये भ्रमण करते हुए एक बौद्धसाधुने मुनिराजके वचन सुनकर विचार किया कि मुनिका कथन अन्यथा नहीं होगा, इसलिये वह उसे अपने विहारमें ले गया और वहाँ अच्छे आहारसे उसका पालन-पोषण करने लगा।

एक दिन भर जवानीमें वह चैत्रमासके समय झूला झूल रही थी कि उसे देखकर राजा अत्यन्त विरहावस्थाको प्राप्त हो गया। तदनन्तर मन्त्रियोंने उसके लिये बौद्ध साधुसे याचना की। उसने कहा कि यदि राजा हमारे धर्मको ग्रहण करें तो मैं इसे दे दूँगा। राजाने वह सब स्वीकृत कर उसके साथ विवाह कर लिया। और वह उसकी अत्यन्त प्रिय पट्टरानी बन गई।

फाल्गुन मासकी नन्दीश्वर यात्रामें उर्विलाने रथयात्राकी तैयारी की। उसे देख, उस पट्टरानीने राजासे कहा कि देव! मेरा बुद्ध भगवान्‌का रथ इस समय नगरमें पहले घूमे। राजाने कह दिया कि ऐसा ही होगा। तदनन्तर उर्विलाने कहा कि यदि मेरा रथ पहले घूमता है तो मेरी आहारमें प्रवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। ऐसी प्रतिज्ञा कर वह क्षत्रियगुहामें सोमदत्त आचार्यके पास गई। उसी समय वज्रकुमार मुनिकी वन्दना-भक्तिके लिये दिवाकरदेव आदि विद्याधर आये थे। वज्रकुमार मुनिने यह सब वृत्तान्त सुनकर उनसे कहा कि आप लोगोंको प्रतिज्ञापर आरूढ़ उर्विलाकी रथयात्रा कराना चाहिये। तदनन्तर उन्होंने बुद्धदासीका रथ तोड़ कर बड़ी विभूतिके साथ उर्विलाकी रथयात्रा कराई। उस अतिशयको देखकर प्रतिबोधको प्राप्त हुई बुद्धदासी तथा अन्य लोग जैनधर्ममें लीन हो गये ॥२०॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं ? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशंक्याह—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥ २१ ॥

'दर्शनं' कर्तृ। 'जन्मसन्तर्ति' संसारप्रबन्धं। 'छेत्तुं' उच्छेदयितुं 'नालं' न समर्थं। कथंभूतं सत्, 'अंगहीनं' अंगैर्निःशंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'न ही' त्यादि। सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वांगविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मंत्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'न हि' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति[1] विषवेदनां। ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वं युक्तमेव, त्रिमूढापोढत्व वत्।

---

१. स्फेटयति घ०।

अब कोई आशङ्का करता है कि सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गोंके निरूपण करनेका क्या प्रयोजन है क्योंकि अङ्गोंसे रहित भी सम्यग्दर्शनमें संसारका उच्छेद करनेकी सामर्थ्य हो सकती है। इस आशङ्काके उत्तरमें आचार्य कहते हैं–

नाङ्गहीनमिति—(**अङ्गहीनं**) अङ्गोंसे हीन (**दर्शनं**) सम्यग्दर्शन (**जन्मसन्ततिम्**) संसारकी सन्ततिको (**छेत्तुं**) छेदनेके लिये (**अलं न**) समर्थ नहीं है। (**हि**) क्योंकि (**अक्षरन्यूनः**) एक अक्षरसे भी हीन (**मन्त्रः**) मन्त्र (**विषवेदनां**) विषकी पीड़ाको (**न निहन्ति**) नष्ट नहीं करता है।

टीकार्थ—ऊपर जिन निःशङ्कितत्व आदि अङ्गोंका वर्णन किया गया है उनसे हीन सम्यग्दर्शन संसारकी सन्तति—जन्म-मरणकी सन्ततिको नष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं है। इसी अर्थका समर्थन करनेके लिये मन्त्रका दृष्टान्त दिया है। जैसे किसी मनुष्यको सर्पने काटा और विषकी वेदना उसके समस्त शरीरमें फैल गई। उस विषवेदनाको दूर करनेके लिये मन्त्रवादी मन्त्रका प्रयोग करता है परन्तु उस मन्त्रमें एक अक्षर कम बोलता है तो ऐसे मन्त्रसे विषकी वेदना दूर नहीं होती। विषकी वेदना दूर करनेके लिये पूर्ण मन्त्र ही समर्थ होता है। इसी प्रकार संसारका उच्छेद करनेके लिये आठ अङ्गोंसे पूर्ण सम्यग्दर्शन ही समर्थ है, एक दो अङ्गोंसे विकल सम्यग्दर्शन नहीं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अङ्ग होते हैं और इन आठ अङ्गोंसे ही मनुष्य अपना काम करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी निःशङ्कितत्व, निःकाङ्क्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अङ्ग हैं। इन आठ अङ्गोंके द्वारा ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन संसारकी सन्ततिके छेदने रूप अपने काममें समर्थ होता है। जब तक मनुष्य शङ्काशील रहता है तबतक वह किसी काममें आगे नहीं बढ़ता परन्तु शङ्काके दूर होते ही उसका पैर आगे बढ़ने लगता है। दो पैरोंमें सबसे पहले दाहिना पैर आगे बढ़ता है इसलिये निःशङ्कित अङ्गको मनुष्यके दाहिने पैरकी उपमा दी जाती है। मनुष्यका बांया पैर किसी आकांक्षाके बिना ही दाहिने पैरके पीछे चल देता है इसलिये निःकांक्षित अंगके लिये बांये पैरकी उपमा दी जाती है। शरीरके मल मूत्रादि पदार्थोंको साफ करनेके लिये मनुष्यका बांया हाथ किसी ग्लानिके बिना आगे आता है इसलिये निर्विचिकित्सित अङ्गके

लिये वांये हाथकी उपमा दी जाती है। शरीरके किसी अंगपर कोई आपत्ति आती है तो उसके निवारणार्थ मनुष्यका दाहिना हाथ सबसे पहले उस अङ्गकी सहायता करता है इसलिये स्थितीकरण अंगके लिये दाहिने हाथकी उपमा दी जाती है। खोटे कार्योंसे वचनेके लिये मनुष्यकी पीठ सहायक होती है अर्थात् खोटे कार्योंकी ओर पीठ देनेसे मनुष्य पापसे वच जाता है इसलिये खोटे कार्योंसे मानसिक, वाचनिक और शारीरिक असहयोग करानेवाले अमूढदृष्टित्व अंगके लिये पीठकी उपमा दी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने नितम्वको प्रकट करनेमें लज्जाका अनुभव करता है, उसे प्रकट नहीं करता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव किसीके दोषोंको प्रकट करनेमें लज्जाका अनुभव करता है उसे वह प्रकट नहीं करता इसलिये उपगूहन अङ्गके लिये नितम्वकी उपमा दी जाती है। मनुष्यका जिसके साथ स्नेह होता है वह उसे अपने उरःस्थल (छाती) से लगाता है इसलिये वात्सल्य अङ्गके लिये उरःस्थलकी उपमा दी जाती है। और जिस प्रकार मनुष्य अपना शिर उठाकर अर्थात् मुख दिखाकर लोगोंको अपनी ओर आकर्पित करता है उसी प्रकार प्रभावना अंगके द्वारा सम्यग्दृष्टि मनुष्य दूसरोंको समीचीन धर्मकी ओर आकर्षित करता है इसलिये प्रभावना अंगके लिये शिर—मस्तककी उपमा दी जाती है। अपना अपना कार्य करनेके लिये जिस प्रकार मनुष्योंके आठों अङ्ग आवश्यक हैं उसी प्रकार अपना अपना कार्य करनेके लिये सम्यग्दर्शनके आठों अङ्ग आवश्यक हैं। वैसे तो निःशङ्कितत्व आदि आठों अंग निज और परकी अपेक्षा दो दो प्रकारके हैं परन्तु विशेपताकी अपेक्षा जव विचार करते हैं तो निःशङ्कितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, और अमूढदृष्टित्व इन चार अंगोंका स्वसे सम्वन्ध अधिक जान पड़ता है और उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारका सम्वन्ध समष्टि—समाजसे अधिक जान पड़ता है। व्यक्तिगत स्वकीय उन्नतिके लिये प्रारम्भिक चार अङ्गोंका होना अत्यन्त आवश्यक है और समष्टि—समाज सम्वन्धी उन्नतिके लिये उपगूहन आदि चार अंगोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समाजमें एक दूसरेके दोप देखे जाते हैं, कोई किसीकी सहायता नहीं करता, कोई किसीके सुख-दुःखमें सम्मिलित होकर आत्मीयता नहीं प्रकट करता और न समीचीन कार्योंका प्रसार करता है वह समाज वहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है परन्तु इसके विपरीत जिस समाजमें दोप देखनेकी अपेक्षा गुण देखे जाते हैं, विपत्ति पड़नेपर एक दूसरेका सहयोग किया जाता है। सवके साथ आत्मीयभाव रखा जाता और समीचीन कार्योंका प्रसार किया जाता है वह समाज संसारमें चिरकालतक जीवित रहता है॥ २१ ॥

कानि पुनस्तानि त्रीणि मूढानि यदमूढत्वं तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, लोकदेवतापाखंडिमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवन्ति। तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

'लोकमूढं' लोकमूढत्वं। किं? 'आपगासागरस्नानं' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयःसाधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न पुनः शरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण। तथा 'उच्चयः' स्तूपविधानं। केषां? सिकताश्मनां' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां। तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादिः। 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः। एवमादि सर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

अब कैसा सम्यग्दर्शन संसारके उच्छेदका कारण होता है? यह बतलानेके लिये कहा जाता है 'त्रिमूढापोढं' तीन प्रकारकी मूढताओंसे रहित। उन मूढताओंमें लोकमूढताको दिखलाते हुए कहते हैं—

आपगेति—(आपगासागरस्नानं) धर्म समझकर नदी और समुद्रमें स्नान करना, (सिकताश्मनां) बालू और पत्थरोंका (उच्चयः) ढेर करना (गिरिपातः) पर्वतसे गिरना (च) और (अग्निपातः) अग्निमें पड़ना (लोकमूढं) लोकमूढता (निगद्यते) कही जाती है।

टीकार्थ—लौकिक कार्योंमें मूढता—मूर्खतावश प्रवृत्ति करना लोकमूढता कहलाती है। जैसे कल्याणका साधन समझकर समुद्र और गङ्गा, यमुना, नर्मदा आदि नदियोंमें स्नान करना, बालू और पर्वतोंके ढेर लगाकर स्तूप बनाना, हिमालय आदि पर्वतोंसे भृगुपात करना अर्थात् उनकी ऊँची चोटीसे कूदकर आत्मघात करना, और पतिके मर जानेपर सती बननेके लिये जीवित ही अग्निमें प्रवेश करना इत्यादि कार्य लोकमूढता कहलाते हैं।

विशेषार्थ—अन्ध श्रद्धालु होकर प्रयोजनका विचार किये बिना लौकिक कार्य करना लोकमूढता है। जैसे लोकमें प्रसिद्ध है 'गङ्गास्नानान्मुक्तिः' गंगामें स्नान करनेसे मुक्ति होती है इस प्रकारकी प्रसिद्धियोंसे प्रभावित होकर समुद्र और नदियोंमें स्नान करना लोकमूढता है। शरीर प्रक्षालनके अभिप्रायसे स्नान करना लोकमूढता नहीं है। मार्गमें बालू अधिक होनेसे चलनेमें कठिनाईका अनुभव कर किसी परोपकारी मानवने उस बालूको इकट्ठाकर एक ढेर लगवा दिया। दूसरे व्यक्ति उसकी इस भावनाको न समझकर उस मार्गमें

लगे कि वालूके ढेर लगानेसे स्वर्ग मिलता है। मार्गमें पत्थर अधिक होनेसे आने जानेमें कष्टका अनुभवकर किसी दयालु मनुष्यने मार्गके उन पत्थरोंको वीनकर एक ढेर लगा दिया, दूसरे दर्शक इस भावनाको न समझकर पत्थरोंके ढेर लगानेमें पुण्यको प्राप्ति होती है ऐसा मानने लगे। इसी प्रकार पर्वतोंसे गिरना, अग्निमें जलना, पानीमें डुवना आदि कार्योंको पुण्य समझकर करना लोकमूढता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस मूढतासे दूर रहता है ॥ २२ ॥

देवतामूढं व्याख्यातुमाह—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'देवतामूढं' 'तदुच्यते'। 'यदुपासीत' आराधयेत्। काः 'देवताः'। कथंभूताः 'रागद्वेषमलीमसाः' रागद्वेषाभ्यां मलीमसा मलिनाः। किंविशिष्टः ? 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी। कया ? 'वरोपलिप्सया' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया। नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानता-हेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात्। यदा तु शासनसक्तदेवता-त्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः। तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्ष-पाताद्वरमया-चितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव। तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्विघ्नतो झटिति न सिद्धयति। न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

अब देवतामूढ—देवमूढताका व्याख्यान करनेके लिये कहते हैं—

वरोपलिप्सयेति—(**वरोपलिप्सया**) वरदान प्राप्त करनेकी इच्छासे (**आशावान्**) आशासे युक्त हो (**रागद्वेषमलीमसाः**) रागद्वेपसे मलिन (**देवताः**) देवोंकी (**यत्**) जो (**उपासीत**) आराधना की जाती है [**तत्**] वह (**देवतामूढं**) देवमूढता (**उच्यते**) कही जाती है।

टीकार्थ—ऐहिकफलकी इच्छा रखनेवाला जो पुरुप वाञ्छित फलकी आशासे रागी-द्वेपी देवोंकी उपासना करता है उसका वैसा करना देवमूढता कहलाती है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि ऐसा है तो श्रावक आदिका शासनदेवोंकी पूजा आदिका करना सम्यग्दर्शनकी मलिनताका कारण प्राप्त होता है। इसका उत्तर यह है कि यदि यह कार्य वर—वाञ्छित फल प्राप्त

करनेकी इच्छासे किया जाता है तो अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी मलिनताका कारण है। परन्तु जैन शासनमें निरत देवता होनेके कारण जब उनकी उपासना की जाती है अर्थात् उनका यथायोग्य सत्कार किया जाता है तब वह सम्यग्दर्शनकी मलिनताका कारण नहीं होता। ऐसा करनेवाले पुरुषको सम्यग्दर्शनका पक्ष होनेके कारण देवता माँगे विना भी वाञ्छित फल दे ही देते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो इष्टदेवता विशेषसे वाञ्छित फलकी प्राप्ति निर्विघ्नरूपसे शीघ्र नहीं होती। क्योंकि चक्रवर्तीके परिकरकी पूजाके विना सेवकोंको चक्रवर्तीसे फलकी प्राप्ति नहीं देखी जाती है।

विशेषार्थ—समन्तभद्र स्वामीने देवका लक्षण वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशक बतलाया है। इसके विपरीत जो राग-द्वेपसे मलिन है अर्थात् उपासना करनेसे प्रसन्न होता है और उपासना न करनेसे रुष्ट होता है वह देव नहीं है, अदेव है। सांसारिक फलोंको इच्छा रखकर ऐसे रागी-द्वेपी देवोंकी आराधना करना सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य नहीं है। सम्यग्दृष्टिका धर्माचरण कर्मक्षयके उद्देश्यसे होता है भोगोपभोगकी वस्तुएँ प्राप्त करनेके उद्देश्यसे नहीं। यह उद्देश्य तो अभव्य जीवका रहता है जैसा कि कहा है—'**धम्मं भोगणिमित्तं कुव्वइ ण दु कम्मक्खयणिमित्तं**' अर्थात् वह भोगके निमित्त धर्म करता है न कि कर्मक्षयके निमित्त। सम्यग्दृष्टि जीव जब सांसारिक फलकी इच्छा लेकर जिनेन्द्र देवकी उपासनाको भी सम्यक्त्वका दोष मानता है तब रागी-द्वेपी देवोंकी उपासनाको वह करेगा यह संभव नहीं है। आचार्य सोमदेवने कहा है—

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥

तीनों जगत्को देखनेके लिये नेत्रस्वरूप अरहंत देवको तथा व्यन्तरादिक देवोंको जो पूजाविधानमें समान देखता है वह बहुत दूर नीचे जाता है अर्थात् नरकका पात्र होता है। समन्तभद्राचार्य भी आगे कहेंगे कि सम्यग्दृष्टि पुरुष भयसे, आशासे, स्नेहसे और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंको प्रणाम तथा विनय न करें[1]। सम्यग्दृष्टिका दृढ़ विश्वास होता है कि हमारे पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार ही शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है, किसीके देने-लेनेसे नहीं। यही कारण है कि वह कुदेवोंकी उपासनासे अपने मनोरथोंको पूर्ण नहीं करता

---

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।

चाहता। बात रह जाती है प्रतिष्ठा आदि महान् कार्योंमें शासनदेवताओंके सम्मान आदिकी, सो उसे सम्यग्दृष्टि भी करता है। जैसा कि कहा गया है—

ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः[1] ॥

परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासनदेवताओंकी कल्पना की गई है इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवोंके द्वारा वे यज्ञांशदानके द्वारा संमाननीय हैं।

वीतराग देव तो किसीके लिए कुछ देते लेते नहीं हैं। अपनी शुभ अशुभ भावनाओंसे भक्त जीवोंको जैसा शुभाशुभ कर्मबन्ध होता है उसके अनुसार ही शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है। इसलिए संस्कृत टीकाकारके अनुसार इष्टदेवता विशेष—जिनेन्द्रदेवको चक्रवर्ती और शासनदेवताओंको उसके परिकरकी उपमा देना तथा यह सिद्ध करना कि जिस प्रकार परिकरकी पूजाके बिना चक्रवर्तीसे फलकी प्राप्ति नहीं होती इसी प्रकार शासनदेवताओंकी उपासनाके बिना जिनेन्द्रदेवसे शीघ्र तथा निर्विघ्नता पूर्वक वाञ्छित फलकी प्राप्ति नहीं होती, जिनेन्द्रदेवका अवर्णवाद जान पड़ता है ॥ २३ ॥

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाह—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

'पाषण्डिमोहनं'। 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यं। कोऽसौ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा। केषां? 'पाषण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां। किंविशिष्टानां? 'सग्रन्थारंभहिंसानां' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरंभाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषां। तथा 'संसारावर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तंते इत्येवं शीलास्तेषां। एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारोच्छित्तिकारणं अस्मयत्व-सम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

अब सम्यग्दर्शनके स्वरूपमें पाखण्डिमूढ़ताका स्वरूप दिखाते हुए कहते हैं—

सग्रन्थेति—(**सग्रन्थारम्भहिंसानां**) परिग्रह, आरम्भ और हिंसासे सहित, तथा (**संसारावर्तवर्तिनाम्**) संसारभ्रमणके कारणभूत कार्योंमें लीन (**पाषण्डिनां**)

---

१. यशस्तिलकचम्पू।

अन्य कुलिङ्गियोंको (पुरस्कारः) अग्रेसर करना (पाषण्डिमोहनं) पाषण्डि-मूढ़ता—गुरुमूढ़ता (ज्ञेयं) जाननेके योग्य है।

टीकार्थ—जो दासी-दास आदि परिग्रह, खेती आदि आरम्भ और अनेक प्रकारके प्राणोवधरूप हिंसासे सहित हैं तथा संसारमें आवर्त—भ्रमण करानेवाले विवाह आदि कार्योंमें संलग्न हैं ऐसे अन्य साधुओंकी प्रशंसा करना तथा उन्हें धार्मिक कार्यों में अग्रसर करना पाषण्डिमूढता जानना चाहिए। पाषण्डीका अर्थ गुरु होता है और मूढताका अर्थ अविवेक है। गुरुविषयक जो अविवेक है वह पाषण्डिमूढता है। उपर्युक्त तोन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन ही संसारके उच्छेदका कारण है, जैसा कि आठमदोंसे रहित सम्यग्दर्शन संसारके उच्छेदका कारण है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमें गुरुकी उपयोगिता इसलिए है कि वे सच्चे देवके द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्गपर स्वयं चलकर उसका क्रियान्वयन करते हुए दूसरे जोवोंको मोक्षमार्गमें अग्रसर करते हैं। पर जो गुरु, मोक्षमार्गके पथिक न बनकर संसारके ही पथिक बन रहे हैं, आरम्भ, परिग्रह तथा हिंसादि पापोंमें लीन हैं और गृहस्थोंके ही समान संसार-भ्रमणके कारण विवाहादिक कार्योंमें अनुराग रखते हैं उन्हें गुरु कैसे माना जा सकता है? उपर्युक्त विवेक न रखकर चाहे जैसे कुलिंगी साधुओंको मानना उनकी भक्ति, वन्दना आदि करना तथा उनकी प्रशंसा आदि करना पाषण्डिमूढता—गुरुमूढता है ॥ २४ ॥

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याह—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

'आहु'र्ब्रुवन्ति[1]। कं ? 'स्मयं'। के ते ? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः[2] जिनाः। किं तत् ? 'मानित्वं' गर्वितं। किं कृत्वा ? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा[3] हि। ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति। एवं पूजां कुलं जातिं बलं ऋद्धिमैश्वर्यं तपो वपुः शरीरसौन्दर्यमाश्रित्य पूजादिमदो भवति। ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति संख्यानुपपन्ना[4] इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञान एवान्तर्भावात् ॥ २५ ॥

---

१. वदन्ति घ० २. नष्टमोहा घ० ३. तथा हि ज्ञानमाश्रित्य घ०।
४. नुत्पत्तिरित्यप्युक्तं घ०।

अब स्मय—गर्व क्या है और कितने प्रकारका होता है ? यह कहते हैं—

ज्ञानमिति—(**ज्ञानं**) ज्ञान (**पूजां**) पूजा (**कुलं**) कुल (**जातिं**) जाति (**बलं**) बल (**ऋद्धिं**) ऋद्धि (**तपः**) तप और (**वपुः**) शरीर इन (**अष्टौ**) आठका (**आश्रित्य**) आश्रय लेकर (**मानित्वं**) गर्वित होनेको (**गतस्मयाः**) गर्वसे रहित गणधरादिक (**स्मयं**) गर्व—मद (**आहुः**) कहते हैं।

टीकार्थ—जिनका स्मय—मद नष्ट हो गया है ऐसे जिनेन्द्रदेव ज्ञानादिक आठ वस्तुओंका आश्रय लेकर गर्व करनेको स्मय या मद कहते हैं। अपने क्षायोपशमिकज्ञानका अहङ्कार करना ज्ञानमद है। इसी प्रकार अपनी पूजा-प्रतिष्ठा-लौकिक सम्मानका गर्व करना पूजामद है। पिताके वंशको कुल और माताके वंशको जाति कहते हैं, इनका अहंकार करना सो कुलमद और जातिमद है। शारीरिक शक्तिको बल कहते हैं, इसका गर्व करना सो बलमद है। बुद्धि आदि ऋद्धियोंको अथवा गृहस्थकी अपेक्षा धन आदिके वैभवको ऋद्धि कहते हैं, इसके अहङ्कारको ऋद्धिमद कहते हैं। अनशनादि तपोंको तप कहते हैं, इसका गर्व करना सो तपोमद है और स्वस्थ तथा सुन्दर शरीरका गर्व करना सो शरीरमद है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शिल्प—कलाकौशलका भी तो मद होता है इसलिए नौ मद होनेपर मदकी आठ संख्या सिद्ध नहीं होती ? इसके उत्तरमें टीकाकार कहते हैं कि शिल्पका मद ज्ञानमदमें ही अन्तर्गत हो जाता है इसलिए नौवां मद माननेकी आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ—अपने आपमें बड़प्पनका अनुभव करते हुए दूसरोंको तुच्छ समझना स्मय या मद कहलाता है। लोकमें ज्ञानादिक आठ वस्तुओंका अहंकार किया जाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इनका यथार्थ स्वरूप समझता है और निश्चय रखता है कि यह क्षायोपशमिक ज्ञान आदि वस्तुएँ मेरे स्वाधीन नहीं हैं किन्तु कर्माधीन हैं और कर्मका उदय न जाने कब कैसा आ जावे, इसलिए अहंकार करना उचित नहीं है। अहंकारसे बचनेके लिए यह आवश्यक है कि अपनेसे अधिक गुणवान्‌की ओर दृष्टि रखी जावे। अधिक गुणवान्‌की ओर दृष्टि रखने से अहंकारका भाव नहीं होता। परन्तु अपनेसे हीन गुणवान्‌की ओर दृष्टि देनेसे अहंकारका भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। जैनागममें कुल और जातिकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ स्वीकृत की गई हैं इसलिए मदोंकी संख्या आठ होती है पर क्षेमेन्द्र आदिने कुल और जातिको पृथक्-पृथक् न मानकर एक ही माना है, इसलिए उनके यहाँ मदकी संख्या सात ही मानी गई है। उन्होंने मदके स्थान-पर दर्प[1] शब्दका उपयोग किया है ॥ २५ ॥

---

१. देखो क्षेमेन्द्र कविका 'दर्पदलनम्'।

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण। 'गर्विताशयो' दर्पितचित्तः[1]। 'यो' जीवः। 'धर्मस्थान' रत्नत्रयोपेतानन्यान्। 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः। 'सोऽत्येति' अवधीरयति। कं? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतं? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥ २६ ॥

अब इस आठ प्रकारके मदसे प्रवृत्ति करने वाले पुरुषके क्या दोष उत्पन्न होता है यह दिखलाते हुए कहते हैं—

स्मयेनेति—(**स्मयेन**) उपर्युक्त मदसे (**गर्विताशयः**) गर्वितचित्त होता हुआ (**यः**) जो पुरुष (**धर्मस्थान्**) रत्नत्रयरूप धर्ममें स्थित (**अन्यान्**) अन्य जीवोंको (**अत्येति**) तिरस्कृत करता है (**सः**) वह (**आत्मीयं**) अपने (**धर्मं**) धर्मको (**अत्येति**) तिरस्कृत करता है क्योंकि (**धार्मिकैर्विना**) धर्मात्माओंके विना (**धर्मः**) धर्म (**न**) नहीं होता।

टीकार्थ—ऊपर जिन ज्ञान, पूजा आदि आठ प्रकारके मदोंका वर्णन किया गया है उनसे गर्वितचित्त होता हुआ जो पुरुष रत्नत्रयरूप धर्ममें स्थित अन्य धर्मात्माओंका तिरस्कार करता है—अवज्ञाके द्वारा उनका उल्लङ्घन करता है वह जिनेन्द्रप्रणीत अपने ही रत्नत्रय धर्मका तिरस्कार करता है क्योंकि रत्नत्रय का पालन करने वाले धर्मात्माओंके बिना धर्म नहीं रहता है।

विशेषार्थ—धर्म आत्माका गुण है और गुण सदा गुणीके आधारपर रहता है। गुणीसे गुण कभी पृथक् नहीं रहता, जब यह सिद्धान्त है तब अपना रत्नत्रय-रूप धर्म किसी व्यक्तिके आश्रय ही रह सकता है उससे पृथक् नहीं। अतः जो किसी अन्य धर्मात्मा पुरुषका तिरस्कार करता है वह अपने धर्मका ही तिरस्कार करता है ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव अपने धर्मके प्रति आस्थावान् रहता है इसलिए वह कभी किसी धर्मात्माका अनादर नहीं करता ॥ २६ ॥

[2]ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुं शक्य इत्याह—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

---

१. दर्पिष्ठचित्तः घ०। २. ननु कुलबलैश्वर्यसम्पत्तौ घ०।

'पापं' ज्ञानावणाद्यशुभं कर्म निरुद्धयते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादिः सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजनं ? न किनपि प्रयोजनं तन्निरोधेऽतोऽप्यधिकाया विशिष्टतरायास्तत्सम्पदः सद्भावमवबुद्धयमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः। 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति तथाप्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं। अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्धयमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥ २७ ॥

अब कुल, ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न मनुष्योंके द्वारा मदका निषेध किस प्रकार किया जा सकता है ? यह कहते हैं—

यदीति—(यदि) यदि (पापनिरोधः) पापको रोकनेवाला रत्नत्रयधर्म (अस्ति) है (तर्हि) तो (अन्यसम्पदा अन्य सम्पत्तिसे (किं प्रयोजनम्) क्या प्रयोजन है । अथ) यदि (पापास्रव) पापका आस्रव मिथ्यात्व, अविरति आदि (अस्ति) है (तर्हि) तो (अन्यसंपदा) अन्यसम्पत्तिसे (किं प्रयोजनम्) क्या प्रयोजन है ?

टीकार्थ—प्रश्न यह उठाया गया था कि कुल, ऐश्वर्य आदिसें सम्पन्न मनुष्य मदको किस प्रकार रोक सकते हैं ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि विवेकी जीवको सदा ऐसा विचार करना चाहिए कि यदि मेरे ज्ञानावरणादि अशुभकर्मरूपी पापको रोकने वाला रत्नत्रयधर्म विद्यमान है तो मुझे कुल ऐश्वर्य आदि अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन है। क्योंकि उससे श्रेष्ठतम सम्पत्तिरूप रत्नत्रयधर्म मेरे पास विद्यमान है। और इसके विपरीत यदि ज्ञानावरणादि अशुभकर्मरूप पापका आस्रव होता है—मिथ्यात्व, अविरति, आदि आस्रव भाव विद्यमान हैं तो अन्य संपदासे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि उस आस्रवसे दुर्गतिगमन आदि फलकी प्राप्ति नियमसे होगी। ऐसा विचार करनेसे कुल, ऐश्वर्य आदिका गर्व दूर हो जाता है।

विशेषार्थ—'पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुध्यते येनासौ पापनिरोधः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ 'पापनिरोध' शब्दसे रत्नत्रयको ग्रहण किया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव विचार करता है कि जब मेरे पास रत्नत्रयरूप सम्पदा विद्यमान है तब अन्य तुच्छ सम्पदाओंकी क्या आवश्यकता है जिनका कि गर्व किया जावे। यदि पापकर्मोंका आस्रव करने वाले मिथ्यादर्शन, अविरति आदि भाव विद्यमान हैं तो अन्य तुच्छ सम्पदाओंकी क्या आवश्यकता है क्योंकि उनके रहते हुए भी दुर्गतिमें गमन निश्चित रूपसे होता है ऐसी निष्प्रयोजन संपत्तिके

गर्व से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? ऐसा विचार करनेसे जीव कुल ऐश्वर्य आदिके अहंकारसे बच जाता है ॥ २७ ॥

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नामपि मातङ्गदेहजम्
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

'देवं' आराध्यं। 'विदु'र्मन्यन्ते। के ते? 'देवा' "देवा[1] वि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो" इत्यभिधानात्। कमपि? 'मातंगदेहजमपि' चांडालमपि। कथंभूतं? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं। अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥ २८ ॥

आगे यही भाव दिखलाते हुए कहते हैं—

सम्यग्दर्शनेति—(**देवाः**) गणधरादिक देव, (**मातङ्गदेहजमपि**) चाण्डाल कुलमें उत्पन्न हुए भी (**सम्यग्दर्शनसंपन्नं**) सम्यग्दर्शनसे युक्त जीवको (**भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्**) भस्मसे आच्छादित आंगारके भीतरी भागके समान तेजसे युक्त (**देवं**) आदरणीय (**विदुः**) जानते हैं।

टीकार्थ—चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यदि कोई पुरुष सम्यग्दर्शनसे संपन्न है तो उसे गणधरादिक देव, आदरके योग्य कहते हैं क्योंकि '**देवावि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो**'—जिसका मन सदा धर्ममें रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसा कहा गया है। ऐसे पुरुषका तेज भस्मसे आच्छादित आङ्गारके भीतरी तेजके समान होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीवके हो सकता है। इसके होनेमें किसी गति, जाति या कुलका प्रतिबन्ध नहीं है। जिसकी आत्मामें सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है वह अनन्त संसारको सान्त कर देता है। चाण्डालादि नीचकुलमें उत्पन्न होनेपर भी सम्यग्दृष्टि जीव आदरका पात्र है उसको आत्मा उस आंगारके मध्य भागके समान तेजसे देदीप्यमान है जिसके

---

१. धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो। —श्रावक-प्रतिक्रमण।

ऊपर भस्मका आवरण चढ़ा हुआ है। कितने ही महानुभाव इस श्लोकका अवतरण इस सिद्धान्तको प्रतिफलित करनेमें दिया करते हैं कि जाति या कुल कोई चीज़ नहीं है क्योंकि समन्तभद्रस्वामीने सम्यग्दर्शनसे सहित चाण्डालको भी देव कहा है। उन्हें 'भस्मगूढान्तरौजसम्' इस विशेषणपर भी दृष्टिपात करना चाहिये। इस विशेषण द्वारा समन्तभद्रस्वामी कह रहे हैं कि जिस प्रकार आंगारका भीतरी तेज भस्मसे आच्छादित हो रहा है उसी प्रकार चाण्डाल कुलोत्पन्न सम्यग्दृष्टि जीवका भीतरी तेज नीचकुलसे आच्छादित हो रहा है। अतएव चाण्डालादि कुलमें उत्पन्न हुआ सम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावक उतना ही आदरका पात्र होता है जितना कि चरणानुयोग स्वीकृत करता है। यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि कुल, ऐश्वर्य आदिकी संपन्नता अहंकारका कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि इनकी प्रतिष्ठा सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे ही होती है। इनके विना उच्चकुल तथा ऐश्वर्य आदिकी प्रतिष्ठा नहीं है और इनके प्रकट होनेपर नीचकुल तथा ऐश्वर्य आदिकी भी प्रतिष्ठा यथायोग्य होने लगती है ॥२८॥

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाह—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥ २९ ॥

'श्वापि' कुक्करोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते। कस्मात्? 'धर्मकिल्बिषात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्बिषात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति यत एवं, ततः 'कापि' वाचामगोचरा। 'नाम' स्फुटं। 'अन्या' अपूर्वाऽद्वितीया। 'सम्पद्' विभूतिविशेषो। 'भवेत्'। कस्मात्? धर्मात्। केषां? 'शरीरिणां' संसारिणां। यत एवं, ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः ॥ २९ ॥

अभी तक एक धर्मके ही विविध फलोंको प्रकाशित किया, अब यहाँ धर्म और अधर्म दोनोंका फल एक ही श्लोकमें यथाक्रमसे दिखलाते हुए कहते हैं—

श्वापीति—(**धर्मकिल्बिषात्**) धर्म और पापसे क्रमशः (**श्वापि देवः**) कुत्ता भी देव और (**देवोऽपि श्वा**) देव भी कुत्ता (**जायते**) हो जाता है। यथार्थमें (**धर्मात्**) धर्मसे (**शरीरिणाम्**) प्राणियोंकी (**कापि नाम अन्या**) कोई अनिर्वचनीय (**सम्पत्**) सम्पत्ति (**भवेत्**) होती है।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनादि रूप धर्मकी महिमासे कुत्ता भी देव हो जाता है और मिथ्यादर्शनादि अधर्मकी महिमासे देव भी कुत्ता हो जाता है। रत्नत्रयरूप

धर्मके प्रभावसे प्राणियोंको ऐसी सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है जो वचनोंके द्वारा कही नहीं जा सकती तथा अप्राप्तपूर्व होती है।

विशेषार्थ—प्रथमानुयोगमें कथा आती है कि जीवन्धर स्वामीके मुखसे पञ्चनमस्कारमन्त्र सुनकर कुत्ता सुदर्शन यक्ष बन गया। भगवान् पार्श्वनाथके मुखारविन्दसे पञ्चनमस्कारमन्त्र सुनकर नाग-नागिनी धरणेन्द्र पद्मावती पदको प्राप्त हो गये और सेठके मुखसे नमस्कारमन्त्रको सुनकर एक बैल भी देवपर्यायको प्राप्त हो गया। इस प्रकार धर्मकी महिमा अनुपम है। यहाँ पञ्चनमस्कारमन्त्रकी श्रद्धाको ही सम्यग्दर्शनरूप धर्म मानकर उसकी महिमा बतलाई गई है। करणानुयोगकी अपेक्षा जिसके सम्यग्दर्शन होता है उसकी भवनत्रिकमें उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार वर्तमान आयुके छह माह शेष रहनेपर जब देवोंकी माला मुरझाती है तब मिथ्यादृष्टि देव आर्तध्यानके कारण तिर्यञ्च आयुका बन्धकर आगामी पर्यायमें तिर्यञ्च होते हैं। भवनत्रिक तथा दूसरे स्वर्गतकके देव तो एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं और बारहवें स्वर्ग तकके पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हो सकते हैं। इस प्रकार धर्मकी महिमा जानकर उसे प्राप्त करना चाहिये और अधर्मकी महिमा जानकर उसका त्याग करना चाहिये॥ २९॥

तथानुतिष्ठता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥ ३०॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्युः। कं? 'प्रणाम' उत्तमाङ्गेनोपनतिं। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशंसादिलक्षणं। केषां? कुदेवागमलिंगिनां। कस्मादपि? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भयं राजादिजनितं, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकांक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। चशब्दोऽप्यर्थः॥ ३०॥

आगे, उस सम्यग्दर्शनको धारण करने वाले जीवको प्रारम्भसे ही उसमें मलिनता नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं—

भयाशेति—(शुद्धदृष्टयः) निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव (भयाशास्नेहलोभात् च) भय, आशा, स्नेह और लोभसे भी (कुदेवागमलिङ्गिनाम्) मिथ्या देव, मिथ्या शास्त्र और कुगुरुको (प्रणामं) नमस्कार (च) और (विनयं) विनय भी (न कुर्युः) न करें।

टीकार्थ—राजा आदिसे उत्पन्न हुए आतंकको भय कहते हैं, आगामी पदार्थकी इच्छा करना आशा है, मित्रोंके अनुरागको स्नेह कहते हैं और वर्तमान कालमें धन प्राप्तिकी जो गृध्नता है उसे लोभ कहते हैं। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन चारों कारणोंसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुको न तो प्रणाम करे—मस्तक झुकाकर नमस्कार करे और न उनकी विनय करे—हाथ जोड़े तथा प्रशंसा आदिके वचन कहे।

विशेषार्थ—कितने ही लोग अन्तरङ्गमें कुदेवादिककी श्रद्धा न होनेपर भी राजादिकके भयसे, आगामी कालमें प्राप्त होनेवाले धनकी आशासे, मित्रादिकके अनुरागसे और लोभसे कुदेवादिको प्रणाम या उनका विनय करने लगते हैं तथा इसे सम्यग्दर्शनका अतिचार मानकर संतोष कर लेते हैं कि हमने सम्यक्त्वको नष्ट तो नहीं किया है मात्र अतिचार लगाया है। ऐसे जीवोंको समन्तभद्र स्वामी सचेत करते हुए कहते हैं कि जो अपने सम्यग्दर्शनको शुद्ध रखना चाहते हैं—निरतिचार-निर्मल सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं उन्हें भयादिक कारणोंसे भी कुदेवादिकको नमस्कार या उनका विनय नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे सम्यग्दर्शनमें दोष उत्पन्न होता है। विपत्तिके समय दृढता धारण करना ही सम्यग्दर्शनकी विशेषता है। सम्यग्दृष्टि जीव कुदेवादिकके संपर्कसे दूर होता है ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानं कृतमित्याह—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥ ३१ ॥

'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। कं? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा। कस्मात्? ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमानं तस्माद्दर्शनमुपाश्नुते। 'तत्' तस्मात्। 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके 'दर्शनं कर्णधारं' प्रधानं प्रचक्षते। यथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकस्य कैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा संसारसमुद्रपर्यंतगमने सम्यग्दर्शनकर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥ ३१ ॥

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मोक्षमार्ग तो रत्नत्रयरूप है फिर सबसे पहले सम्यग्दर्शनका ही स्वरूप क्यों कहा गया? इसका उत्तर कहते हैं—

दर्शनमिति—[यत्] जिस कारण (दर्शनं) सम्यग्दर्शन (ज्ञान-चारित्रात्) ज्ञान और चरित्रकी अपेक्षा (साधिमानं) श्रेष्ठता या उत्कृष्टता

को (उपाश्नुते) प्राप्त होता है (तत्) उस कारणसे (दर्शनं) सम्यग्दर्शनको (मोक्षमार्गे) मोक्षमार्गके विषयमें (कर्णधारं) खेवटिया (प्रचक्षते) कहते हैं।

टीकार्थ—जिस प्रकार समुद्रके उस पार जानेमें नावकी प्रवृत्ति, नाव चलाने वाले मल्लाहके अधीन होती है उसी प्रकार संसार-समुद्रके उस पार जानेमें मोक्षमार्गरूपी नावकी प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनरूपी कर्णधारके अधीन है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा श्रेष्ठता या उत्कृष्टताको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—ज्ञान और चारित्रमें जो श्रेष्ठताका व्यवहार होता है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होता है। सम्यग्दर्शनके बिना ग्यारह अंग नौ पूर्व तकका ज्ञान और महाव्रतरूपी चारित्र सम्यग् व्यवहारको प्राप्त नहीं होते। इसलिये गणधरादिक देव उसे मोक्षमार्गरूपी नावके कर्णधार खेवटिकाकी उपमा देते हैं॥ ३१॥

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्वं सिद्ध्यति तच्च कुतः सिद्धमित्याह

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ ३२॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते? संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। कस्य? विद्यावृत्तस्य। अयमर्थः—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्य च सामायिकादिचारित्रस्य या संभूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चावस्थानं, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्षः फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः। कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह—**बीजाभावे तरोरिव** बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति॥ ३२॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता सिद्ध होनेपर उसमें कर्णधारपना सिद्ध होता है। परन्तु वह उत्कृष्टता किससे सिद्ध होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

विद्यावृत्तेति—(**बीजाभावे**) बीजके अभावमें (**तरोः इव**) वृक्षकी तरह (**सम्यक्त्वे असति**) सम्यक्त्वके न होनेपर (**विद्यावृत्तस्य**) ज्ञान और चारित्रकी (**संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः**) उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी उद्भूति (**न सन्ति**) नहीं होती है।

टीकार्थ—विद्याका अर्थ मति आदि ज्ञान है तथा वृत्तका अर्थ सामायिक आदि चारित्र है। संभूतिका अर्थ प्रादुर्भाव—प्रकट होना है, स्थितिका अर्थ पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा जानना तथा कर्मनिर्जराका हेतु होकर रहना है, वृद्धिका अर्थ उत्पन्न होकर आगे-आगे बढ़ते जाना है और फलोदयका अर्थ देवादिकी पूजासे स्वर्ग तथा मोक्षादिकी प्राप्ति होना है। जिस प्रकार मूलकारण रूप बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार मूलकारणभूत सम्यग्दर्शनके अभावमें ज्ञान तथा चारित्रकी न उत्पत्ति होती है, न स्थिति होती है, न वृद्धि होती है और न फलकी प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार वृक्षकी उत्पत्ति आदिमें बीजका सद्भाव आवश्यक है उसी प्रकार ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति आदिमें सम्यग्दर्शनका सद्भाव आवश्यक है। इस तरह सम्यग्दर्शन स्वयं महिमाशाली होनेसे श्रेष्ठ है और श्रेष्ठताके कारण उसका कर्णधारपना स्वतः सिद्ध है। सम्यग्दर्शनके बिना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वोका विशाल ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है तथा पाँच महाव्रतोंका आचरण करना भी मिथ्या चारित्र कहलाता है। ऐसा मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र इस जीवने अनन्तवार प्राप्त किया है परन्तु उसके द्वारा मोक्षरूप फलको प्राप्त नहीं कर सका ॥ ३२ ॥

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टतरस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः इत्थंभूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति। 'अनगारो' यतिः। पुनः 'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति। किंविशिष्टः? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृही गृहस्थो। यो निर्मोहः स 'श्रेयान्' उत्कृष्टः। कस्मात्? मुनेः। कथंभूतात्? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात् ॥ ३३ ॥

आगे, जिस कारण सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न गृहस्थ भी सम्यग्दर्शनसे रहित मुनिकी अपेक्षा उत्कृष्ट है उस कारणसे भी सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है यह कहते हैं—

१. नोपेटकर्कवर्तकस्य क।

गृहस्थ इति—(निर्मोहः) मोह-मिथ्यात्वसे रहित (गृहस्थः) गृहस्थ (मोक्षमार्गस्थः) मोक्षमार्गमें स्थित है परन्तु (मोहवान्) मोह-मिथ्यात्वसे सहित (अनगारः) मुनि (नैव) मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है (मोहिनः) मोही-मिथ्यादृष्टि (मुनेः) मुनिकी अपेक्षा (निर्मोहः) मोहरहित-सम्यग्दृष्टि (गृही) गृहस्थ (श्रेयान्) श्रेष्ठ [अस्ति] ।

टीकार्थ—जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनको घातनेवाले मोहनीय कर्मसे रहित होनेके कारण सम्यग्दर्शनरूप परिणत है वह तो मोक्षमार्गमें स्थित है परन्तु जो दर्शनमोहसे सहित होनेके कारण मिथ्यात्वरूप परिणत हो रहा है ऐसा मुनि भी मोक्षमार्गमें स्थित नहीं है । इस तरह मोहसे रहित गृहस्थ भी मोहसे युक्त मुनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सात प्रकृतियां सम्यग्दर्शनको घातनेवाली हैं। जब तक इनका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय नहीं हो जाता तब तक सम्यग्दर्शनगुण प्रकट नहीं हो सकता । ऐसा एक गृहस्थ है जिसके उपर्युक्त सातों प्रकृतियोंके उपशमादिसे सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है और इससे विपरीत एक ऐसा मुनि है जिसके उपर्युक्त सात प्रकृतियोंका उपशमादि नहीं हुआ है अर्थात् उदय चल रहा है परन्तु इनका और साथमें अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन नामक चारित्रमोहकी प्रकृतियोंका मन्दतर उदय होनेसे जिसने महाव्रत धारणकर लिये हैं तथा चरणानुयोगमें वताये हुए मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुणोंका जो निर्दोष पालन करता है । करणानुयोगकी पद्धतिसे जव इन दोनोंमें तुलना की जाती है । तो ऊपर कहे हुए मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ मालूम होता है। उसके ४१ प्रकृतियोंका संवर हो गया है। पर मुनिके वन्धयोग्य सभी प्रकृतियोंका वन्ध जारी रहता है । गृहस्थ चतुर्थगुणस्थानवर्ती कहा जाता है और उपर्युक्त मुनि प्रथमगुणस्थानमें ही पड़ा रहता है । गृहस्थ गुणश्रेणीनिर्जराका पात्र हो जाता है पर उस मुनिके ऐसी निर्जराका अंश भी नहीं होता । गृहस्थ मोक्षमार्गमें स्थित कहा जाता है और मुनि संसारमार्गमें स्थित ।। ३३ ।।

यत एवं ततः—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।। ३४ ।।

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्'[1] अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति ? 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क्व तन्नास्ति ? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि। तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किंचिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीतादपकृष्टतां व्रजतीति ॥३४॥

आगे सम्यक्त्वके समान कल्याण और मिथ्यात्वके समान अकल्याण करनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है यह कहते हैं—

न सम्यक्त्वेति—(**तनूभृताम्**) प्राणियोंके (**त्रैकाल्ये**) तीनों कालों और (**त्रिगत्यपि**) तीनों लोकोंमें भी (**सम्यक्त्वसमं**) सम्यग्दर्शनके समान (**श्रेयः**) कल्याणरूप (**च**) और (**मिथ्यात्वसमं**) मिथ्यादर्शनके समान (**अश्रेयः**) अकल्याणरूप (**अन्यत्**) अन्य वस्तु (**न**) नहीं है।

टीकार्थ—भूत, भविष्यत् और वर्तमानके भेदसे तीनों कालोंमें तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीनों लोकोंमें सम्यग्दर्शनके समान प्राणियोंका कल्याण करनेवाली दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि उसके रहते हुए गृहस्थ भी मुनिसे भी अधिक उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तथा मिथ्यात्वके समान दूसरी वस्तु अकल्याण करनेवाली नहीं है क्योंकि उसके सद्भावमें व्रत और संयमसे संपन्न मुनि भी गृहस्थकी अपेक्षा भी अपकृष्टता—हीनताको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—संसारमें सम्यग्दर्शनसे बढ़कर जीवोंका मित्र नहीं है और मिथ्यात्वसे बढ़कर शत्रु नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शनके होनेपर अनन्त संसार सांत हो जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है वह अर्धपुद्गलपरिवर्तनसे अधिक काल तक संसारमें नहीं रहता। सम्यग्दर्शनके अस्तित्वकालमें नारकी जीवके भी जो आत्मीय आनन्द होता है वह मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रको भी दुर्लभ है। सम्यग्दर्शनके होने पर व्रतरहित गृहस्थ भी मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है ॥३४॥

इतोऽपि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याह—

[आर्यागीतिछन्दः]

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

---

१. अन्यद्वस्तु घ०।

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'नव्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि। नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वं स्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च'। अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुलतां दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुंठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं। कथंभूता अपि एतत्सर्वं व्रजन्ति ? 'अव्रतिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि।

आगे कुछ और भी कारण वतलाते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट है—

सम्यग्दर्शनेति—(सम्यग्दर्शनशुद्धाः) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीव (अव्रतिका अपि) व्रत रहित होनेपर भी (नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि) नारक, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्रीपनेको (च) तथा (दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां) नीच कुल विकलाङ्ग अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रताको (न व्रजन्ति) प्राप्त नहीं होते।

टीकार्थ—'सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धाः'[1] इस समासके अनुसार जिनका सम्यग्दर्शन शुद्ध—निर्मल-निरतिचार है ऐसे जीव बद्धायुष्कोंको छोड़कर नारकत्व, तिर्यक्त्व, नपुंसकत्व, और स्त्रीत्वको प्राप्त नहीं होते। इतना 'नीचकुलता, विकृतता-विकलाङ्गता, अल्पायुष्कता और दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जीवोंकी भी जब इतनी महिमा है तब व्रतसहित जीवोंकी महिमाको तो कहना ही क्या है ?

विशेषार्थ—ऐसा नियम है कि आयुकर्मका बन्ध हो जानेपर वह छूटता नहीं है। इसलिए जिस जीवको सम्यग्दर्शन होनेके पहले नरकायुका बन्ध हो चुका है उसे नरक अवश्य जाना पड़ता है परन्तु वह पहले नरकसे नीचे नहीं जाता। नरकमें नपुंसकवेदके अतिरिक्त दूसरा वेद होता नहीं है, इसलिए प्रथम नरकतक

१. इस विग्रहमें 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इस नियमानुसार विशेषणवाचक शुद्धशब्दका पूर्वप्रयोग होनेसे 'शुद्धसम्यग्दर्शनाः' ऐसा रूप होगा। अतः 'सम्यग्दर्शनेन शुद्धाः सम्यग्दर्शनशुद्धाः' इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास करना उचित प्रतीत होता है।

चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥

—कर्मकाण्ड

उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवको नपुंसक वेदमें भी उत्पन्न होना पड़ता है। जिस जीवको सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व तिर्यञ्च अथवा मनुष्यायुका वन्ध हो चुका है उसे तिर्यञ्च और मनुष्योंमें अवश्य ही उत्पन्न होना पड़ता है परन्तु वह नियमसे भोगभूमिका ही तिर्यञ्च और मनुष्य होता है, कर्मभूमिका नहीं और भोगभूमिके वाद नियमसे देव होता है। इसी प्रकार जिस जीवके सम्यग्दर्शन होनेके पहले देवायुका वन्ध हो गया है वह देवोंमें उत्पन्न होता है, परन्तु वैमानिक देवोंमें ही उत्पन्न होता हैं भवनत्रिकोंमें नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीपर्यायमें उत्पन्न नहीं होता है। यदि उसे सम्यग्दर्शनके पूर्व स्त्रीवेदका वन्ध पड़ गया है तो वह पुरुषवेदके पुरुषोंमें परिवर्तित हो जाता है। तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवोंमें पूर्ववद्ध नपुंसकवेद भी पुरुषवेदके रूपमेंप रिवर्तित हो जाता है। मनुष्य और तिर्यञ्चके सम्यग्दर्शनके कालमें यदि आयुका वन्ध होता है तो नियमसे वैमानिक देवोंकी आयुका ही वन्ध होता है और नारकी तथा देवोंके सम्यग्दर्शनके कालमें यदि आयु वन्ध होता है तो नियमसे कर्मभूमिके मनुष्यकी ही आयुका वन्ध होता है, अन्य आयुका नहीं। गुणस्थानोंके अनुसार नरकायुका वन्ध पहले गुणस्थान तक, तिर्यञ्च आयुका दूसरे गुणस्थान तक, मनुष्यायुका चौथे गुणस्थान तक और देवायुका सातवें गुणस्थान तक ही वन्ध होता है। तीसरे गुणस्थानमें किसी आयुका वन्ध नहीं होता और चौथे गुणस्थान तक जो मनुष्यायुका वन्ध वताया है वह देव और नारकियोंकी अपेक्षासे होता है क्योंकि तिर्यञ्च और मनुष्यके मनुष्यायुका वन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव नीच कुल, विकलाङ्गता, अन्तमुहूर्त आदिकी क्षुद्र आयु तथा दरिद्रताको प्राप्त नहीं होता। यह अव्रत सम्यग्दृष्टिकी महिमा है। व्रतसहित सम्यग्दृष्टि जीव नियमसे ऋद्धिधारी वैमानिकदेव ही होता है। आगमका ऐसा नियम है कि जिस जीवके देवायुको छोड़कर अन्य आयुका वन्ध हो गया है उसे उस पर्यायमें न अणुव्रत प्राप्त होते हैं और न महाव्रत। तथा अणुव्रत और महाव्रतके कालमें यदि आयुका वन्ध होता है तो नियमसे देवायुका ही वन्ध होता है। परन्तु सम्यग्दर्शनके लिये ऐसा नियम नहीं है क्योंकि उसकी प्राप्ति चारों आयुका वन्ध होनेपर भी हो सकती है ॥ ३५ ॥

यद्येतत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याह—

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
माहाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूताः पवित्रिताः । दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते । 'भवन्ति' । 'मानवतिलकाः' मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थः । पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा आहार्या च बुद्धिः, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्यं, यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्रपुत्रपौत्रादिसम्पत्तिः, विजयः पराभिभवेनात्मनो गुणोत्कर्षः, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्तिः, एतैः सनाथा सहिताः । तथा 'माहाकुला' महच्च तत् कुलं च माहाकुलं तत्र भवाः । 'महार्था' महान्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥ ३६ ॥

आगे यदि सम्यग्दृष्टि नारकी आदि अवस्थाको प्राप्त नहीं होते तो कैसे होते हैं, यह कहते हैं—

ओज इति—(दर्शनपूताः) सम्यग्दर्शनसे पवित्र (ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः) उत्साह, प्रताप, विद्या, पराक्रम, यश, वृद्धि, विजय और वैभवसे सहित (**माहाकुलाः**) उच्चकुलोत्पन्न, (**महार्थाः**) पुरुषार्थसे सहित तथा (**मानवतिलकाः**) मनुष्योंमें श्रेष्ठ (**भवन्ति**) होते हैं ।

टीकार्थ—'दर्शनेन पूताः पवित्रिताः अथवा दर्शनं पूतं येषां ते'[1], इस समासके अनुसार जो सम्यग्दर्शनसे पवित्र हैं अथवा जिनका सम्यग्दर्शन पवित्र है ऐसे जीव दर्शन-पूत कहलाते हैं। ओजका अर्थ उत्साह है। तेजका अर्थ प्रताप अथवा कान्ति है। स्वाभाविक अथवा जिसका हरण न किया जा सके ऐसी बुद्धिको विद्या कहते हैं। वीर्य विशिष्ट सामर्थ्यको कहते हैं; विशिष्ट प्रकारकी ख्यातिको यश कहते हैं। स्त्री, पुत्र और पौत्र आदिकी प्राप्तिको वृद्धि कहते हैं। दूसरेके तिरस्कारसे अपने गुणोंका उत्कर्ष करना विजय है। धनधान्यादिक पदार्थोंकी प्राप्ति होना विभव है। उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेवाले माहाकुल और धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थसे सहित महार्थ कहलाते हैं। तथा श्रेष्ठ मनुष्योंमें जो उत्पन्न होते हैं वे मानवतिलक कहलाते हैं। पवित्र सम्यग्दृष्टि जीव ओज आदिसे सहित, उच्च कुलोत्पन्न, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधक तथा मनुष्योंमें आभूषणस्वरूप होते हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नरक या स्वर्गसे आकर जब मनुष्य होते हैं, तब वे ओज, तेज, विद्या, यश, वृद्धि, विजय और विभवसे सहित, उच्च-

---

१. **'दर्शनं पूतं येषां ते'** इस विग्रहमें विशेषण वाचक पूत शब्दका पूर्व प्रयोग होनेसे 'पूतदर्शनाः' ऐसा पाठ सिद्ध होगा। अतः प्रथम विग्रह ही ठीक है।

कुलीन, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षके साधक श्रेष्ठ मनुष्य ही होते हैं,नीचकुलीन आदि नहीं ॥ ३६ ॥

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७॥

ये 'दृष्टिविशिष्टाः' सम्यग्दर्शनोपेता । 'जिनेन्द्रभक्ताः' प्राणिनस्ते 'स्वर्गे' । 'अमराप्सरसां परिषदि'—देवदेवीनां सभायां । 'चिरं' बहुतरं कालं । 'रमन्ते' क्रीडन्ति । कथंभूताः ? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यं, ईशित्वं, वशित्वं, कामरूपित्वमित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवानां सर्वदोपचितत्वं तेषां वा पुष्टिः परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः । तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविताः इन्द्राः सन्त इत्यर्थः ॥३७॥

आगे इन्द्रपद भी सम्यग्दृष्टि जीव ही प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं—

अष्टेति—(**दृष्टिविशिष्टाः**) सम्यग्दर्शनसे सहित (**जिनेन्द्रभक्ताः**) जिनेन्द्र भगवान्‌के भक्त पुरुष, (**स्वर्गे**) स्वर्गमें (**अमराप्सरसां परिषदि**) देव-देवियोंकी सभामें (**अष्टगुणपुष्टितुष्टाः**) अणिमा आदि आठ गुण तथा शारीरिक पुष्टि अथवा अणिमादि आठ गुणोंकी पुष्टिसे संतुष्ट और (**प्रकृष्टशोभाजुष्टाः**) बहुत भारी शोभासे सहित होते हुए (**चिरं**) चिरकाल तक (**रमन्ते**) क्रीडा करते हैं ।

टीकार्थ—जिनेन्द्रदेवके भक्त शुद्धसम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग जाते हैं तो वहाँ इन्द्र बनकर देव-देवाङ्गनाओंकी सभामें चिरकाल तक—सागरों पर्यन्त क्रीडा करते रहते हैं । वहाँ वे अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व इन आठ गुणोंसे तथा अपने शरीरसम्बन्धी अवयवोंकी पुष्टिसे अथवा अणिमा, महिमा आदि गुणोंकी पुष्टिसे संतुष्ट रहते हैं और दूसरे देवोंमें न पाई जानेवाली असाधारण शोभासे सहित होते हैं ।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य दैगम्बरी दीक्षाको धारणकर तपश्चरण करते हैं वे उसी पर्यायसे मोक्ष प्राप्त करनेकी अनुकूलता न होनेपर स्वर्ग जाते हैं तथा इन्द्र होकर देव-देवियोंकी सभामें सागरों पर्यन्त क्रीडा करते रहते हैं । वे अणिमा आदि आठ गुणोंसे सहित होते हैं और प्रकृष्ट—असाधारण शोभासे सहित होते हैं । अन्य ग्रन्थोंमें '**अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः** ॥ इस तरह आठ सिद्धियोंमें

गरिमाको सम्मिलित किया गया है। पर यहाँ संस्कृत-टीकाकारने गरिमाके स्थानमें कामरूपित्वको लिया है ॥ ३७ ॥

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः। त एव 'चक्रं' चक्ररत्नं। 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं। 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः ? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्डपृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः। पुनरपि कथंभूताः ? 'नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्तानां द्वयं तेन संख्यातानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशाः स्वामिनः। क्षत्रमौलिशेखरचरणाः क्षताद्दोषात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषां मौलयो[1] मुकुटानि तेषु शेखरा आपीठास्तेषु चरणानि येषां ॥ ३८ ॥

आगे चक्रवर्ती पद भी सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करते हैं ऐसा कहते हैं—

नवनिधीति—(स्पष्टदृशः) निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक मनुष्य ही (नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः) नौ निधियों और चौदह रत्नोंके स्वामी तथा (क्षत्रमौलिशेखरचरणाः) राजाओंके मुकुटों सम्बन्धी कलगियोंपर जिनके चरण हैं ऐसे (सर्वभूमिपतयः) चक्रवर्ती होते हुए (चक्रं) चक्ररत्नको (वर्त्तयितुं) वर्तानेके लिये (प्रभवन्ति) समर्थ होते हैं।

टीकार्थ—निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक जीव ही चक्ररत्नको चलानेमें समर्थ होते हैं अर्थात् अपने अधीन होनेसे उसे उसके द्वारा साध्य समस्त कार्योंमें प्रवर्तानेके लिये समर्थ होते हैं। वे षट्खण्ड वसुधाके स्वामी होते हैं। नौ निधियों और चौदह रत्नोंके अधीश होते हैं तथा राजाओंके मुकुटों सम्बन्धी कलगियोंपर उनके चरण रहते हैं अर्थात् राजा लोग मस्तक झुकाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करते हैं।

विशेषार्थ—मनुष्योंमें चक्रवर्तीका पद उत्कृष्ट पद कहलाता है और उसकी प्राप्ति भी सम्यग्दृष्टि जीवको ही होती है। चक्रवर्ती १ काल, २ महाकाल, ३ नैसर्प्य, ४. पाण्डुक, ५. पद्म, ६. माणव, ७. पिङ्ग, ८. शङ्ख और ९. सर्वरत्न

---

१. मौलयो मस्तकानि तेषु शेखराणि मकुटानि तानि चरणेषु येषां घ०

इन नौ निधियों[1]। तथा १. चक्र, २. छत्र, ३. दण्ड, ४. असि, ५. मणि, ६. चर्म, ७. काकिणो, ८. सेनापति, ९. गृहपति, १०. हाथी, ११. घोड़ा, १२. स्त्री, १३. सिलावट और १४. पुरोहित इन चौदह रत्नोंका[2] स्वामी होता है। छह खण्ड पृथिवीका पति होता है और वत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा उसके चरणोंमें मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। ये चक्रवर्ती भरत और ऐरावत क्षेत्रमें प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके युगमें वारह वारह होते हैं। इनके सिवाय पञ्चमेरु संबंधी १६० विदेह क्षेत्रोंमें भी यथावसर होते हैं ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद् भवन्तीत्याह—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्टया सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

'दृष्टया' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन। 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थंकराः। किंविशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषां। कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव नूतपादाम्भोजाः, किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रतं धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषां पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथंभूतास्ते ? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चितः परिसमाप्ति गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषां। तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुतानां लोकानां शरणे साधवः ॥ ३९ ॥

आगे धर्मचक्रके प्रवर्तक—तीर्थंकर भी सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे होते हैं, यह कहते हैं—

अमरेति—(दृष्टया) सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे (जीवाः) जीव, (अमरासुरनरपतिभिः) देवेन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तियों (च) तथा (यमधरपतिभिः) मुनियोंके स्वामी गणधरोंके द्वारा (नूतपादाम्भोजाः) जिनके चरण-

---

१. कालाख्यश्च महाकालो नैःसर्प्यः पाण्डुकाह्वया।
पद्ममाणवपिंगाव्जसर्वरत्नपदादिकाः ॥ ७३ ॥
पर्व ३७ आदिपुराण।

२. चक्रातपत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी।
चमू गृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः ॥ ८४
पर्व ३७ आदिपुराण।

कमलोंकी स्तुति की जाती है, (सुनिश्चितार्थाः) जिन्होंने पदार्थका अच्छी तरह निश्चय किया है तथा जो (लोकशरण्याः) कर्मरूप शत्रुओंके द्वारा पीड़ित लोगोंको शरण देनेमें निपुण है ऐसे (वृषचक्रधराः) धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर (भवन्ति) होते हैं।

टीकार्थ—सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह जीव धर्मचक्रको प्रवर्तानेवाले तीर्थंकर होते हैं। ऊर्ध्वलोकके स्वामी सौधर्मेन्द्र आदि अमरपति, अधोलोकके स्वामी धरणेन्द्र आदि असुरपति, तिर्यग्लोकके स्वामी चक्रवर्ती तथा यमधर–मुनियोंके स्वामी गणधरदेव उन तीर्थङ्करोंके चरणकमलोंकी स्तुति किया करते हैं। वे धर्म आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निश्चय कर चुके होते हैं और अनेक प्रकारके दुःख देने वाले कर्मरूपी शत्रुओंके द्वारा उपद्रुत–पीड़ित जीवोंको शरण देनेमें निपुण होते हैं।

विशेषार्थ—जो तीर्थ—धर्मकी परम्पराको चलाते हैं उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। ये तीर्थंकर भरत और ऐरावत क्षेत्रके आर्यखण्डमें प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके युगमें चौबीस-चौबीस होते हैं। इसी प्रकार १६० विदेह क्षेत्रोंमें भी होते हैं। अधिक-से-अधिक सब मिलाकर एकसाथ एकसौ सत्तर तक हो सकते हैं। तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्यप्रकृतिके उदयसे इनके आठ प्रातिहार्योंसे युक्त समवसरणकी रचना होती है। उस समवसरणमें स्थित होकर दिव्यध्वनिके द्वारा ये धर्मकी आम्नाय चलाते हैं। तीर्थंकर भगवान्‌के देवकृत अतिशयके रूपमें एक 'धर्मचक्र' प्रकट होता है जो कि विहारकालमें उनके आगे-आगे चलता है। इस तीर्थंकरपदकी प्राप्ति जिन सोलह कारणभावनाओंसे होती है उनमें दर्शनविशुद्धि नामकी पहली भावना सबसे प्रमुख है। अष्ट अङ्गरूप सम्यग्दर्शन-को धारण करना दर्शनविशुद्धि भावना कहलाती है। प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन चारों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें केवली तथा श्रुत-केवलीका सन्निधान होनेपर चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सप्तमगुणस्थानतकके कर्म-भूमिज मनुष्यके तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध होता है। यह उत्कृष्ट पद सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही प्राप्त होता है॥ ३९॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

'दर्शनशरणाः' दर्शनं शरणं[1] संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते। 'शिवं' मोक्षं। भजन्त्यनुभवन्ति। कथंभूतं? 'अजरं' न विद्यते जरा वृद्धत्वं यत्र। 'अरुजं' न विद्यते रुग्व्याधिर्यत्र। 'अक्षयं' न विद्यते लब्धानन्तचतुष्टयक्षयो[2] यत्र। 'अव्याबाधं' न विद्यते दुःखकारणेन केनचिद्विविधा विशेषेण वा आबाधा यत्र। 'विशोकभयशङ्कं' विगता शोकभयशङ्का यत्र। 'काष्ठागतसुखविद्याविभवं' काष्ठां परमप्रकर्षं गतः प्राप्तः सुखविद्ययोर्विभवो विभूतिर्यत्र। 'विमलं' विगतं मलं द्रव्यभावरूपकर्म[3] यत्र॥ ४०॥

आगे मोक्षकी प्राप्ति भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध जीवोंको ही होती है, यह कहते हैं–

शिवमिति—(**दर्शनशरणाः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**अजरं**) वृद्धावस्थासे रहित, (**अरुजं**) रोगसे रहित, (**अक्षयं**) क्षयसे रहित, (**अव्याबाधं**) विशिष्ट अथवा विविध बाधाओंसे रहित, (**विशोकभयशङ्कं**) शोक, भय और शङ्कासे रहित (**काष्ठागतसुखविद्याविभवं**) सर्वोत्कृष्ट सुख और ज्ञानके वैभवसे सहित तथा (**विमलं**) द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप मलसे रहित (**शिवं**) मोक्षको (**भजन्ति**) प्राप्त होते हैं

टीकार्थ—'दर्शनं शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां ते'—सम्यग्दर्शन ही जिनके शरण—संसारसंबन्धी दुःखोंसे रक्षा करनेवाला है। अथवा **'दर्शनस्य शरणं रक्षणं यत्र ते'**—जिनमें सम्यग्दर्शनकी शरण—रक्षा होती हैं वे दर्शनशरण कहलाते हैं ऐसे दर्शनशरण सम्यग्दृष्टि जीव ही उस शिव–मोक्षका अनुभव करते हैं जो अजर है–वृद्धावस्थासे रहित है, अरुज है–रोगसे रहित है, अक्षय है–प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टयके क्षयसे रहित है, अव्याबाध है–विशिष्ट अथवा विविध प्रकारकी आबाधाओंसे रहित है, विशोकभयशङ्क है–शोक, भय तथा शङ्कासे रहित है, काष्ठागतसुखविद्याविभव है–परमप्रकर्षको प्राप्त हुए सुख और ज्ञानके विभवसे सहित है तथा विमल है–कर्मरूपी मलसे रहित है।

विशेषार्थ—समस्त कर्मकालिमासे रहित जीवकी जो शुद्ध परिणति है उसे मोक्ष कहते हैं। इस मोक्षमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप परपदार्थका सम्बन्ध सदाके लिए छूट जाता है इसलिए उसके निमित्तसे होने वाले बुढ़ापा, रोग, विविध बाधाएँ, शोक, भय, शङ्का आदि दुर्गुण स्वयं दूर हो जाते हैं। ज्ञान और सुख अपने सर्वोत्कृष्ट रूपमें प्रकट हो जाते हैं। यह मोक्ष अविनाशी है–प्राप्त

---

१. शरणं संसारापायपरिरक्षकं येषां, दर्शनस्य वा शरणं रक्षणं यत्र ते शिवं घ०।

२. चतुष्टयस्वरूपस्य घ०। ३. द्रव्यभावस्वरूपं कर्म घ०।

होकर फिर नष्ट नहीं होता। इस प्रकारके मोक्षकी प्राप्ति भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे सहचरित सम्यग्दर्शनसे ही होती है ॥ ४० ॥

यत्प्राक् प्रत्येकं श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनोपसंहृत्य प्रतिपादयन्नाह—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४१ ॥

'शिवं' मोक्षं। 'उपैति' प्राप्नोति। कोऽसौ ? 'भव्यः' सम्यग्दृष्टिः। कथंभूतः ? 'जिनभक्तिः' जिने भक्तिर्यस्य। किं कृत्वा ? 'लब्ध्वा'। कं ? 'देवेन्द्रचक्रमहिमानं' देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं संघातस्तत्र तस्य वा महिमानं विभूतिमाहात्म्यं। कथंभूतं ? 'अमेयमानं' अमेयोऽअपर्यन्तं मानं पूजा ज्ञानं वा यस्य तममेयमानं। तथा 'राजेन्द्रचक्रं' लब्ध्वा राज्ञामिन्द्राश्चक्रवर्तिनस्तेषां चक्रं चक्ररत्नं। किं विशिष्टं ? 'अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं' अवन्यां निजनिजपृथिव्यां इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीयं। तथा 'धर्मेन्द्रचक्रं' लब्ध्वा धर्मस्तस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषां चक्रं संघातं धर्मेन्द्राणां वा तीर्थकृतां सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथंभूतं ? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतो भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन तत्। एतत्सर्वं[1] लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितो-
पासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

पूर्वमें पृथक्-पृथक् श्लोकोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका जो फल कहा है उसे अब दर्शनाधिकारकी समाप्तिके समय संग्रहरूपसे उपसंहार करते हुए कहते हैं—

देवेन्द्रेति—(जिनभक्तिः) जिनेन्द्रभगवान्का भक्त (भव्यः) सम्यग्दृष्टि पुरुष (अमेयमानं) अपरिमित प्रतिष्ठा अथवा ज्ञानसे सहित (देवेन्द्रचक्रमहिमानं) इन्द्रसमूहकी महिमाको (अवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं) मुकुटबद्ध राजाओंके मस्तकोंसे पूजनीय (राजेन्द्रचक्रं) चक्रवर्तीके चक्ररत्नको

१. तत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्च शिवमुपैति भव्य इति घ० ।

(**च**) और (**अधरीकृतसर्वलोकं**) समस्तलोकको नीचा करनेवाले (**धर्मेन्द्र-चक्रं**) तीर्थकरके धर्मचक्रको (**लब्ध्वा**) प्राप्तकर (**शिवं**) मोक्षको (**उपैति**) प्राप्त होता है।

टीकार्थ—जिनेन्द्र भगवान्में सातिशय अनुरागको रखनेवाला भव्य—सम्यग्दृष्टि जीव, स्वर्गके इन्द्रसमूहकी उस महिमाको प्राप्त होता है जिसका मान—प्रभाव अथवा ज्ञान अपरिमित होता है। राजेन्द्रचक्र—चक्रवर्तीके उस सुदर्शन नामक चक्ररत्नको प्राप्त होता है जो कि अपनी-अपनी पृथिवीके अधिपति मुकुटवद्ध राजाओंके द्वारा पूजनीय होता है तथा धर्मेन्द्रचक्र—उत्तम-क्षमादि अथवा चारित्ररूप लक्षणसे युक्त धर्मके इन्द्र—अनुष्ठाता या प्रणेता तीर्थंकरादिकके समूहको अथवा तीर्थंकरोंके सूचक उस धर्मचक्रको प्राप्त होता है जो कि अपनी महिमासे समस्तलोक—त्रिभुवनको अपना सेवक बना लेता है। अन्तमें इन सबको प्राप्तकर मोक्षको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयको प्राप्त करनेकी योग्यता रखता है वह भव्य कहलाता है। यह भव्य, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके भेदसे यद्यपि दो प्रकारका होता है तथापि यहाँ 'जिनभक्ति' विशेषण दिया गया है उससे सम्यग्दृष्टि भव्यका ही ग्रहण होता है। सम्यग्दृष्टि भव्य तपश्चरणकर स्वर्गका इन्द्र होता है उस इन्द्र अवस्थामें इसकी अभूतपूर्व महिमा होती है तथा ज्ञान भी इसे द्वादशाङ्गका होता है। वहाँसे आकर यह चक्रवर्ती होता है। चक्रवर्तीका चक्ररत्न अपनी षट्खण्ड वसुधामें विना किसी रुकावटके चलता है और बत्तीस हजार मुकुटवद्ध राजा उसे नमस्कार करते हैं। चक्रवर्ती तपश्चरण कर फिर स्वर्गका इन्द्र बनता है और वहाँसे आकर धर्मचक्रको प्रवर्तान वाला तीर्थंकर होता है। यह तीर्थंकर इतना प्रभावशाली होता है कि तीन लोकके समस्त जीव उसके सेवक बनते हैं और वह स्वयं त्रिलोकीनाथ कहलाता है। अन्तमें यह जीव आवागमनसे रहित मोक्षको प्राप्त होता है। इस तरह यह सम्यग्दर्शन सराग अवस्थामें अभ्युदयका और वीतराग अवस्थामें मोक्षका कारण है।

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययनकी प्रभाचन्द्र-विरचित टीकामें प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

०

ज्ञानाधिकारो द्वितीयः

अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

'वेद' वेत्ति । 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' भावश्रुतरूपं । के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःसंशयं यथा भवति तथा । 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न[१] न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद । तर्हि[२] जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वस्त्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषणचतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति—'याथातथ्यं' यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतं । तद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात् । तदुक्तं

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति ॥

अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेतं मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥ १ ॥

अन्यूनमिति—(यत्) जो पदार्थको (अन्यूनं) न्यूनता रहित (अनतिरिक्तं) अधिकता रहित (याथातथ्यं) ज्यों-का-त्यों (विपरीतात् विना) विपरीतता रहित (च) और (निःसन्देहं) सन्देह रहित (वेद) जानता है (तत्) उसे (आगमिनः) आगमके ज्ञाता पुरुष (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (आहुः) कहते हैं ।

---

१. नपुनर्न्यूनं घ० । २. जीवादिवस्तु घ प्रतौ 'तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथानित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थवेदित्वात् ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह-अनतिरिक्तं वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तं' इत्यस्य स्थाने 'जीवादिवस्तुस्वरूपादनधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं' इत्येव पाठः । ३. विदितत्वात् ग ।

टीकार्थ—यहाँ ज्ञानशब्दसे भावश्रुतज्ञान विवक्षित है। सम्यग्ज्ञान पदार्थको न्यूनतारहित जानता है अर्थात् वह परस्परविरोधी नित्यानित्यादि दो धर्मोंमेंसे किसी एकको छोड़कर नहीं जानता है किन्तु उभयधर्मोंसे पूर्ण वस्तुको जानता है। अधिकतारहित जानता है अर्थात् वस्तुमें नित्यत्वैकान्त अथवा क्षणिकत्वैकान्त आदि जो धर्म अविद्यमान हैं उन्हें कल्पित कर नहीं जानता है। विपरीततारहित जानता है। सन्देहरहित जानता है और वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही जानता है। इस तरह स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान भी जीवाजीवादि समस्त पदार्थोंको उनकी सब विशेषताओंके साथ जानता है क्योंकि उसमें भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्णरूपसे वस्तुस्वरूपको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य रहती है। जैसा कि कहा है—

"स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ये दोनों ही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं। इनमें भेद, प्रत्यक्ष और परोक्षकी अपेक्षा है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे जानता है और श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे जानता है। जो श्रुतज्ञान वस्तुके एक धर्मको ही ग्रहण करता है वह अवस्तु अर्थात् मिथ्या होता है।"

इस प्रकार यहाँ भावश्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही धर्मसे अभिप्रेत है क्योंकि वही मूलकारण होनेसे स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करानेकी सामर्थ्य रखता है।

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जीवाजीवादि तत्त्वोंको जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित जानना है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस सम्यग्ज्ञानके यद्यपि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पांच भेद होते है तथापि यहाँ प्रमुखतासे भावश्रुतज्ञानका ग्रहण किया गया है, क्योंकि चरणानुयोगमें वुद्धिपूर्वक पुरुपार्थकी प्रधानतासे कथन होता है और मनुष्यका वह पुरुपार्थ समीचीन शास्त्रोंके स्वाध्यायके द्वारा भावश्रुतज्ञानके प्राप्त करनेमें ही अग्रसर होता है। अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान वुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे प्राप्त नहीं होते, किन्तु प्रतिपक्षी आवरणके अभावमें स्वयं प्रकट हो जाते हैं। मतिज्ञान इतना साधारण ज्ञान है कि वह श्रुतज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें सहायक नहीं होता। इस प्रकार भावश्रुतज्ञान ही वुद्धिपूर्वक पुरुपार्थके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भावश्रुतज्ञान द्रव्यश्रुतके आश्रयसे विकसित होता है। इसलिये द्रव्यश्रुतके जाननेमें भी मनुष्यका पुरुपार्थ होता है। यहाँ द्रव्यश्रुत, उन शास्त्रोंको कहा गया है जो वस्तुस्वरूपका

निरूपण स्याद्वादकी शैलीसे करते हैं। जो शास्त्र, स्याद्वादकी शैलीको नहीं अपनाते उनसे वस्तुका अन्यून, अनतिरिक्त, अविपरीत, निःसन्देह और यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

कितने ही लोग कहा करते हैं कि वस्तुको न्यूनता और अधिकतासे रहित ज्यों-का-त्यों तो केवलज्ञान ही जान सकता है, अन्य ज्ञान नहीं। एतावता सम्यग्ज्ञानका यह लक्षण दोषपूर्ण है परन्तु ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ केवलज्ञानकी विवक्षा न कर भावश्रुतज्ञानकी ही विवक्षा की गई है। भावश्रुतज्ञानमें न्यूनता और अधिकता रहितका इतना ही अर्थ विवक्षित रहता है कि वस्तुमें रहनेवाले किसी विरोधी धर्मको छोड़ा नहीं जावे और जो धर्म उस वस्तुमें नहीं है उसकी कल्पना नहीं की जावे। श्रुतज्ञान, परस्पर विरोधी दो धर्मोंमेंसे एकको गौण और दूसरेको मुख्य तो कर सकता है परन्तु सर्वथा छोड़ नहीं सकता, क्योंकि सर्वथा छोड़ देने पर वस्तुका पूर्णरूप सुरक्षित नहीं रहता। इसी तरह जो नित्यत्वाद्वैत आदि वस्तुमें नहीं है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वैसा करनेसे वस्तुमें अतिरिक्तता-अधिकता आती है और जो ज्ञान वस्तुको न्यूनता या अधिकता लिये हुए जानता है वह उसके याथातथ्य—वास्तविक स्वरूपको नहीं जानता। यहाँ श्रुतज्ञानको जो केवलज्ञानके समान सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा गया है वह विषयबहुलताकी अपेक्षा कहा गया है। वैसे केवलज्ञानका विषय अनन्त है पर श्रुतज्ञानका विषय सान्त है।

भावश्रुतज्ञानका आधारभूत द्रव्यश्रुत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार भेदोंमें विभक्त है। इन अनुयोगोंके लक्षण ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं॥ १॥॥ ४२॥

तस्य विषयभेदाद्भेदान् प्ररूपयन्नाह—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥ २॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञानं। 'बोधति' जानाति। कं? प्रथमानुयोगं। किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरितं त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणं तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयं। तस्य प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा तं। तथा 'पुण्यं' प्रथमानुयोगं हि शृण्वतां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तदनुयोगं। तथा 'बोधिसमाधिनिधानं' अप्राप्तानां हि

सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिर्बोधिः, प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः, ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः तयोर्निधानं। तदनुयोगं हि शृण्वतां सद्दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्यध्यानादिकं च भवति ॥ २ ॥

आगे विषयभेदकी अपेक्षा उस सम्यग्ज्ञानके भेदोंका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम प्रथमानुयोगका लक्षण कहते हैं—

प्रथमानुयोगेति—(**समीचीनः बोधः**) सम्यक् श्रुतज्ञान (**अर्थाख्यानं**) परमार्थ विषयका कथन करनेवाले (**चरितं**) एक पुरुषाश्रित कथा (**अपि**) और (**पुराणं**) त्रेशठ शलाकापुरुष सम्बन्धी कथारूप (**पुण्यं**) पुण्यवर्धक तथा (**बोधिसमाधिनिधानं**) बोधि और समाधिके निधान (**प्रथमानुयोग**) प्रथमानुयोगको (**बोधति**) जानता है।

टीकार्थ—जिसमें एक पुरुषसे सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे **चरित** कहते हैं और जिसमें त्रेशठ शलाकापुरुषोंसे सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे **पुराण** कहते हैं। **चरित** और **पुराण**, दोनों ही प्रथमानुयोगशब्दसे कहे जाते हैं। यह प्रथमानुयोग उपन्यासकी तरह कल्पित अर्थका वर्णन न कर परमार्थ विषयका वर्णन करता है इसलिये इसे **अर्थाख्यान** कहते हैं। इसके पढ़ने और सुननेवाले जीवोंको पुण्यबन्ध होता है इसलिये इसे **पुण्य** कहते हैं। इसके सिवाय यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति और समाधि अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यानकी प्राप्तिका निधान है। सम्यग्ज्ञान ऐसे प्रथमानुयोगको जानता है।

विशेषार्थ—प्रथमानुयोग जिनवाणीका एक प्रमुख अङ्ग है। कथाके माध्यमसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह अङ्ग प्राथमिक जीवोंके लिये अत्यन्त हितकारी है। इसे सुनकर सुनने वाले जीवोंको बोधि और समाधिकी प्राप्ति होती है। जो पहले प्राप्त नहीं थे ऐसे सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं। प्राप्ततत्त्वोंको अच्छी तरह जानना अथवा धर्म्य और शुक्लध्यानको प्राप्त होना समाधि है। प्रथमानुयोग इन दोनोंका निधान—खजाना कहलाता है। इसका कथानक वास्तविक होता है, उपन्यासकी तरह कल्पित नहीं होता। यह प्रथमानुयोग बांचने और सुनने वाले जीवोंको मानसिक पवित्रताका कारण होनेसे पुण्यरूप होता है। जम्बूस्वामिचरित प्रद्युम्नचरित, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि इसके उदाहरण ॥ २ ॥ ४३ ॥

तथा[1]—

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण, 'मति'र्मननं[2] श्रुतज्ञानं । अवैति जानाति । कं ? 'करणानुयोगं' लोकालोकविभागं पंचसंग्रहादिलक्षणं । कथंभूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्यार्थ प्रकाशकः । 'लोकालोकविभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाण:,—तद्विपरीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव । तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव । तथा 'चतुर्गतीनां च' नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ॥ ३ ॥

आगे करणानुयोगका लक्षण कहते हैं—

लोकालोकेति—(तथा) प्रथमानुयोगकी तरह (मतिः) मननरूप श्रुतज्ञान, (लोकालोकविभक्तेः) लोक और अलोकके विभाग (युगपरिवृत्तेः) युगोंके परिवर्तन (च) और (चतुर्गतीनां) चारों गतियोंके लिये (आदर्शमिव) दर्पणके समान (करणानुयोगं च) करणानुयोगको भी (अवैति) जानता है ।

टीकार्थ—जिसप्रकार सम्यक् श्रुतज्ञान प्रथमानुयोगको जानता है उसी प्रकार करणानुयोगको भी जानता है । करणानुयोगमें लोक-अलोकका विभाग तथा पञ्चसंग्रह आदिका समावेश होता है । यह करणानुयोग दर्पणके समान है अर्थात् जिस प्रकार दर्पण, मुख आदिके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशक होता है उसी प्रकार करणानुयोग भी अपने विषयका प्रकाशक होता है । करणनुयोग, लोक और अलोकके विभाग, युगोंके परिवर्तन और चारगतियोंके स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये दर्पणके समान है । जहाँ तक जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं । यह लोक तीनसौ तेतालीस राजु प्रमाण है ।

१. संपादनार्थमुपलब्धेषु पुस्तकेषु 'क' पुस्तके इतोग्रे इयं गाथा समुपलभ्यते 'अह उड्ढतिरियलोए दिसि विदिसि जं पमाणियं भणियं । करणाणिउगं सिद्धं दीवसमुद्दा जिणग्गेहा' । गाथेयं करणानुयोगस्य लक्षणपरा, केनचित् 'लोकालोकेति श्लोकस्य टीकायामवतारिता, लेखकप्रमादेन च प्रथमानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेदिति प्रतिभाति । २. मतिज्ञानं नश्रुतज्ञानम् इति ग पुस्तके ।

इससे विपरीत अनन्तप्रमाणसे विशिष्ट जो शुद्ध—परद्रव्योंके संसर्गसे रहित आकाश है वह अलोक कहलाता है। उत्सर्पिणी आदि कालके भेदोंको युग कहते हैं। उनका सुपमासुपमा आदि छह कालोंमें जो परिणमन होता है उसे युगपरिवर्तन कहते हैं और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव ये चार गतियाँ हैं। करणानुयोगमें इन सबका विशद वर्णन रहता है।

विशेषार्थ—जिसमें लोक, जगत्प्रतर, जगच्छ्रेणी, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदिके विस्तारको निकालनेके लिये करणसूत्रों—गणितसूत्रोंका कथन होता है उसे करणानुयोग कहते हैं। इसी प्रकार जिसमें गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदिके आश्रयभूत करणों—जीवके परिणामविशेषोंका वर्णन होता है उसे भी करणानुयोग कहते हैं। कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्बन्ध रखने वाली चर्चा भी इसी करणानुयोगमें होती है। त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ करणानुयोगके ग्रन्थ कहलाते हैं॥ ३ ॥ ४४ ॥

तथा[1]—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूपं। 'विजानाति' विशेषेण जानाति। कं? 'चरणानुयोगसमयं' चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रमाचाराङ्गादि। कथंभूतं? 'चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं' चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिश्च रक्षा च तासामङ्गं कारणं अंगानि वा कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र। केषां तदङ्गं? 'गृहमेध्यनगाराणां' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषां ॥ ४ ॥

आगे चरणानुयोगका लक्षण कहते हैं—

गृहमेध्यनगाराणामिति—(**सम्यग्ज्ञान**) भावश्रुतरूप सम्यग्ज्ञान (**गृहमेध्यनगाराणां**) गृहस्थ और मुनियोंके (**चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गं**) चरित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणभूत (**चरणानुयोगसमयं**) चरणानुयोग शास्त्रको (**विजानाति**) जानता है।

---

१. इतोग्रे क पुस्तके इयं गाथा समुपलभ्यते—तवचारित्तगुणोणं किरियाणं रिद्धिसहियाणं। उवसग्गं सण्णासं चरणाणिउगं पसंसंति।' गाथेयं चरणानुयोगलक्षणपरा। केनचित् 'गृहमेध्यनगाराणाम्' इति श्लोकस्य टीकायामवतारिता, लेखकप्रमादेन च करणानुयोगलक्षणे संमिलिता भवेत् इति प्रतिभाति।

टीकार्थ—चारित्रका प्रतिपादन करनेवाले आचाराङ्ग आदि शास्त्र चरणानुयोग शास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रोंमें गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणोंका वर्णन रहता है। सम्यक् श्रुतज्ञान इन सब शास्त्रोंको विशेष रूपसे जानता है।

विशेषार्थ—गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसमें वृद्धि किस प्रकार होती है और उसकी रक्षा किस प्रकार होती है, इन सबका निरूपण जिसमें रहता है उसे चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं। 'चरणानुयोगसमयं' यहाँ जो 'समय' शब्द है उसका अर्थ शास्त्र होता है। रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन (रत्नकरण्डक-श्रावकाचार), अमितगति-श्रावकाचार, सागरधर्मामृत, अनगारधर्मामृत, मूलाचार तथा भगवती-आराधना आदि इस अनुयोगके प्रमुख ग्रन्थ हैं ॥ ४ ॥ ४५ ॥

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ५ ॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' [1]द्रव्यानुयोगसिद्धान्तसूत्रं तत्त्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स। 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति। के ? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते। तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्यं ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते, ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। तथा 'बन्धमोक्षौ च' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः संश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते। कथं ? श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र[2] कर्मणि तद्यथा भवत्येवं जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥ ५ ॥

[3]इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

आगे द्रव्यानुयोगका स्वरूप कहते हैं—

जीवाजीवेति—(द्रव्यानुयोगदीपः) द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, (जीवाजीव सुतत्त्वे) जीव, अजीव प्रमुख तत्त्वोंको (पुण्यापुण्ये च) पुण्य और पापको

---

१. द्रव्यानुयोगः सिद्धान्तः ख। २. तेन कर्मणि ग। ३. प्रशस्तिकेयं ख पुस्तके नास्ति।

(**वन्धमोक्षौ**) वन्ध और मोक्षको तथा चकारसे आस्रव, संवर और निर्जराको (**श्रुतविद्यालोकं**) भावश्रुतज्ञानरूप प्रकाशको फैलाता हुआ (**आतनुते**) विस्तृत करता है।

टीकार्थ—जो उपयोगलक्षणसे सहित हो उसे जीव कहते हैं, इससे विपरीत लक्षणवाला अर्थात् उपयोगलक्षणसे रहित द्रव्य अजीव कहलाता है। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्यकर्म कहलाते हैं। इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पापकर्म कहलाते हैं। इन सबके मूल और उत्तर प्रकृतियोंके भेदसे अनेक भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप हेतुओंके वशसे आत्मा और कर्मका जो परस्पर संश्लेष है वह वन्ध कहलाता है। वन्धके कारणोंका अभाव (संवर) तथा निर्जराके द्वारा समस्त कर्मोंका आत्मासे पृथक् होना मोक्ष है। श्लोकमें आये हुए चकारसे आस्रव, संवर और निर्जरा तत्त्वका भी ग्रहण होता है। इस प्रकार नौ पदार्थोंको, द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, विस्तृत करता है। विस्तृत करते समय वह श्रुतज्ञानरूपी प्रकाशको भी विस्तृत करता है।

विशेषार्थ—जिस अनुयोगमें पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, और नौ पदार्थोंका विस्तारसे वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैसे तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि। मोक्षाभिलाषी पुरुष चारों अनुयोगोंमें श्रद्धा रखता है तथा उनके स्वाध्यायके द्वारा अपने श्रुतज्ञानको विस्तृत करता है॥ ५ ॥ ४६ ॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामिविरचित उपासकाध्ययनकी प्रभाचन्द्र-विरचित टीकामें द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

●

चारित्राधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

अथ चरित्ररूपं धर्मं व्याचिख्यासुराह—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ १ ॥

'चरणं' हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं । 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति । कोऽसौ ? 'साधु'-भव्यः । कथंभूतः ? 'अवाप्तसंज्ञानः' । कस्मात् ? 'दर्शनलाभात्' । तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति संजातः ? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिरं तस्यापहरणे यथासम्भवमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः भवत्यात्मा । ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सदृर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरणं प्रतिपद्यते । किमर्थं ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै' रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्तं ॥ १ ॥

अव चारित्ररूप धर्मके व्याख्यानकी इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

मोहेति—(**मोहतिमिरापहरणे**) मोहरूपी अन्धकारके दूर होनेपर (**दर्शनलाभात्**) सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे (**अवाप्तसंज्ञानः**) जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा (**साधुः**) भव्यजीव (**रागद्वेषनिवृत्यै**) रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये (**चरणं**) चारित्रको (**प्रतिपद्यते**) प्राप्त होता है ।

टीकार्थ—हिंसादि पापोंसे निवृत्ति होनेको चरण या चारित्र कहते हैं । भव्यजीव ऐसे चारित्रको कब और किसलिये प्राप्त होता है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहा गया है कि मोह—दर्शनमोह—मिथ्यात्वरूप अन्धकार-का अपहरण—यथासंभव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशय होनेपर जिसे दर्शन—सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है और सम्क्त्वकी प्राप्ति होनेसे जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसा भव्यपुरुष राग-द्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको प्राप्त होता है । यहाँ 'मोहतिमिरापहरणे' इस पदका यह अर्थ भी होता है—**'मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे'** अर्थात् मोहका अर्थ

दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दो भेदोंसे उपलक्षित मोहकर्म और तिमिर शब्दका अर्थ ज्ञानावरणादि कर्म है। जब इन दोनोंका अपहरण-अभाव हो जाता है तभी इस जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहकर्मका अभाव होनेसे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और ज्ञानावरणादिके अभावसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानावरणके अभाव—क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही सम्यग्दर्शनके प्रसादसे सम्यग् व्यवहारको प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी वन गया है ऐसा भव्य जीव चारित्रमोहका अभाव होनेपर रागद्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिका क्रम तथा चारित्र धारण करनेका प्रयोजन बहुत उत्तम रीतिसे प्रकट किया हैं। मोहकर्मके दो भेद हैं—१. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव परपदार्थोंमें अहंबुद्धि करता है अर्थात् शरीरादिरूप ही मैं हूँ ऐसा श्रद्धान करता है और चारित्रमोहके उदयसे वद्धकर्म, नोकर्म और अवद्ध-स्त्रीपुत्रधनधान्यादिमें ममत्वबुद्धि करता है अर्थात् ये मेरे हैं ऐसा भाव करता है। मोहका प्रचलित नाम मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व अन्धकारके समान है क्योंकि जिस प्रकार अन्धकार नेत्रकी दर्शन-शक्ति—देखनेकी सामर्थ्यको प्रकट नहीं होने देता है उसी प्रकार मिथ्यात्व भी इस जीवकी दर्शनशक्ति-समीचीन श्रद्धारूप सामर्थ्यको प्रकट नहीं होने देता है। जब इस जीवका मिथ्यात्वरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है तभी इसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होते ही इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूपमें परिवर्तित हो जाता है। सम्यग्दर्शनके होनेसे इस जीवको यह श्रद्धा हो जाती है कि सुखका कारण परपदार्थ नहीं है किन्तु आत्माकी निराकुल परिणति ही है। ऐसी श्रद्धाके होते ही उसका परपदार्थसे अहंभाव नष्ट हो जाता है तथा साथ ही सम्यग्ज्ञान होनेसे यह सुखका सही मार्ग खोजनेमें समर्थ हो जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञानके प्राप्त हो जानेपर पर पदार्थोंमें ममत्वबुद्धि हट जाती है और उसके हटते ही रागद्वेष दूर हो जाते हैं। जिसके रागद्वेष दूर हो जाते हैं वह सम्यक्चारित्रको अनायास ही प्राप्त हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि रागद्वेषकी निवृत्ति होना ही चारित्र है। जब तक ऐसा चारित्र प्राप्त नहीं होता तब तक इस जीवका कल्याण नहीं हो सकता॥ १॥ ४७॥

तन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः संभवादित्याह—

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

'हिंसादेः निवर्तना' व्यावृत्तिः कृता भवति । कुतः ? 'रागद्वेषनिवृत्तेः' । अयमत्र तात्पर्यार्थः—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चारित्रं भवति । ततो भाविरागादिनिवृत्तेरेवं प्रकृष्टतरप्रकृष्टतमत्वाद् हिंसादि निवर्तते । देशसंयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशेषरागादिप्रक्षयः तस्माच्च निःशेषहिंसादिनिवृत्तिलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यासमाह—'अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' अनपेक्षिताऽनभिलषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को, न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी, सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

आगे रागद्वेषकी निवृत्ति होनेपर ही हिंसादि पापोंसे निवृत्ति हो सकती है, यह कहते हैं—

रागद्वेषेति—(**रागद्वेषनिवृत्तेः**) रागद्वेषको निवृत्ति होनेसे (**हिंसादिनिवर्तना**) हिंसादिपापोंसे निवृत्ति (**कृता भवति**) स्वयमेव हो जाती है क्योंकि (**अनपेक्षितार्थवृत्तिः**) जिसे किसी प्रयोजनरूप फलकी प्राप्ति अभिलषित नहीं है ऐसा (**कः पुरुषः**) कौन पुरुष (**नृपतीन् सेवते**) राजाओंकी सेवा करता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

टीकार्थ—रागद्वेषकी निवृत्तिसे हिंसादि पापोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वर्तमानमें जो रागादिक भाव चल रहे हैं उनका क्षयोपशमादि होनेपर हिंसादिपापोंका त्यागरूप चारित्र होता है। तदनन्तर आगामीकालमें होनेवाले रागादिभावोंकी निवृत्ति भी इसी तरह आगे-आगे प्रकृष्टसे प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती जाती है। ऐसा होनेसे हिंसादि पाप स्वयं निवृत्त होते जाते हैं—छूटते जाते हैं। देशसंयतादि गुणस्थानोंमें रागादि भाव तथा हिंसादि पापोंकी निवृत्ति वहाँ तक होती रहती है जहाँ तक कि समस्त रागादिका क्षय और उससे होनेवाला समस्त हिंसादि पापोंके त्यागरूप लक्षणसे युक्त परम उदासीनतास्वरूप परमोत्कृष्ट चारित्र होता है। इसी अभिप्रायका समर्थन करनेके लिये अर्थान्तरन्यास द्वारा दृष्टान्त दिया है कि जिसे किसी प्रयोजनरूप फलकी प्राप्ति अपेक्षित नहीं है ऐसा कौन पुरुष राजाओंकी सेवा करता है। अर्थात् कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं करता।

विशेषार्थ—चारित्र धारण करनेका मूल प्रयोजन रागद्वेषको निवृत्ति करना है। रागद्वेषसे प्रेरित होकर ही मनुष्यकी हिंसादि पापोंमें प्रवृत्ति होती है। अतः जिसने रागद्वेषकी निवृत्ति कर ली उसने हिंसादि पापोंकी निवृत्ति स्वयं कर ली। रागद्वेषकी उत्पत्तिका प्रमुख कारण मिथ्यात्व तथा अज्ञानभाव है। मिथ्यात्वके कारण इस जीवकी ऐसी मान्यता होती है कि परपदार्थ सुख-दुःखके कारण हैं। इस मान्यताके अनुसार वह जिन पदार्थोंसे सुखकी उत्पत्ति मानता है उनमें राग करता है और जिन पदार्थोंसे दुःखकी उत्पत्ति मानता है उनसे द्वेष करता है। सुख-दुःखका अन्तरङ्ग कारण मनुष्यका पूर्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्म है। परन्तु मिथ्याज्ञानके कारण यह जीव अन्तरङ्ग कारणकी ओर तो दृष्टि देता नहीं है मात्र बहिरङ्ग कारण—स्त्री, पुत्र तथा शत्रु, सिंह आदिको सुख-दुःखका कारण मान उनसे राग-द्वेष करता है। तात्पर्य यह है कि यदि राग-द्वेषसे बचना है तो पहले मिथ्यात्व और मिथ्याज्ञानको दूर कर सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञानको प्राप्त किया जाय, उसके बाद चारित्रकी प्राप्ति सरल हो जाती है ॥ २ ॥ ४८ ॥

अत्रापरः प्राह—चरणं प्रतिपद्यत इत्युक्तं तस्य तु लक्षणं नोक्तं तदुच्यतां, इत्याशंक्याह—

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ३ ॥

'चारित्रं' भवति। कासौ? 'विरति'र्व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'हिंसानृतचौर्येभ्यः' हिंसादीनां स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति। न केवलमेतेभ्य एव विरतिः—अपि तु 'मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां'। एतेभ्यः कथंभूतेभ्यः? 'पापप्रणालिकाभ्यः' पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आस्रवणद्वाराणि ताभ्यः। कस्य तेभ्यो विरतिः? 'संज्ञस्य' सम्यग्जानातीति संज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवतः ॥ ३ ॥

यहाँ कोई कहता है कि 'साधुः चरणं प्रतिपद्यते' साधु चारित्रको प्राप्त होता है, यह तो कहा परन्तु चारित्रका लक्षण नहीं कहा, उसे कहा जावे, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

हिंसानृतेति—(**संज्ञस्य**) सम्यग्ज्ञानी जीवका (**पापप्रणालिकाभ्यः**) पापके पनालेस्वरूप (**हिंसानृतचौर्येभ्यः**) हिंसा, झूठ, चोरी (**च**) और (**मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां**) कुशील तथा परिग्रहसे (**विरतिः**) निवृत्ति होना (**चारित्रम्**) चारित्र [**कथ्यते**] कहा जाता है।

टीकार्थ—हेय और उपादेय तत्त्वोंके ज्ञानसे युक्त जीव की, पापके पनालों—गंदा पानी बहानेवाले गटरोंके समान हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रहसे निवृत्ति होना चारित्र कहलाता है।

विशेषार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच कार्य, पापकी प्रणालियोंके समान है। इनसे निरन्तर पापोंका आस्रव होता रहता है। सम्यग्ज्ञानी जीव उपर्युक्त पांचों कार्योंको पापकी प्रणालिका समझकर उनसे विरक्त रहता है। सम्यग्ज्ञानी जीवकी यह विरक्ति ही सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥ ३ ॥ ४९ ॥

तच्चेत्थंभूतं चारित्रं द्विधा भिद्यत इत्याह—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥ ४ ॥

हिंसादिविरतिलक्षणं 'यच्चरणं' प्रावप्ररूपितं तत् सकलं विकलं च भवति। तत्र 'सकलं' परिपूर्णं महाव्रतरूपं। केषां तद्भवति ? 'अनगाराणां' मुनीनां। किंविष्टानां 'सर्वसंगविरतानां' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितानां। 'विकलम्' परिपूर्णं अणुव्रतरूपं। केषां तद्भवति 'सागाराणां' गृहस्थानां। कथंभूतानां ? 'ससंगानां' सग्रन्थानाम् ॥ ४ ॥

आगे ऐसा चारित्र दो प्रकारका है यह कहते हैं—

सकलमिति—(तत्) वह (चरणं) चारित्र (सकलं विकलं) सकलचारित्र और विकलचारित्रके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे (सकलं) सम्पूर्ण चारित्र (सर्वसङ्गविरतानां) समस्त परिग्रहोंसे रहित (अनगाराणां) मुनियोंके और (विकलं) एकदेश चारित्र (ससंगानां) परिग्रहयुक्त (सागाराणां) गृहस्थोंके [भवति] होता है।

टीकार्थ—हिंसादि पापोंके परित्यागरूप लक्षणसे युक्त जिस चारित्रका पहले वर्णन किया गया है वह सकल और विकलके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमें सकलचारित्र पूर्णचारित्र कहलाता है, जो महाव्रतरूप होता है तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित मुनियोंके होता है। विकलचरित्र एकदेशचारित्र कहलाता है, जो अणुव्रतरूप होता है और परिग्रहसहित गृहस्थोंके होता है।

विशेषार्थ—आत्माके प्रवृत्तिरूप चारित्रको घातनेवाली चारित्रमोहनीय कर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं—एक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ और दूसरी प्रात्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ। अप्रत्याख्याना-

वरण विकल—एकदेशचारित्रको घातती है और प्रत्याख्यानावरण सकल—सर्वदेशचारित्रको घातती है। जब किसी सम्यग्दृष्टि जीवके अप्रत्याख्यानावरणका अनुदयरूप क्षयोपशम होता है तब उसके हिंसादि पाँच पापोंका एकदेश त्याग होता है वही विकलचारित्र कहलाता है और जब किसी सम्यग्दृष्टि जीवके प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होता है तब उसके हिंसादि पाँच पापोंका सर्वदेश त्याग होता है, वही सकलचारित्र कहलाता है। विकलचारित्र गृहस्थोंके होता है और सकलचारित्र मुनियोंके होता है। गृहस्थ परिग्रहसे सहित होते हैं और मुनि परिग्रहसे रहित होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके जो विकल या सकलचारित्र होता है उसे करणानुयोग चारित्ररूपसे स्वीकृत नहीं करता। ऐसे चारित्रसे संवर और निर्जरा नहीं होती ॥ ४ ॥ ५० ॥

तत्र[1] विकलमेव तावच्चारित्रं व्याचष्टे—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्च-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥ ५ ॥

'गृहिणां' सम्बन्धि यत् विकलं चरणं तत्'त्रेधा' त्रिप्रकारं। 'तिष्ठति' भवति। किं विशिष्टं सत् ? 'अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं' सत् अणुव्रतरूपं गुणव्रतरूपं शिक्षाव्रतरूपं सत्। त्रयमेव। तत्प्रत्येकं। 'यथासंख्यं'। 'पंचत्रिचतुर्भेदमाख्यातं' प्रतिपादितं। तथा हि—अणुव्रतं पंचभेदं गुणव्रतं त्रिभेदं शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ॥ ५ ॥

अब उनमें विकलचारित्रका व्याख्यान करते हैं—

गृहिणामिति—(**गृहिणां**) गृहस्थोंका (**चरणं**) विकलचारित्र (**अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं**) अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप [**सत्**] होता हुआ (**त्रेधा**) तीन प्रकारका (**तिष्ठति**) है और (**त्रयं**) तीनों ही। (**यथासंख्यं**) क्रमसे (**पञ्चत्रिचतुर्भेदं**) पाँच, तीन और चार भेदोंसे युक्त (**आख्यातं**) कहे गये हैं।

टीकार्थ—गृहस्थोंका जो विकलचारित्र है वह अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप होता हुआ तीन प्रकारका है। और उन तीनोंमें प्रत्येक क्रमसे पाँच, तीन और चार भेदोंसे युक्त कहा गया है। अर्थात् अणुव्रत पाँच प्रकारका, गुणव्रत तीन प्रकारका और शिक्षाव्रत चार प्रकारका है।

विशेषार्थ—अणुव्रतके पाँच भेद हैं—१ अहिंसाणुव्रत, २ सत्याणुव्रत, ३ अचौर्याणुव्रत, ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। गुणव्रतके

१. तद इति ग पुस्तके।

तीन भेद हैं—१ दिग्व्रत २ अनर्थदण्डव्रत और ३ भोगोपभोगपरिमाणव्रत। शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—१ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य। इस बारह प्रकारके विकलचारित्रमें पाँच अणुव्रतोंको व्रत और शेष सातको शील कहते हैं ॥ ५ ॥ ५१ ॥

तत्राणुव्रतस्य तावत्पंचभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥ ६ ॥

'अणुव्रतं' विकलव्रतं। किं तत् ? 'व्युपरमणं' व्यावर्तनं यत्। केभ्यः इत्याह-'प्राणेत्यादि', प्राणानामिन्द्रियादीनामतिपातश्चातिपतनं वियोगकरणं विनाशनं। 'वितथ-व्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः। 'स्तेयं' च चौर्यं। 'कामश्च' मैथुनं। 'मूर्च्छा' च परिग्रहः मूर्च्छा च मूर्च्छ्यते लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः। तेभ्यः। कथंभूतेभ्यः ? 'स्थूलेभ्यः'। अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसंभवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमणं भवति। स हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावर-प्राणातिपातात्। तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवच-न्निवृत्तो न तद्विपरीतात्। तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्य-दत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात्। तथा उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इति स्थूलरूपाऽब्रह्मनिवृत्तिः। तथा धनधान्यक्षेत्रा-देरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः। कथंभूतेभ्यः प्राणाति-पातादिभ्यः ? 'पापेभ्यः' पापास्रवणद्वारेभ्यः ॥ ६ ॥

आगे अणुव्रतके पाँच भेदोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

प्राणातिपातेति— (प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छाभ्यः) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छा इन (स्थूलेभ्यः) स्थूल (पापेभ्यः) पापोंसे (व्युपरमणं) विरत होना (अणुव्रतं) अणुव्रत (भवति) है।

टीकार्थ—इन्द्रियादि प्राणोंका वियोग करना प्राणातिपात है, असत्य वचन बोलना वितथ व्याहार है, स्वामीकी आज्ञाके बिना किसी वस्तुका ग्रहण करना स्तेय है, मैथुन करना काम है और लोभके आवेशसे बाह्यपदार्थोंका ग्रहण करना मूर्च्छा अथवा परिग्रह है। ये पाँच पाप स्थूल और सूक्ष्मकी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। इनमें स्थूल पापोंसे विरत होना अणुव्रत कहलाता है। अणुव्रत-धारी जीवोंके सूक्ष्म पापोंका त्याग असंभव रहता है, इसलिये स्थूल हिंसादिके त्यागको ही अणुव्रत कहते हैं। जैसे अहिंसाणुव्रतका धारी पुरुष त्रसहिंसासे

तो निवृत्त होता है परन्तु स्थावरहिंसासे निवृत्त नहीं होता। सत्याणुव्रतका धारक पुरुष, पापादिकके भयसे परपीड़ाकारक स्थूल असत्यवचनसे निवृत्त होता है, सूक्ष्म असत्य वचनसे नहीं। अचौर्याणुव्रतका धारी पुरुष राजादिकके भयसे दूसरेके द्वारा छोड़े हुए स्थूल अदत्तवस्तुके ग्रहणसे निवृत्त होता है, सूक्ष्मसे नहीं। ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक पुरुष पापके भयसे दूसरेकी गृहीत अथवा अगृहीत स्त्रीसे निवृत्त होता है, स्वस्त्रीसे नहीं। इसी प्रकार परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका धारक पुरुष, धन्यधान्य तथा खेत आदि परिग्रहका अपनी इच्छानुसार परिमाण करता है इसलिये स्थूल परिग्रहसे ही निवृत्त होता है, सूक्ष्मसे नहीं। ये प्राणातिपात—हिंसा आदि कार्य पाप हैं क्योंकि पापकर्मोंके आस्रव—द्वार हैं—इनके निमित्तसे जीवके सदा कर्मोंका आस्रव होता रहता है।

विशेषार्थ—जिनके संयोगसे जीव जीवित और वियोगसे मृत कहलाता है उन्हें प्राण कहते हैं। इनके द्रव्यप्राण और भावप्राणकी अपेक्षा दो भेद हैं। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश द्रव्यप्राण कहलाते हैं और ज्ञान, दर्शनादिगुण भावप्राण कहलाते हैं। इन प्राणोंके अतिपात—घात करनेको प्राणातिपात कहते हैं। इसका प्रचलित नाम हिंसा है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसे उस प्रकार कहना वितथव्याहार—असत्य भाषण है। इसके सदपलाप, असदुद्भावन, अन्यरूपाभिधान तथा गर्हितादि वचनके भेदसे चार भेद हैं। अदत्त वस्तुका ग्रहण स्तेय है।[1] स्मरण, कीर्तन, क्रीडा (हास परिहास) प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिर्वृत्ति (मैथुनमें प्रवृत्ति) इन आठ प्रकारके मैथुनोंमें प्रवृत्ति होना काम या कुशील कहलाता है। तथा धन्यधान्यादि पदार्थोंमें ममताभावरूप परिणाम होना मूर्च्छा है। इसे ही परिग्रह कहते हैं। लोकमें ये पाँचो कार्य पाप कहे जाते हैं। इनकी स्थूल और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारकी परिणति होती है। आम जनतामें जो पाप स्वीकृत किया गया है और जिसके करनेपर राजकीय तथा सामाजिक दण्ड प्राप्त होता है उन्हें स्थूल पाप कहते हैं। ऐसे स्थूल पापोंसे निवृत्ति होना अणुव्रत कहलाता है। गृहस्थ उक्त पापोंका किस प्रकार त्याग कर सकता है इसे संस्कृत-टीकाकारने स्पष्ट किया है॥ ६ ॥ ५२ ॥

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

तत्राद्यव्रतं व्याख्यातुमाह—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ७ ॥

'चरसत्त्वान्' त्रसजीवान्। 'यन्न हिनस्ति'। तदाहुः 'स्थूलवधाद्विरमणं'। के ते ?'निपुणाः' हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः । कस्मान्न हिनस्ति ? 'सं[1]कल्पात्' संकल्पं हिंसाभिसंधिमाश्रित्य । कथंभूतात् संकल्पात् ? 'कृतकारितानुमननात्' कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य सम्बन्धिनः ? 'योगत्रयस्य' मनोवाक्कायत्रयस्य । अत्र कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारिता[2]नुविधानं परप्रयोगापेक्षमनुवचनं । अनु[3]मननवचनं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं । तथा हि—मनसा चरसत्त्वहिंसां स्वयं न करोमि, चरसत्त्वान् हिनस्मीति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः । मनसा चरसत्त्वहिंसामन्यं न कारयामि, चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः । तथा अन्यं चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये, सुन्दरमनेन कृतमिति मनःसंकल्पं न करोमीत्यर्थः । एवं वचसा स्वयं चरसत्त्वहिंसां न करोमि चरसत्त्वान् हिनस्मीति स्वयं वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । वचसा चरसत्त्वहिंसां न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा वचसा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तं नानुमन्ये, साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा कायेन चरसत्त्वाहिंसां न करोमि, चरसत्त्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्यापारं न करोमीत्यर्थः । तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न कारयामि, चरसत्त्वहिंसने कायसंज्ञया परं न प्रे[4]रयामीत्यर्थः । तथा चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये । इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥ ७ ॥

आगे प्रथमव्रत अहिंसाणुव्रतका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं—

सङ्कल्पादिति—(यत्) जो (योगत्रयस्य) तीनों योगोंके (कृतकारितानुमननात्) कृत, कारित, अनुमोदनारूप (सङ्कल्पात्) सङ्कल्पसे (चरसत्त्वान्) त्रसजीवोंको (न हिनस्ति) नहीं मारता है (तत्) उसे (निपुणाः) हिंसादिपापोंके त्यागरूप व्रतके विचार करनेमें समर्थ मनुष्य (स्थूलवधाद् विरमणं) स्थूलहिंसाका त्याग अर्थात् अहिंसाणुव्रत (आहुः) कहते हैं।

टीकार्थ—'मैं इस जीवको मारूँ' इस अभिप्रायसे जो हिंसा होती है उसे सङ्कल्प कहते हैं। यह सङ्कल्प मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी कृत

---

१. संकल्पात्—हिंसाभिसन्धिमाश्रित्य ग घ पुस्तकयोः । २. कारितानिधानं ग घ पुस्तकयोः । ३. अनुवचनं ख पुस्तके । अनुमननं वचनं ग पुस्तके । अनुमतवचन घ० ४. करोमीत्यर्थ इति क ख पाठः ।

कारित तथा अनुमोदनारूप परिणतिसे होता है। किसी कार्यको स्वतन्त्रता पूर्वक स्वयं करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है और करनेवालेके लिए अपने मानसिक परिणामको प्रकट करते हुए अनुमतिके वचन कहना अनुमोदना है। यह कृत, कारित और अनुमोदना, मन-वचन-कायरूप तीनों योगोंमें उत्पन्न होती है। इसलिये संकल्पके नौ विकल्प हो जाते हैं। इन सभी विकल्पोंसे जो त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करना है वह अहिंसाणुव्रत है, ऐसा वस्तुस्वरूपके विचार करनेमें निपुण आचार्य कहते हैं। उपर्युक्त नौ प्रकारके सङ्कल्पोंका विवरण इस प्रकार है—१. मैं मनसे त्रसजीवोंको हिंसाको स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रसजीवोंको मारूँ' ऐसा मनसे संकल्प नहीं करता हूँ। २. दूसरे जीवसे त्रस-हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रसजीवोंको मारो मारो' ऐसा संकल्प मनसे नहीं करता हूँ। ३. तथा त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी जीवकी मनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'इसने यह कार्य अच्छा किया' ऐसा मनसे संकल्प नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ४. वचनसे मैं स्वयं त्रसजीवकी हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रसजीवोंको मारूँ' ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ। ५. वचनसे दूसरोंके द्वारा त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रसजीवोंको मारो मारो' ऐसे वचनोंका उच्चारण नहीं करता हूँ। तथा ६. त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुषकी वचनसे अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'तुमने अच्छा किया' ऐसे वचनोंका उच्चारण नहीं करता हूँ। इसी प्रकार ७. कायसे त्रसजीवों-की हिंसाको स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् स्वयं आँखसे संकेत करना तथा मुट्ठी बाँधना आदि शारीरिक व्यापारको नहीं करता हूँ। ८. शरीरसे, दूसरेके द्वारा त्रसजीवोंकी हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् शरीरके संकेतसे दूसरेको प्रेरित नहीं कराता हूँ। तथा ९. त्रसजीवोंकी हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुषको चुटकी बजाना आदि शरीरके व्यापारसे अनुमति नहीं देता हूँ।

विशेषार्थ—संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी और विरोधीके भेदसे हिंसा चार प्रकारकी मानी गई है। 'मैं इस जीवको मारूँ' इस प्रकारके विचारसे बलिदान आदिके समय जो हिंसा होती है उसे **संकल्पी हिंसा** कहते हैं। गृहस्थी सम्बन्धी अन्य कार्य करनेमें जो हिंसा होती है उसे **आरम्भी हिंसा** कहते हैं। खेती तथा अन्य उद्योगोंसे होनेवाली हिंसाको **उद्यमी** हिंसा कहते हैं और शत्रुसे अपना बचाव करनेके लिए जो हिंसा होती है उसे **विरोधी** हिंसा कहते हैं। इन चार प्रकारकी हिंसाओंमेंसे अहिंसाणुव्रती जीव मात्र संकल्पी हिंसाका त्याग कर पाता है। शेष तीन हिंसाओंका नहीं और वह भी मात्र त्रसजीवोंकी हिंसा का।

सामान्यरूपसे हिंसादि पापोंका त्याग मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारका होता है। परन्तु यह गृहविरत गृहस्थके ही संभव हो सकता है, गृहनिरत गृहस्थके नहीं। गृहनिरत—घरमें रहनेवाला गृहस्थ यथाशक्ति तीन, छह अथवा नौ कोटियोंसे हिंसादि पापोंका त्याग करता है। उमास्वामी महाराजने हिंसाका लक्षण लिखा है **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** अर्थात् प्रमत्तयोगसे प्राणोंका व्यपरोपण—विघात करना हिंसा है। यहाँ 'प्रमत्तयोग' इस हेतुमें ही मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियोंका समावेश किया गया है ॥ ७ ॥ ५३ ॥

तस्येदानीमतीचारानाह—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः ।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥ ८ ॥

'व्यतीचारा' विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः । कति ? 'पंच' । कस्य ? 'स्थूलवधाद् व्युपरतेः' । कथमित्याह 'छेदनेत्यादि' कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं, अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं, पीडा दण्डकशाद्यभिघातः, अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणं । न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु 'आहारवारणापि च' आहारस्य अन्नपानलक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥ ८ ॥

अव उस अहिंसाणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

छेदनेति—(**स्थूलवधाद्व्युपरतेः**) अहिंसाणुव्रतके (**छेदनबन्धनपीडनम्**) छेदना, बाँधना, पीडा देना, (**अतिभारारोपणम्**) अधिक भार लादना (**अपि च**) और (**आहारवारणा**) आहारका रोकना अथवा (**आहारधारणा**) आहार बचाकर रखना ये (**पञ्च**) पाँच (**व्यतीचाराः**) अतिचार [**सन्ति**] हैं।

टीकार्थ—**'विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः व्यतीचाराः'** इस समासके अनुसार व्यतीचारका अर्थ होता है—नाना प्रकारके अथवा व्रतको विरूप—विकृत करनेवाले दोष। दुर्भावनासे नाक, कान आदि अवयवोंको छेद देना, इष्ट स्थान पर जानेसे रोकनेके लिये रस्सी आदिसे बाँध देना, डंडा तथा कोड़ा आदिसे पीटना, उचित भारसे अधिक भार लादना और अन्नपान रूप आहारका निषेध करना अथवा रोककर थोड़ा देना ये पांच अहिंसाणुव्रतके व्यतीचार हैं।

विशेषार्थ—**'अतिचारोंऽशभञ्जनम्'** इस लक्षणके अनुसार अतिचारका अर्थ होता है व्रतका एकदेश भङ्ग होना। ऊपर अहिंसाणुव्रतका लक्षण लिखते

हुए मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ कोटियोंका उल्लेख किया गया है अर्थात् उपर्युक्त नौ कोटियोंसे व्रतकी पूर्णता होती है। इन नौ कोटियोंमेंसे कुछ कोटियोंके द्वारा व्रतको दूषित करना अतिचार कहलाता है और सभी कोटियोंसे व्रतको भङ्ग कर देना अनाचार कहलाता है। इस प्रकार भङ्गाभङ्गकी अपेक्षा अर्थात् किसी अपेक्षासे व्रतका भङ्ग होना और किसी अपेक्षासे व्रतका भङ्ग नहीं होना अतिचारका रूप है। छेदन, बन्धन आदि दोषोंके बावजूद भी प्राणरक्षाका भाव रहता है इसलिये व्रतका अभङ्ग है और कष्ट देनेका भाव रहता है इसलिये व्रतका भङ्ग है। यहाँ छेदन, बन्धन आदि दोषोंका व्याख्यान करते समय '**दुर्भावना**' शब्दकी योजना ऊपरसे कर लेना चाहिये अन्यथा लड़कीके नाक, कान छिदाना, दूषित अङ्गोपाङ्गोंका काटना, रोगको दूर करनेके लिए आहारादिका रोकना भी अतिचारमें संमिलित हो जावेगा। उमास्वामी महाराजने भी अहिंसाणुव्रतके ये ही पाँच अतिचार बतलाये हैं—'**बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः**' अर्थात् बन्ध, वध (पीड़ा), छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं। प्रश्न है कि अणुव्रतका धारक मनुष्य घरमें गाय, भैंस आदि पशुओंके रखनेपर उन्हें बाँधता है या नहीं? यदि बाँधता है तो बन्ध नामका अतिचार होता है और नहीं बाँधता है तो वे उत्पात करते हैं? इस विषयमें आचार्योंने उत्तम, मध्यम और जघन्यका विभाग करते हुए तीन व्यवस्थाएँ दी हैं। उत्तम तो यह है कि व्रती मनुष्य गाय, भैंस आदिको रखता नहीं है। मध्यम यह है कि यदि रखता है तो किसी अहातेमें उन्हें बिना बन्धनके रखता है। जघन्य यह कि ऐसा बन्धन देता है जिसे वे उपसर्गके समय तोड़कर अपनी प्राणरक्षा कर सकें।

अमितगति आचार्यने अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचारकी चर्चा करते हुए उनके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—[1]'मानसिक शुद्धिका नष्ट होना **अतिक्रम** है, शीलरूप बाड़का लङ्घन करना **व्यतिक्रम** है, विषयोंमें कदाचित् प्रवृत्ति करना **अतिचार** है, और विषयोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाना **अनाचार** है। परन्तु अतिचारकी उक्त व्याख्या समन्तभद्राचार्यको इष्ट नहीं मालूम होती है। अतिचारके प्रकरणमें इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रमाद या अज्ञान दशामें जब कभी लगता है और व्रतका धारक मनुष्य

---

१. क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥—सामायिक पाठ

उस अतिचारके लगनेपर पश्चात्तापका अनुभव करता है परन्तु जब वही अतिचार बुद्धिपूर्वक बार-बार लगाया जाता है तथा उसके होनेपर व्रती मनुष्यको कोई पश्चात्ताप नहीं होता है तब वह अतिचार, अनाचारका रूप ले लेता है।

चरणानुयोगमें चारित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि तथा रक्षाके अङ्गोंका वर्णन रहता है, अतः अतिचारोंका प्रकरण व्रतकी रक्षाके अंगोंका उल्लेख करनेके लिए ही उपस्थित किया गया है। अर्थात् इन अतिचारोंका निराकरण करनेसे ही व्रतकी रक्षा हो सकती है। उमास्वामी महाराजने व्रतकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाओंकी भी चर्चा की है[1]। **वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान-भोजन** ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं। इनके होनेपर ही अहिंसाव्रतकी रक्षा हो सकती है। वचनको वशमें रखनेसे वाचनिक हिंसासे रक्षा होती है। मनको नियन्त्रित रखने अर्थात् मनसे दूसरेके विषयमें खोटा चिन्तन न करनेसे मानसिक हिंसासे रक्षा होती है, ईर्या समिति, आदाननिक्षेपणसमिति और देखभालकर भोजन करनेसे कायिकहिंसासे रक्षा होती है। वास्तवमें उक्त पाँच कार्योंके द्वारा ही मनुष्य हिंसा करता है। यहाँ इन पाँचों कार्योंपर नियन्त्रण लगाकर अहिंसाव्रतकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है, इसका सुगम समाधान दिया है ॥ ८ ॥ ५४ ॥

एवमहिंसाणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ९ ॥

'स्थूलमृषावादवैरमणं' स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमणं विरमणमेव वैरमणं। 'तद्वदन्ति'। के ते ? 'सन्तः' सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः। तत्किं, सन्तो यन्न वदन्ति। 'अलीकम'सत्यं। कथंभूतं ? 'स्थूलं' यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्वयं तावन्न वदति। तथा 'परान'न्यान् तथाविधमलीकं न वादयति। न केवलमलीकं किन्तु 'सत्यमपि' चोरोऽयमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति। किंविशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य 'विपदे'ऽपकाराय भवति ॥ ९ ॥

इस प्रकार अहिंसाणुव्रतका प्रतिपादनकर अब सत्याणुव्रतका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

---

१. 'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च'।—त. सू. २. 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च।'—त. सू.

स्थूलमिति—(**यत्**) जो (**स्थूलं**) स्थूल (**अलीकं**) झूठको (**न वदति**) न स्वयं बोलता है (**न परान् वादयति**) न दूसरोंसे बुलवाता है। और ऐसा (**सत्यमपि**) सत्य भी न स्वयं बोलता है न दूसरोंसे बुलवाता है जो (**विपदे**) दूसरेके प्राणघातके लिये हो (**तत्**) उसे (**सन्तः**) सत्पुरुष (**स्थूलमृषावादवैरमणं**) स्थूल झूठका त्याग अर्थात् सत्याणुव्रत (**वदन्ति**) कहते हैं।

टीकार्थ—'**विरमणमेव वैरमणम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वैरमण' शब्दमें स्वार्थ अण् प्रत्यय हुआ है। इसलिये जो अर्थ 'विरमण' शब्दका होता है वही 'वैर-मण शब्दका होता है। स्थूलका अर्थ यह है कि जिसके कहनेपर निज और परके लिये राजादिकसे वध-बन्धनादिक प्राप्त हों। ऐसे स्थूल झूठको जो न तो स्वयं बोलता है और न प्रेरणाकर दूसरोंसे बुलवाता है। साथ ही ऐसा सत्य भी जैसे 'यह चौर है' इत्यादि, न स्वयं बोलता है, न दूसरोंसे बुलवाता है उसे सत्याणुव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—उमास्वामी महाराजने असत्यका लक्षण लिखा है—'**असदभिधान-मनृतम्**'। इसका व्याख्यान चार प्रकारसे होता है—१ '**न सत् इति असत् अविद्य-मानमित्यर्थः तस्य अभिधानं कथनमिति असदभिधानम्**' अर्थात् अविद्यमान पदार्थ-का कथन करना, जैसे देवदत्तके न रहते हुए भी कहना कि देवदत्त है। यह **असदुद्भावन**—अविद्यमानको प्रकट करनेवाला पहला असत्य है। २ '**सतो विद्यमानस्य अभिधनं सदभिधानं न सदभिधानमिति असदभिधानम्**' अर्थात् विद्यमान पदार्थका कथन नहीं करना, जैसे देवदत्तके रहते हुए भी कहना कि देवदत्त नहीं है, यह **सदपलाप**—विद्यमान वस्तुको मेटने वाला दूसरा असत्य है। ३ '**ईषत् सत् असत् तस्य अभिधानं असदभिधानम्**' यहाँ असत् शब्दके साथ जो नञ्का प्रयोग हुआ है वह 'अनुदरा' कन्याके समान ईषद् अर्थमें हुआ है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूपमें कहा गया है उस रूपमें तो नहीं है परन्तु उसका कार्य सिद्ध कर देता है, इसलिये उसके समान कहा जाता है। जैसे कमण्डलुको घट कहना। यहाँ कमण्डलु जुदा है और घट जुदा है, इसलिये आकारकी अपेक्षा कमण्डलुको घट कहना मिथ्या है, परन्तु जलधारणरूप कार्य दोनोंका एक सदृश है, इसलिते उक्त वाक्य ईषद् सत्के कथनमें आता है। यह **अन्यरूपाभिधान**—अन्यको अन्यरूप कहना तीसरा असत्य है। ४ '**सत् प्रशस्तं न सत् असत् अप्रशस्तं असच्च तत् अभिधानं चेति असदभिधानम्**' अर्थात् अप्रशस्तवचन बोलना। जैसे कानेको काना, लंगड़ेको लंगड़ा आदि कहना,

निन्दा तथा चुगलीके वचन कहना, तथा अप्रिय एवं कर्कश वचन कहना, यह गर्हितादिवचन नामका चौथा असत्य है। इन चारों प्रकारके असत्य वचनोंका परित्याग करना सत्याणुव्रत है। सत्याणुव्रती ऐसा सत्य भी नहीं बोलता है जो प्राणघातका करनेवाला हो। जैसे कोई शिकारी अपनी मुट्ठीमें जिन्दा चिड़ियाकी गर्दन दबाकर एक सत्यवादीसे पूछता है कि बताओ यह जिन्दा है या मरी? सत्यवादी विचार करता है कि यदि मैं इसे जिन्दा कहता हूँ तो अभी हाल यह गर्दनको दबाकर इसे मार डालेगा। और मरी कहता हूँ तो इसे छोड़कर कहेगा कि देखो, यह तो जिन्दा है तुम कैसे सत्यवादी हो। ऐसा विचारकर सत्यवादीने उत्तर दिया कि 'यह चिड़िया मरी है'। शिकारीने तत्काल चिड़ियाको मुट्ठीसे छोड़कर कहा कि तुम कैसे सत्यवादी हो। यहाँ जीवरक्षाका भाव होनेसे असत्य वचन भी सत्य वचनके रूपमें परिणत हो गया है। विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्यवादीके सामने एक कातिलने एक निरपराध व्यक्तिकी हत्या कर दी। हत्याके अपराधमें वह पकड़ा गया। गवाहीके लिये उस सत्यवादीको बुलाया गया। यदि सत्यवादी सत्य कहता है तो कातिलको प्राणदण्डकी सजा मिलती है और असत्य कहता है तो वह छूट तो जाता है पर उससे अन्यायका समर्थन होता है जिसके फलस्वरूप उस कातिलके द्वारा अन्य अनेक जीवोंकी भी हिंसा हो सकती है। इस स्थितिमें सत्यवादी सत्य बोले या असत्य?

उस समय परिस्थितिके अनुसार सत्यवादी तीन कार्य कर सकता है। प्रथम तो वह इस प्रकारकी गवाहीके चक्रमें न पड़े। द्वितीय यह कि यदि वह कातिल अपने पापसे घृणा करने लगता है और आगामीके लिये वैसा अपराध नहीं करनेकी प्रतिज्ञा करता है तो उसकी प्राणरक्षाके अभिप्रायसे सत्य नहीं बोले और तृतीय यह कि अन्य अनेक जीवोंकी रक्षाके अभिप्रायसे वह सत्य बोले, क्योंकि संसारमें अराजकता फैले तथा उसके फलस्वरूप अनेक जीवोंकी हत्या हो, यह एक जीवके प्राणघातकी अपेक्षा अधिक पाप है॥ ९॥ ५५॥

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह—

परिवादरहोभ्याख्यापैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥१०॥

परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः। रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या

प्रकाशनं । पैशुन्यं अंगविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमंत्रभेद इत्यर्थः । कूटलेखकरणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः । न्यासापहारिता द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं । एवं परिवादादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पंचमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पंच व्यतिक्रमाः अतीचारा भवन्ति ॥ १० ॥

आगे सत्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

परिवादेति—([1]**परिवादरहोऽभ्याख्यापैशुन्यं**) मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशुन्य (**कूटलेखकरणं च**) कूटलेख लिखना (**अपि च**) और (**न्यासापहारिता**) धरोहरको हड़प करनेके वचन कहना [एते] ये (**पञ्च**) पाँच (**सत्यस्य**) सत्याणुव्रतके (**व्यतिक्रमाः**) अतिचार [**सन्ति**] हैं ।

टीकार्थ—परिवादका अर्थ मिथ्योपदेश है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष प्रयोजनवाली क्रियाविशेषोंमें दूसरेको अन्यथाप्रवृत्ति कराना परिवाद या **मिथ्योपदेश** है । स्त्री-पुरुषोंके द्वारा एकान्तमें की हुई विशिष्ट क्रियाको प्रकट करना **रहोभ्याख्या** है । अंगविकार तथा भौंहोंका चलाना आदिके द्वारा दूसरेके अभिप्रायको जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना **पैशुन्य** है । यही **साकारमन्त्रभेद** कहलाता है । दूसरेके द्वारा अनुक्त अथवा अकृत किसी कार्यके विषयमें ऐसा कहना कि यह उसने कहा है अथवा किया है इस प्रकार धोखा देनेके अभिप्रायसे कपटपूर्ण लेख लिखना **कूटलेखकरण** है । तथा धरोहर रखनेवाला पुरुष अपनी धरोहरकी संख्या भूलकर अल्पसंख्यक द्रव्यको माँग रहा है, तो उससे कहना कि हाँ, ऐसा ही है, इसे **न्यासापहारिता** कहते हैं । इस प्रकार परिवादादिक चार और न्यासापहारिता पाँचवीं, सब मिलाकर सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार होते हैं ।

विशेषार्थ—उमास्वामि महाराजने तत्त्वार्थसूत्रमें सत्याणुव्रतके अतिचार निम्न प्रकार लिखे हैं—

'मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारितासाकारमन्त्रभेदाश्च' अर्थात् मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहारिता और साकारमन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं । समन्तभद्रस्वामीने

---

१. परिवादश्च रहोभ्याख्या च पैशुन्यञ्च एतेषां समाहारः परिवादरहोभ्यापैशुन्यम् इति समाहारद्वन्दे एकवद्भावान्नपुंसकत्वं । अन्यथा 'परिवादरहोभ्याख्ये पैशुन्यं' इति पाठः स्यात् ।

अतिचारनिरूपणमें उमास्वामि महाराजका अनुकरण तो किया है परन्तु कितने ही अतिचारोंमें उन्होंने परिवर्तन भी किया है। जैसे इसो सत्याणुव्रतके अतिचारोंमें परिवाद और पैशुन्य इन दो नवीन अतिचारोंका समावेश किया है और मिथ्योपदेश तथा साकारमन्त्रभेदको छोड़ा है। लोकमें परिवादका अर्थ निन्दा और पैशुन्यका अर्थ चुगली प्रसिद्ध है। संभव है यही अर्थ स्वामी समन्तभद्रको वाञ्छित रहा होगा। परन्तु संस्कृतटीककारने तत्त्वार्थसूत्रके अतिचारोंसे मेल वैठानेके लिए परिवादका अर्थ मिथ्योपदेश और पैशुन्यका अर्थ साकारमन्त्रभेद कर दिया है जो कि शब्दोंपरसे प्रतिफलित नहीं होता। सभन्तभद्रस्वामी परमविचारक विद्वान् थे, इसलिये उन्होंने अतिचारोंमें तो परिवर्तन किया ही है, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंमें भी परिवर्तन किया है। जैसे तत्त्वार्थसूत्रकारने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारको शिक्षाव्रत माना है। परन्तु समन्तभद्रस्वामीने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीनको गुणव्रत तथा देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य इन चारको शिक्षाव्रत कहा है। कुन्दकुन्दस्वामीने सल्लेखनाका चार शिक्षाव्रतोंमें समावेश किया है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार तथा स्वामिसमन्तभद्र आदिने उसका पृथक् ही वर्णन किया है ॥ १० ॥ ५६ ॥

सत्यव्रतकी रक्षाके लिये तत्त्वार्थसूत्रकारने **'क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च'** अर्थात् क्रोधत्याग, लोभत्याग, भीरुत्वत्याग, हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण—आगमानुकूल भाषण ये पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। इनके होनेपर ही सत्यव्रतकी रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। असत्य बोलनेके दो प्रमुख कारण हैं—एक कषाय और दूसरा अज्ञान। कषायनिमित्तक असत्यसे बचनेके लिये क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग कराया है, क्योंकि ये चारों ही कषायके रूप हैं। और अज्ञानमूलक असत्यसे बचनेके लिये अनुवीचिभाषण—आचार्यपरम्परासे प्राप्त आगमानुकूल वचन बोलनेकी भावना कराई है। इस भावनाके लिये आगमका अभ्यास करना पड़ता है। आगमके अभ्याससे अज्ञानमूलक असत्य दूर होता है।

अधुना चौर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्य्यादुपारमणम् ॥ ११ ॥

अक्रुशचौर्यात् स्थूलचौर्यात्। उपारमणं तत्। यत् न हरति न गृह्णाति। किं तत् ? परस्वं परद्रव्यं। कथंभूतं ? निहितं वा घृतं। तथा पतितं वा। तथा सुविस्मृतं वा अतिशयेन विस्मृतं। वाशब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चये। इत्थंभूतं परस्वं अविसृष्टं अदत्तं यत्स्वयं न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदक्रुशचौर्यादुपारमणं प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११ ॥

अब अचौर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

निहितमिति—(**निहितं वा**) रखे हुए (**पतितं वा**) पड़े हुए अथवा (**सुविस्मृतं वा**) बिल्कुल भूले हुए (**अविसृष्टं**) बिना दिये हुए (**परस्वं**) दूसरेके धनको (**न हरति**), न स्वयं लेता है और न किसी दूसरेको देता है वह (**अक्रुशचौर्यात्**) स्थूल स्तेयका (उपारमणं) परित्याग अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।

टीकार्थ—अक्रुशचौर्यका अर्थ स्थूल चोरी है। अर्थात् लोकमें जो चोरीके नामसे प्रसिद्ध है तथा जिसके लिये राजकीय और सामाजिक दण्डव्यवस्था निश्चित है। इस स्थूल चोरीसे उपारमण—निवृत्त होना सो अचौर्याणुव्रत है। अचौर्याणुव्रतका धारक पुरुष किसीके रखे हुए, पड़े हुए या भूले हुए धनको बिना दिये न स्वयं ग्रहण करता है और न उठाकर दूसरेको देता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकारने चोरीका लक्षण लिखते हुए **'अदत्तादानं स्तेयम्'** यह सूत्र लिखा है जिसका अर्थ है अदत्त—बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करना चोरी है। स्वामी समन्तभद्रने अदत्तशब्दकी व्याख्या करते हुए उसके तीन रूप निर्धारित किये हैं—१. निहित २. पतित और ३. सुविस्मृत। कोई मनुष्य अपने पास किसी वस्तुको रख गया अथवा किसीके निजके मकानमें कोई धन कहीं रखा था। मकान बेचते समय उसे उस धनको निकालनेका ध्यान नहीं रहा, ऐसे धनको लेना **'निहित'** धनकी चोरी है। किसीके खरीदे हुए मकानमें यदि कोई धन मिलता है तो अचौर्याणुव्रतका धारी मनुष्य उस मकानमालिकको वापिस करता है। यदि किसी पुराने खण्डहर आदिमें धन मिलता है और उसके असली स्वामीका पता नहीं चलता है तो इस स्थितिमें अचौर्याणुव्रतका धारक मनुष्य इसकी सूचना राज्यमें देता है क्योंकि **'अस्वामिकस्य वित्तस्य दायादो मेदिनीपतिः'** अर्थात् जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसे धनका स्वामी राजा होता है। मार्गमें चलते समय किसीकी कोई वस्तु गिर जाती है उसे **पतित** कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका धारक मनुष्य ऐसे धनको न स्वयं उठाता है और

न उठाकर दूसरेको देता है। यदि मनमें यह विकल्प आता है कि इस पड़ी हुई वस्तुको मैं नहीं उठाता हूँ तो न जाने मेरे पीछे आने वाले किसके हाथमें पड़ेगी और फिर उस वस्तुके मालिकको इसका मिल जाना असंभव हो जावेगा, तो उस वस्तुको उठाकर किसी राजकीय कार्यालयमें जमा करा देना चाहिये और उसकी सूचना प्रसारित करा देना चाहिए। कोई मनुष्य अपने पास धरोहरके रूपमें कुछ धन रख गया, पीछे भूल गया अथवा रखनेवाले व्यक्तिकी अकस्मात् मृत्य हो गई और उसके उत्तराधिकारी पुत्र आदिको उसकी खबर नहीं। इस स्थितिमें उस धनको मांगनेके लिये कोई नहीं आता है तो ऐसा धन **सुविस्मृत** कहलाता है। अचौर्याणुव्रतका धारक मनुष्य ऐसे धनको अपने पास नहीं रखता। वह उसके उत्तराधिकारीको स्वयं ही वापिस करता है। अचौर्याणुव्रतका धारक मनुष्य आयकर, विक्रयकर तथा निगमकर आदिको नहीं चुराता तथा अपने भाईयों आदिके हिस्सेको भी नहीं हड़पता ॥ ११ ॥ ५७ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥ १२ ॥

'अस्तेये' चौर्यविरमणे। 'व्यतीपाता' अतीचाराः पंच भवन्ति। तथा हि। चौरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणं। विलोपश्च उचितन्यायादन्येन प्रकारेणार्थस्यादानं विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः। विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्घाणि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिना सन्मिश्रं घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वकं व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमानं विविधं नियमेन मानं विनिमानं मानोन्मानमित्यर्थः। मानं हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि, तच्च हीनाधिकं, हीनेन अन्यस्मै ददाति, अधिकेन स्वयं गृह्णातीति ॥ १२ ॥

अब अचौर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

चौरप्रयोगेति—(चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः) चौरप्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र और (हीनाधिकविनिमानं) हीनाधिक विनिमान (एते) ये (पञ्च) पांच (अस्तेये) अचौर्याणुव्रतमें (व्यतीपाताः) अतिचार [सन्ति] हैं।

टीकार्थ—अचौर्याणुव्रतमें निम्नाङ्कित पाँच अतिचार हैं—

चौरप्रयोग—चोरी करनेवाले चोरके लिये स्वयं प्रेरणा देना, दूसरेसे प्रेरणा दिलाना और किसीने प्रेरणा दी हो तो उसकी अनुमोदना करना चौर-प्रयोग है।

चौरार्थादान—जिसे अपने द्वारा प्रेरणा नहीं दी गई है तथा जिसकी अनुमोदना नहीं की गई है ऐसे चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुको ग्रहण करना चौरार्थादान है। चोरीका माल खरीदनेसे चोरको चोरीकी प्रेरणा मिलती है।

विलोप—उचितन्यायको छोड़कर अन्य प्रकारसे पदार्थका ग्रहण करना विलोप कहलाता है। इसे ही विरुद्धराज्यातिक्रम कहते हैं। जिस राज्यके साथ अपने राज्यका व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध है अर्थात् जिस राज्यमें अपने राज्यकी वस्तुओंका आना-जाना राज्यकी ओरसे निषिद्ध किया गया है उसे विरुद्धराज्य कहते हैं। विरुद्धराज्यमें मँहगी वस्तुएँ स्वल्प मूल्यमें मिलती हैं ऐसा मानकर वहाँ स्वल्प मूल्यमें वस्तुओंको खरीदना और तस्कर व्यापारके द्वारा अपने राज्यमें लाकर अधिकमूल्यमें वेचना विरुद्धराज्यातिक्रम कहलाता है।

सदृशसन्मिश्र—समान रूप-रङ्गवाली नकली वस्तु, असली वस्तुमें मिलाकर असली वस्तुके भावसे वेचना, जैसे घीको तेल आदिसे मिश्रित करना, अथवा कृत्रिम—बनावटी—नकली सोना-चाँदीके द्वारा धोखा देते हुए व्यापार करना सदृशसन्मिश्र कहलाता है।

हीनाधिकविनिमान—जिनसे वस्तुओंका विनिमान—आदान-प्रदान लेन-देन होता है उन्हें विनिमान कहते हैं। इन्हींको मानोन्मान भी कहते हैं। जिसमें भरकर या जिससे तौलकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे मान कहते हैं, जैसे प्रस्थ, तराजू आदि। और जिससे नापकर कोई वस्तु ली या दी जाती है उसे उन्मान कहते हैं, जैसे फुट, गज आदि। किसी वस्तुको देते समय हीन मान-उन्मानका और खरीदते समय अधिक मान-उन्मानका प्रयोग करना हीनाधिक मानोन्मान कहलाता है।

अचौर्याणुव्रतका धारी मनुष्य इन सब अतिचारोंसे दूर रहकर अपने व्रतको सुरक्षित रखता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकारने भी अचौर्याणुव्रतके यही अतिचार निरूपित किये हैं। जैसे—

'स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः' अर्थात् स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। समन्तभद्रस्वामीने विरुद्धराज्यातिक्रमके बदले विलोप शब्द रखा है जिसका अर्थ राजकीय कानूनका उल्लंघन करना होता है। विरुद्धराज्यातिक्रम भी इसीमें गतार्थ हो जाता है।

अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए तत्त्वार्थसूत्रकारने निम्नलिखित पांच भावनाओंका वर्णन किया है—

'शून्यागारविमोचितावासोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाःपञ्च' अर्थात् शून्यागारावास—पर्वतकी गुफाओं तथा वृक्षकी कोटरों आदि प्राकृतिक शून्य स्थानोंमें निवास करना, विमोचितावास—राजा आदिके द्वारा छुड़वाये हुए—उजड़े गृहोंमें निवास करना, परोपरोधाकरण—अपने स्थानपर दूसरेके ठहर जानेपर रुकावट नहीं करना, भैक्ष्यशुद्धि—चरणानुयोगकी पद्धतिसे भिक्षाकी शुद्धि रखना और सधर्माविसंवाद—सहधर्मीजनोंके साथ उपकरण आदिके प्रसंगको लेकर विसंवाद नहीं करना, इन पांच कार्योंसे अचौर्यव्रतकी रक्षा होती है। मुनि इन भावनाओंका साक्षात्—प्रवृत्तिरूप और गृहस्थ भावनारूपसे पालन करते हैं ॥ १२ ॥ ५८ ॥

साम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ १३ ॥

'सा परादारनिवृत्तिः'। यत् 'परदारान्' परिगृहीतानपरिगृहीतांश्च। स्वयं 'न च' नैव। गच्छति। तथा 'परान्[1]' अन्यान् परदारलम्पटान् न गमयति परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च ❀। कुतः? 'पापभीतेः' पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु[2] 'स्वदारसन्तोषनामापि' स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोषस्तन्नाम यस्याः[3] ॥ १३ ॥

अब अब्रह्मत्याग अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

नत्विति—(यत्) जो (पापभीतेः) पापके भयसे (परदारान्) परस्त्रियोंके प्रति (न तु गच्छति) न स्वयं गमन करता है (च) और (न

१. परदारान् क-ख पाठः। * पुष्पमध्यगतो पाठः ग पुस्तके नास्ति।
२. अपि तु ख ग पाठः। ३. यस्य क पाठः।

परान्) न दूसरोंको (**गमयति**) गमन कराता है (**सा**) वह (**परदारनिवृत्तिः**) परस्त्रीत्याग अथवा (**स्वदारसंतोषनामापि**)स्वदारसंतोषनामका अणुव्रत है।

टीकार्थ—श्लोकमें आये हुए '**परदारान्**' शब्दका समास दो प्रकारका होता है—१. '**परस्य दाराः परदारास्तान्**' अर्थात् परकी स्त्रियों अथवा २. **पराश्च-ते दाराश्च परदारास्तान्** अर्थात् परस्त्रियाँ। इसमें पहले समाससे परके द्वारा परिगृहीत स्त्रियोंका वोध होता है और दूसरे समाससे परके द्वारा अपरिगृहीत अविवाहित कन्याओं अथवा वेश्याओंका ग्रहण होता है। इस प्रकार इन परि-गृहीत और अपरिगृहीत—दोनों प्रकारकी परस्त्रियोंके साथ पापके भयसे न कि राजकीय और सामाजिक भयसे, न स्वयं संगम करना और न परस्त्रीलम्पट अन्य पुरुषोंको गमन कराना परस्त्रीत्याग अणुव्रत है। इसीको स्वदारसंतोषव्रत भी कहते हैं।

विशेषार्थ—जिनके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है उन्हें स्वस्त्री कहते हैं और इनके सिवाय जो अन्य स्त्रियाँ हैं वे परस्त्रियाँ कहलाती हैं। परस्त्रियाँ, परिगृहीत और अपरिगृहीतके भेदसे दो प्रकारकी होती है। जो दूसरेके द्वारा विवाहित हैं वे परिगृहीत कहलाती हैं और जो अविवाहित हैं अथवा वेश्या आदिके समान जो उन्मुक्त—स्वच्छन्द हैं वे अपरिगृहीत हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारी पुरुष स्वस्त्रियोंको छोड़कर अन्य दोनों प्रकारकी परस्त्रियोंसे दूर रहता है। उसका यह दूर रहना पापके भयसे होता है, राजा आदिके भयसे नहीं, क्योंकि अभिप्रायपूर्वक पापसे निवृत्ति होनेको ही व्रत कहते हैं, अशक्ति अथवा किसी अन्य भयसे निवृत्ति होनेको व्रत नहीं कहते हैं। आचार्यने ब्रह्मचर्याणुव्रतके लिए **परदारनिवृत्ति** और **स्वदारसंतोष** इन दो नामोंका प्रयोग किया है, उससे यह भाव ध्वनित होता है कि ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक पुरुष देश-कालके अनु-सार अपनी अनेक स्त्रियां हों तो उनका समागम कर सकता है, परस्त्रियोंका नहीं। वह अपनी स्त्रियोंमें ही संतुष्ट रहता है, अन्य स्त्रियोंमें उसकी विकारपूर्ण-दृष्टि नहीं होती॥ १३ ॥ ५९॥

[१]तस्यातीचारानाह—

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥ १४ ॥

---

१. अस्य ग पाठः।

'अस्मरस्या'ब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य । पंच व्यतीचाराः । कथमित्याह—अन्येत्यादि— कन्यादानं विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आ समन्तात् करणं, तच्च अनङ्ग-क्रीडा च अंगं लिंगं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा। विटत्वं भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोगः । विपुलतृट् च कामतीव्राभिनिवेशः । इत्वरिकागमनं च परपुरुषानेति गच्छतीत्येवं शीला इत्वरी पुंश्चली कुत्सायां के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमनं चेति ॥ १४ ॥

अब ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

अन्यविवाहेति—(अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः) अन्यविवाहाकरण, अनङ्गक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा (च) और (इत्वरिकागमनं) इत्वरिकागमन [एते] ये (पञ्च) पांच (अस्मरस्य) ब्रह्मचर्याणुव्रत के (व्यतीचाराः) अतिचार (सन्ति) हैं।

टीकार्थ—'अ ईषत् स्मरः कामो यस्य स अस्मरः तस्य' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसके स्वस्त्रीविषयक थोड़ा राग रहता है उसे अस्मर अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रती कहते हैं। इस व्रतके धारक पुरुषको निम्नाङ्कित पांच अतिचारोंका परित्याग करना चाहिये—**अन्यविवाहाकरण**—कन्यादानको विवाह कहते हैं। अपनी या अपने आश्रित भाई आदिकी संतानको छोड़कर अन्य लोगोंकी संतान अन्य संतान हैं। उन अन्य संतानोंका विवाह प्रमुख बनकर करना अन्यविवाहाकरण है। **'अन्यविवाहस्य आ समन्तात् करणं अन्यविवाहाकरणम्'** इस व्युत्पत्तिसे यह भाव प्रकट होता है कि जो पटिया बनकर दूसरोंका विवाहसम्बन्ध जुटाते रहते हैं उनके उस कार्यके प्रति ही आचार्यका संकेत है। सहधर्मी भाईके नाते उनके पुत्र-पुत्रियोंके विवाहमें संमिलित होना ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिये निषिद्ध नहीं है। **अनङ्गक्रीडा**—कामसेवनके लिए निश्चित अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य अंगोमें क्रीडा करना अनंगक्रीडा है। **विटत्व**—शरीरसे कुचेष्टा करना और मुखसे अश्लील भद्दे वचनोंका प्रयोग करना विटत्व है। **विपुलतृषा**—कामसेवनकी तीव्र आसक्तिको विपुलतृषा कहते हैं। **इत्वरिकागमन**—व्यभिचारिणी स्त्रीको इत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रियोंके साथ उठना-बैठाना तथा व्यापारिक संपर्क बढ़ाना इत्वरिकागमन है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकारने ब्रह्मचर्याणुव्रतके निम्नांकित पांच अतिचार कहे हैं—**'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः'** अर्थात् १ परविवाहकरण, २ परिगृहीतेत्वरिकागमन, ३ अपरि

गृहीतेत्वरिकागमन, ४ अनंगक्रीड़ा और ५ कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं। समन्तभद्रस्वामीने 'परिगृहीतेत्वरिकागमन और 'अपरिगृहीतेत्वरिकागमन' इन दो अतिचारोंको एक इत्वरिकागमनमें संमिलित कर विटत्वका अलगसे समावेश किया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी रक्षाके लिए तत्त्वार्थसूत्रकारने निम्नलिखित पांच भावनाओंका उल्लेख किया है—

'स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च' अर्थात् स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथाओंके सुननेका त्याग करना, उनके मनोहर अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, पहले भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग करना, गरिष्ठ एवं कामोत्तेजक पदार्थोंके सेवनका त्याग करना और अपने शरीरकी सजावटका त्याग करना इन भावनाओंसे ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है ॥ १४ ॥ ६० ॥

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह—

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ १५ ॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रतं स्यात्। कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसंख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः। किं कृत्वा ? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमितं कृत्वा। कं ? 'धनधान्यादिग्रन्थं' धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि। आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसंग्रहः। स चासौ ग्रन्थश्च तं परिमाय। स च परिमितपरिग्रहः 'इच्छापरिमाणनामापि' स्यात्, इच्छायाः परिमाणं यस्य स इच्छापरिमाणस्तन्नाम यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

अब आगे परिग्रहविरति-अणुव्रतका स्वरूप दिखलाते हुए कहते हैं—

धनधान्यादीति—(**धनधान्यादिग्रन्थं**) धन-धान्य आदि परिग्रहका (**परिमाय**) परिमाणकर (**ततः**) उससे (**अधिकेषु**) अधिकमें (**निस्पृहता**) इच्छारहित होना (**परिमितपरिग्रहः**) परिमितपरिग्रह अथवा (**इच्छापरिमाणनामापि**) इच्छापरिमाण नामका अणुव्रत (**स्यात्**) होता है।

टीकार्थ—गाय, भैंस आदिको धन कहते हैं। धान्य, गेहूँ चना आदिको धान्य कहते हैं। आदि शब्दसे दासी-दास, स्त्री-मकान, खेत, नक़दद्रव्य, सोना-चाँदीके

आभूषण तथा वस्त्र आदिका संग्रह होता है। यही सब परिग्रह कहलाता है अपनी इच्छानुसार देव अथवा गुरुके पादमूलमें इसका परिमाणकर उससे अधिकमें इच्छारहित होना परिमितपरिग्रह नामका अणुव्रत है। इस अणुव्रतमें अपनी इच्छाके अनुसार परिग्रहका परिमाण किया जाता है, इसलिए इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है।

विशेषार्थ—'परितः गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो आत्माको सब ओरसे जकड़ ले उसे परिग्रह कहते हैं। परिग्रहका वाच्यार्थ मूर्च्छा है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रकारने कहा है-**'मूर्च्छा परिग्रहः'** अर्थात् परपदार्थोंमें जो मूर्च्छा—ममत्वभाव है वही परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह अन्तरंग और बहिरंगके भेदसे दो प्रकारका होता है। अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्व, क्रोध, मान,माया,लोभ तथा हास्यादिक नौ नोकषायके भेदसे चौदह प्रकारका होता है। और बहिरंग परिग्रह चेतन, अचेतनके भेदसे दो प्रकारका होता है। दासी-दास आदि द्विपद और गाय,भैंस आदि चतुष्पद चेतन परिग्रह और तथा खेत, मकान, सोना, चांदी आदि अचेतन परिग्रह है। सब मिलाकर क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्डके भेदसे बहिरंग परिग्रह दश[1] प्रकारका माना गया है। परिग्रहत्याग महाव्रतमें इन सभी परिग्रहोंका त्याग रहता है। परन्तु गृहस्थ परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी आवश्यकताके अनुसार उसकी सीमा निश्चितकर सकता है। इसलिये गृहस्थोंके लिए परिग्रहपरिमाण अणुव्रत धारण करनेका उपदेश दिया गया है। गृहस्थकी आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती हैं। किसीका परिवार थोड़ा है, अतः उसका काम थोड़े परिग्रहसे चल सकता है और किसीका परिवार बड़ा है, अतः उसे अधिक परिग्रह रखना पड़ता है। इसलिए आचार्योंने परिग्रहपरिमाणव्रतको इच्छापरिमाण नाम भी दिया है। अर्थात् इसमें अपनी इच्छाके अनुसार परिग्रहका परिमाण किया जाता है। परिमाण किये हुये परिग्रहसे अधिक परिग्रहमें किसी प्रकारकी वाँछा नहीं रखना, इस व्रतकी विशेषता है ॥ १५ ॥ ६१ ॥

तस्यातिचारानाह—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ १६ ॥

---

१. क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
शयनासनं च यानं च कुप्यं भाण्डमिति दश ॥

'विक्षेपाः' अतीचाराः। पंच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य? परिमितपरिग्रहस्य न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याह—अतिवाहनेत्यादि। लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति। यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं। अतिशब्दः प्रत्येकं लोभान्तानां सम्बध्यते। इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। तत्प्रतिपन्नलाभेन वि[1]क्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसंगृहीत्वाधिकेऽर्थे लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकांक्षावशादतिलोभं करोति। लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवाहनं। ते विक्षेपाः पंच॥ १६॥

आगे परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

अतिवाहनेति—(**अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि**) अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवाहन [**एते**] ये (**पञ्च**) पाँच (**परिमितपरिग्रहस्य च**) परिग्रहपरिमणाणुव्रतके भी (**विक्षेपाः**) अतिचार (**लक्ष्यन्ते**) निश्चित किये जाते हैं।

टीकार्थ—विक्षेपका अर्थ अतिचार है। जिस प्रकार अहिंसादि अणुव्रतोंके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं उसी प्रकार परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके भी पाँच अतिचार निश्चित किये जाते हैं। श्लोकमें आया हुआ 'च' शब्द 'अपि' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। वे अतिचार इस प्रकार हैं—**अतिवाहन**-लोभकी तीव्रताको कम करनेके लिये परिग्रहका परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभके आवेशसे अधिक वाहन करता है अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्गको सुखसे पार सकते हैं उससे अधिक मार्गपर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया **अतिवाहन** कहलाती है। इस व्रतके धारी किसी मनुष्यने बैल आदिकी संख्या तो कम करली, परन्तु उनकी संख्याके अनुपातसे खेती तथा मार्गका यातायात कम नहीं किया, इसलिये उन कम किये हुए बैल आदिको ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थितिमें अतिवाहन नामका अतिचार होता है। **अतिसंग्रह**—'यह धान्यादिक आगे चलकर अधिक लाभ देगा' इस लोभके वशसे कोई उसका अत्यधिक संग्रह करता है। उसका यह कार्य अतिसंग्रह नामका अतिचार है। **अतिविस्मय** संगृहीत वस्तुको वर्तमान भावसे बेच देनेपर किसीका मूल भी वसूल नहीं हुआ और दूसरेके द्वारा ठहरकर बेचनेपर उसे अधिक लाभ हुआ,

१. प्रतिपन्न०

इस स्थितिमें लोभके आवेशसे अतिविस्मय अतिखेद करता है। यह **अतिविस्मय** नामका अतिचार है। **अतिलोभ**—विशिष्ट लाभ मिलनेपर भी और भी अधिक लाभकी इच्छासे कोई अधिक लोभ करता है तो उसका वह अतिलोभ नामका अतिचार है। **अतिभारारोपण**—लोभके आवेशसे अधिक भार लादना **अतिभारा-रोपण** नामका अतिचार है। एक अतिभारारोपण अतिचार अहिंसाणुव्रतका भी है परन्तु वहाँ कष्ट देनेका भाव रहता है और यहाँ अधिक लाभ प्राप्त करनेका—अथवा अतिभारारोपणका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि अपने कारोबारको इतना अधिक फैला लेना, जिसकी वह स्वयं सँभाल नहीं कर सकता है और उसके कारण उसे सदा व्यग्र रहना पड़ता है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकारने परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार दूसरे ही लिखे हैं। यथा—'**क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः**' अर्थात् **क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम**—खेत और मकानके प्रमाणका उल्लङ्घन करना, **हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम**—चाँदी, सोना आदिके प्रमाणका उल्लङ्घन करना, **धनधान्यप्रमाणातिक्रम**—पशुधन तथा अनाजके प्रमाणका उल्लङ्घन करना, **दासीदासप्रमाणातिक्रम**—दासदासियोंके प्रमाणका उल्लङ्घन करना और **कुप्यप्रमाणातिक्रम**—वस्त्र तथा वर्तनोंके प्रमाणका उल्लङ्घन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार हैं। क्षेत्रवास्तु आदिके प्रमाणके उल्लङ्घन करनेका प्रकार ऐसा है—जैसे किसीने नियम लिया कि मैं एक खेत और एक मकान रक्खूँगा। बादमें पासके खेत और मकानको खरीदकर बीचकी सीमा तोड़ दी तथा दोनोंको एक कर लिया। यहाँ संख्या तो एक खेत या एक मकानकी करली, परन्तु उसके प्रमाणमें विस्तारकर लिया। इस स्थितिमें भंगाभंगकी अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार सोना-चाँदीके विषयमें किसीने नियम लिया कि मैं गलेका एक, हाथके दो और पैरका एक आभूषण रक्खूँगा। पीछे चलकर लोभ सतानेसे उसने उन आभूषणोंमें और भी सोना चाँदी मिलवाकर फिरसे आभूषण बनवा लिये। यहाँ आभूषणोंकी संख्या तो पहलेकी तरह रही, परन्तु उनके परिमाणमें वृद्धि हो गई। इस तरह भंगाभंगकी अपेक्षा यह अतिचार बनता है। इसी प्रकार अन्य अतिचारोंके विषयमें लगा लेना चहिये।

इस व्रतकी रक्षाके लिये उमास्वामी महाराजने निम्न लिखित पाँच भावनाएँ लिखी हैं—'**मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च**' स्पर्शनादि पाँच

इन्द्रियोके मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयमें रागद्वेष नहीं करना परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं॥ १६ ॥ ६२ ॥

एवं प्ररूपितानि पंचाणुव्रतनि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याह—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ १७ ॥

'फलन्ति' फलं प्रयच्छन्ति । के ते ? 'पंचाणुव्रतनिधयः' पंचाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि । कथंभूतानि ? 'निरतिक्रमणा' निरतिचाराः । किं फलन्ति ? 'सुरलोकं' । यत्र सुरलोके 'लभ्यन्ते' । कानि? 'अवधिरवधिज्ञानं' । 'अष्टगुणा' अणिमाहिमेत्यादयः । 'दिव्यशरीरं च' सप्तधातुविवर्जितं शरीरं । एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते ॥ १७ ॥

इस प्रकार अतिचार रहित पाँच अणुव्रतोंका वर्णन किया। अब ये क्या फल देते हैं ? यह कहते हैं—

पञ्चेति—(**निरतिक्रमणाः**) अतिचार रहित (**पञ्च**) पाँच (**अणुव्रतनिधयः**) अणुव्रतरूपी निधियाँ [**तं**] उस (**सुरलोकं**) स्वर्गलोकको (**फलन्ति**) फलती हैं-देती हैं (**यत्र**) जिसमें (**अवधिः**) अवधिज्ञान, (**अष्टगुणाः**) अणिमा महिमा आदि आठ गुण (**च**) और (**दिव्यशरीर**) सात धातुओंसे रहित वैक्रियिक शरीर (**लभ्यन्ते**) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—अतिचार रहित पांच अणुव्रत निधियोंके समान हैं। इनका निरतिचार पालन करनेसे नियमपूर्वक स्वर्गको प्राप्ति होती है और उस स्वर्गको जहाँ कि अवधिज्ञान—भवप्रत्ययनामका अवधिज्ञान नियमसे प्राप्त होता है। अणिमा महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व, ये आठ ऋद्धियाँ तथा धातु, उपधातुसे रहित परम सुन्दर वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—अणुव्रत धारण करने वाले जीव बद्धायुष्क और अबद्धायुष्ककी अपेक्षा दो प्रकारके हैं। जो अणुव्रत धारण करनेके पहले आयु बांध चुकते हैं वे बद्धायुष्क कहलाते हैं और जो अणुव्रतोंके कालमें आयु बांधते हैं वे अबद्धायुष्क कहलाते हैं। ये दोनों प्रकारके जीव नियमसे देव ही होते हैं। क्योंकि ऐसा नियम है कि देवायुको छोड़कर जिस जीवको अन्य आयुका बन्ध हो गया है वह उस पर्यायमें अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता और अणुव्रतके कालमें यदि आयु बंध होता है तो नियमसे देवायुका ही बंध होता है। देवायुमें

भी वैमानिकदेवायुका ही बन्ध होता है। अणुव्रत धारण करनेके पूर्व यदि किसीकी मिथ्यादृष्टि अवस्था है तो उसमें भवनत्रिककी देवायु बँध सकती है, परन्तु अणुव्रत होनेपर उसकी भवनत्रिककी आयु वैमानिककी आयुके रूपमें परिवर्तित हो जावेगी। अणुव्रतोंका धारी जीव सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है उसके आगे नहीं। उसके आगे नवग्रैवेयक आदिमें उत्पन्न होनेके लिये निर्ग्रन्थ मुद्राका धारण करना आवश्यक है ॥ १७ ॥ ६३ ॥

इह लोके किं[1] न कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशंक्याह—

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥ १८ ॥

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातंगेन चांडालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

सुरम्यदेशे पोदन[2]पुरे राजा महाबलः[3]। नन्दीश्वराष्टम्यां राज्ञा[4] अष्टदिनानि जीवामार[5]णघोषणायां कृतायां बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने[6] राजकीयमेण्डकः प्रच्छन्नेन[7] मारयित्वा संस्कार्य भक्षितः। राज्ञा च मेण्डकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्डकमारको गवेषयितुं प्रारब्धः। तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरि चटितेन स तन्मारणं कुर्वाणो दृष्टः। रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं। ततः[8] प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं। प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः। तेनैव पुनः कथितं। मदीयामाज्ञां मम पुत्रः[9] खण्डयतीति रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमारं नवखण्डं कारयेति। ततस्तं कुमारं मारणस्थानं नीत्वा [10]मातङ्गमानेतुं[11] ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्तं प्रिये! मातङ्गो ग्रामं गत इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तलारैश्चाकारिते मातङ्गे कथितं मातंग्या [12]सोऽद्य ग्रामं गतः। भणितं च तलारैः स पापोऽपुण्यवानद्य ग्रामं गतः कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत्। तेषां वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया[13] हस्तसंज्ञया स

१. किं कस्याप्य घ। २. पोदनापुरे क-ग पाठः। ३. पुत्रो बलः घ। ४. राजाज्ञया घ। ५. जीवामारणे घ। ६. राज्योद्याने ख-ग-पाठः। ७. प्रच्छन्नो घ। ८. ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथितं इति पाठः घ पुस्तके नास्ति। ९. पुत्रोऽपि घ। १०. यमपालमातङ्गं घ। ११. मातङ्गं नेतुं घ। १२. सो अद्य घ। १३. तया मातङ्गभीतया ग घ पाठः।

दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या। ततस्तैस्तं गृहान्निःसार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः। तेनोक्तं नाहमद्य चतुर्दशीदिने जीवघातं करोमि। ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः, देव ! अयं राजकुमारं न मारयति। तेन च राज्ञः कथितं सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्थ[1] वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रतं गृहीतमतोऽद्य न मारयामि देवो यज्जानाति तत्करोतु। अस्पृश्यचाण्डालस्य[2] व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे[3] निक्षेपितौ। तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये [4]सिंहासनमणिमण्डपिकादुन्दभिसाधुकारादिप्रातिहार्यादिकं कृतं। महाबलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्नापयित्वा[5] स स्पृश्यो विविष्ट[6] कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य।

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः।

अस्य कथा

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ। तत्र धनदेवः सत्यवादी। द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं ग्रहीष्याव इति निःसाक्षिकां व्यवस्थां कृत्वा दूरदेशं गतौ बहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुट्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ। तत्र जिनदेवो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति। स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो झकट[7]के न्याये[8] च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहारबलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं भणितमुचितमेव भणितं। धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव। ततो राजनियमात्तयोर्दिव्यं दत्तं धनदेवः शुद्धो नेतरः। ततः सर्वं द्रव्यं धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजितः साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य।

चौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः। अस्य कथा स्थितीकरणगुणव्याख्यानप्रघट्टके कथितेह दृष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य।

ततः परं नीली जयश्च। ततस्तेभ्यः परं यथा भवत्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ। तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशयं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे[9] भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः। वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः

---

१. शरीरस्पर्शि घ। २ चाण्डालस्यापि घ। ३. शिशुमारहृदे पाठः ग घ पुस्तके। ४. सिंहासनमणिमण्डपिकादेवदुंदुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यकृतं घ। ५. स्थापयित्वा ग। ६. स स्पृश्यो विशिष्टः कृतः इति घ। ७. कटकेति पाठः। ८. न्यायस्य च घ। ९. ललाटदेशे ग।

सागरदत्तः। एकदा महापूजायां वसन्तौ कायोत्सर्गेण[1] संस्थितां सर्वाभरणविभूषितां नीलीमालोक्य सागरदत्तेनोक्तं किमेषापि[2] देवता काचिदेतदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणितं—जिनदत्तश्रेष्ठिन इयं पुत्री नीली। तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमियं प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः। समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमां पुत्रिकां परिणेतुं। ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा, ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धं, एवं वंचने जाते भणितं जिनदत्तेन—इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वशुरगृहे भर्तुः वल्लभा[3]भिन्नगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठन्ती तिष्ठति। दर्शनात् संसर्गाद्वचनधर्मदेवाकर्णनाद्वा कालेनेयं बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता—नीली-पुत्रि! ज्ञानिनां वन्दकानामस्मदर्थं भोजनं देहि। ततस्तया वन्दकानामामंत्र्याहूय च तेषामेकैका प्राणहितातिपिष्टा[4] संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता। तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छद्भिः प्रष्टं—क्व प्राणहिताः? तयोक्तं भवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठन्ति, यदि पुनर्ज्ञानं नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति। एवं वमने कृते दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि। ततो रुष्टश्च श्वशुरपक्षजनः। ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुषदोषोद्भावना कृता। तस्मिन् प्रसिद्धि गते सा नीली देवाग्रे संन्यासं गृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता, दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति। ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता—हे महासति! मा प्राणत्यागमेवं कुरु, अहं राज्ञः प्रधानानां पुरजनस्य स्वप्नं ददामि। लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासतीवामचरणेन संस्पृश्य उद्घटिष्यन्तीति। ताश्च प्रभाते भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं वा उद्घटिष्यन्तीति[5] पादेन प्रतोलीस्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीनां तथा स्वप्नं दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता। प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्तं स्वप्नं स्मृत्वा[6] नगरस्त्रीचरणताडनं प्रतोलीनां कारितं। न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्घटिता। सर्वासां पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता। तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्घटिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता च नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः।

अस्य कथा

कुरुजांगलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः, पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्तिः। एकदा पूर्वविद्याधर[7]भवकथनानन्तरं समायातपूर्व-

---

१. काम्योत्सर्गस्थिता घ। २. किमेषा घ। ३. विभिन्न घ। ४. मृष्टा ग घ। नगर सर्वस्त्री। ५. 'ताश्च प्रभाते ६. भवच्चरणं स्पृष्ट्वा एवं व उद्घटिष्यन्तीति' इति पङ्क्तिः घ पुस्तके नास्ति। ७. 'भवकथनानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो हिरण्यधर्मप्रभावती' इत्यंशो घ० पुस्तके नास्ति।

जन्मविद्यौ[1] [2]हिरण्यधर्मप्रभावतीविद्याधररूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापितचतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ। तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशंसा कृता। तां परीक्षितुं रतिप्रभदेवः समायातः। ततः स्त्रीरूपमादाय चतसृभिर्विलासिनीभिः सह जयसमीपं गत्वा भणितो जयः। सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह संग्रामः कृतः तस्य नमिविद्या-[3]धरपते राज्ञीं सुरूपामभिनवयौवनां सर्वविद्याधारिणीं तद्विरक्तचित्तामिच्छ, यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वाञ्छसीति। एतदाकर्ण्य जयेनोक्तं—हे सुन्दरि! मैवं ब्रूहि, परस्त्री मम जननीसमानेति। ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्तं न चलितं। ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पंचमाणुव्रतस्य ॥ १८ ॥

आगे क्या इस लोकमें किसी जीवको अहिंसादि अणुव्रतोंके धारण करनेके फलकी प्राप्ति नहीं देखी गई है जिससे कि परलोकके लिये ही उनकी आराधना की जाती है? ऐसी आशङ्काकर आचार्य उत्तर देते हैं।

मातङ्ग इति—(**मातङ्गः**) यमपाल नामका चाण्डाल (**धनदेवः**) धनदेव, (**ततः परः**) उसके बाद (**वारिषेणः**) वारिषेण नामका राजकुमार, (**नीली**) (**च**) और (**जयः**) जयकुमार ये क्रमसे अहिंसादि अणुव्रतोंमें (**उत्तमं**) उत्तम (**पूजातिशयं**) पूजाके अतिशयको (**संप्राप्ताः**) प्राप्त हुए हैं।

टीकार्थ—हिंसाविरति नामक अणुव्रतसे यमपाल चाण्डालने उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसकी कथा इस प्रकार है—

यमपाल चाण्डालकी कथा

सुरम्य देश पोदनपुर नगरमें राजा महाबल रहता था। नन्दीश्वर पर्वकी अष्टमीके दिन राजाने यह घोषणा की कि आठ दिन तक जीवघात नहीं किया जावेगा। राजाका बल नामका एक पुत्र था, जो कि मांस खानेमें आसक्त था उसने यह विचारकर कि यहाँ कोई पुरुष दिखाई नहीं दे रहा है, इसलिये छिपकर राजाके बगीचेमें राजाके मेंढाको मरवाकर तथा पकवाकर खा लिया। राजाने जब मेंढा मारे जानेका समाचार सुना, तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने मेंढा मारने वालेकी खोज शुरू कर दी। उस बगीचेका माली पेड़के ऊपर चढ़ा

१. जन्माद्यः ग. घ.। २. वर्म ग. घ.। ३. नमिविद्याधराधिपते घ.।

था। उसने मेंढाको मारते हुए राजकुमारको देख लिया था। मालीने रातमें यह बात अपनी स्त्रीसे कही। तदनन्तर छिपे हुए गुप्तचर पुरुषने राजासे यह समाचार कह दिया। प्रातःकाल माली भी बुलाया गया। उसने भी यह समाचार फिर कह दिया। मेरी आज्ञाको मेरा पुत्र ही खण्डित करता है इससे रुष्ट होकर राजाने कोटपालसे कहा कि बलकुमारके नौ टुकड़े करा दो अर्थात उसे मरवा दो।

तदनन्तर उस कुमारको मारनेके स्थानपर लेजाकर चाण्डालको लानेके लिये जो आदमी गये थे उन्हें देखकर चाण्डालने अपनी स्त्रीसे कहा कि हे प्रिये! तुम इन लोगोंसे यह कह दो कि चाण्डाल गाँव गया है। ऐसा कहकर वह घरके कोनेमें छिपकर बैठ गया। जब सिपाहियोंने चाण्डालको बुलाया तब चाण्डालीने कह दिया कि वह आज गाँव गया है। सिपाहियोंने कहा कि वह पापी अभागा आज गाँव चला गया। राजकुमारको मारनेसे उसे बहुत भारी सुवर्ण और रत्नादिका लाभ होता। उनके वचन सुनकर चाण्डालीको धनका लोभ आ गया। अतः वह मुखसे तो बार-बार यही कहती रही कि वह गाँव गया है परन्तु हाथके संकेतसे उसे दिखा दिया। तदनन्तर सिपाहियोंने उसे घरसे निकाल कर मारनेके लिये वह राजकुमार सौंप दिया। चाण्डालने कहा कि मैं आज चतुर्दशीके दिन जीवघात नहीं करता हूँ। तब सिपाहियोंने उसे ले जाकर राजासे कहा कि देव! यह राजकुमारको नहीं मार रहा है। उसने राजासे कहा कि एक बार मुझे साँपने डस लिया था, जिससे मृत समझकर मुझे श्मशानमें डाल दिया गया था। वहाँ सर्वौषधि ऋद्धिके धारक मुनिराजके शरीरकी वायुसे मैं पुनः जीवित हो गया। उस समय मैंने उन मुनिराजके पास चतुर्दशीके दिन जीवघात न करनेका व्रत लिया था, इसलिये आज मैं नहीं मार रहा हूँ-- आप जो जानो सो करें। 'अस्पृश्य चाण्डालके भी व्रत होता है' यह विचारकर राजा बहुत रुष्ट हुआ और उसने दोनोंको मजबूत बंधवाकर सुमार (शिशुमार) नामक तालाबमें डलवा दिया। उन दोनोंमें चाण्डालने प्राणघात होनेपर भी अहिंसाव्रतको नहीं छोड़ा था, इसलिये उसके व्रतके माहात्म्यसे जलदेवताने जलके मध्य सिंहासन, मणिमय मण्डप, दुन्दुभिबाजोंका शब्द तथा साधुकार— अच्छा किया आदि शब्दोंका उच्चारण यह सब महिमा की। महाबल राजाने जब यह समाचार सुना तब भयभीत होकर उसने चाण्डालका सन्मान किया तथा अपने छत्रके नीचे उसका अभिषेक कराकर उसे स्पर्श करनेके योग्य विशिष्ट पुरुष घोषित कर दिया। यह प्रथम अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

सत्याणुव्रतसे धनदेव सेठने पूजातिशयको प्राप्त किया था। उसकी कथा इस प्रकार है

धनदेवकी कथा

जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नामक नगरी है। उसमें जिनदेव और धनदेव नामके दो अल्पपूंजीवाले व्यापारी रहते थे। उन दोनोंमें धनदेव सत्यवादी था। एक बार वे दोनों 'जो लाभ होगा उसे आधा आधा ले लेवेंगे' ऐसी विना गवाहकी व्यवस्था कर दूर देश गये। वहाँ वहुत-सा धन कमाकर लौटे और कुशल-पूर्वक पुण्डरीकिणी नगरी आ गये। उनमें जिनदेव, धनदेवके लिये लाभका आधा भाग नहीं देता था। वह उचित समझकर थोड़ा-सा द्रव्य उसे देता था। तदनन्तर झगड़ा होनेपर न्याय होने लगा। पहले कुटुम्बीजनोंके सामने, फिर महाजनोंके सामने और अन्तमें राजाके आगे मामला उपस्थित किया गया। परन्तु विना गवाही-का व्यवहार होनेसे जिनदेव कह देता कि मैंने इसके लिये लाभका आधा भाग देना नहीं कहा था, उचित भाग ही देना कहा था। धनदेव सत्य ही कहता था कि दोनोंका आधा-आधा भाग ही निश्चित हुआ था। तदनन्तर राजकीय नियमके अनुसार उन दोनोंको दिव्य[1] न्याय दिया गया। अर्थात् उनके हाथोंपर जलते हुए अङ्गारे रखे गए। इस दिव्यन्यायसे धनदेव निर्दोप सिद्ध हुआ, दूसरा नहीं। तदनन्तर सब धन धनदेवके लिये दिया गया और धनदेव सबलोगोंके द्वारा पूजित हुआ तथा धन्यवादको प्राप्त हुआ। इसप्रकार द्वितीय अणुव्रतकी कथा है।

चौर्यविरति अणुव्रतसे वारिषेणने पूजाका अतिशय प्राप्त किया था। इसकी कथा स्थितीकरणगुणके व्याख्यानके प्रकरणमें कही गई है। वह इस प्रकरणमें भी देखना चाहिये। इस प्रकार तृतीय अणुव्रतकी कथा है। मातङ्ग, धनदेव और वारिषेणके आगे नीली और जयकुमार पूजातिशयको प्राप्त हुए हैं। उनमें अब्रह्मविरति अणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रतसे नीली नामकी वणिक्पुत्री पूजातिशय-को प्राप्त हुई है। उसकी कथा इस प्रकार है—

नीलीकी कथा

लाटदेशके भृगुकच्छ नगरमें राजा वसुपाल रहता था। वहीं एक जिनदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। उनके एक नीली

१. जिन अभियोगोंमें गवाही नहीं होती थी, उनमें शुद्धपक्षका निर्णय करनेके लिये अग्निपरीक्षा, विषपरीक्षा और तुलारोहणपरीक्षा की जाती थी, इसे दिव्यन्याय कहते थे।

नामकी पुत्री थी, जो अत्यन्त रूपवती थी। उसी नगरमें एक समुद्रदत्त नामका सेठ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम सागरदत्ता था और उन दोनोंके एक सागरदत्त नामका पुत्र था। एकबार महापूजाके अवसरपर मन्दिरमें कार्योत्सर्गसे खड़ी हुई तथा समस्त आभूषणोंसे सुन्दर नीलीको देखकर सागरदत्तने कहा कि क्या यह भी कोई देवी है? यह सुनकर उसके मित्र प्रियदत्तने कहा कि यह जिनदत्त सेठकी पुत्री नीली है। नीलीका रूप देखनेसे सागरदत्त उसमें अत्यन्त आसक्त हो गया और यह किसतरह प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार उसके विवाहकी चिन्तासे दुर्बल हो गया। समुद्रदत्तने यह सुनकर उससे कहा कि हे पुत्र! जैनको छोड़कर अन्य किसीके लिये जिनदत्त इस पुत्रीको विवाहनेके लिये नहीं देता है।

तदनन्तर वे दोनों पिता पुत्र कपटसे जैन हो गये और नीलीको विवाह लिया। विवाहके पश्चात् वे फिर बुद्धभक्त हो गये। उन्होंने नीलीका पिताके घर जाना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार धोखा होनेपर जिनदत्तने यह कहकर संतोष कर लिया कि यह पुत्री मेरे हुई ही नहीं है अथवा कुआ आदिमें गिर गई है अथवा मर गई है। नीली अपने पतिको प्रिय थी, अतः वह श्वसुरालमें, जिनधर्मका पालन करती हुई एक भिन्न घरमें रहने लगी।

समुद्रदत्तने यह विचारकर कि बौद्ध साधुओंके दर्शनसे, संसर्गसे, उनके वचन, धर्म और देवका नाम सुननेसे काल पाकर यह बुद्धकी भक्त हो जायेगी, एक दिन समुद्रदत्तने कहा कि नीली बेटी! बौद्ध साधु बहुत ज्ञानी होते हैं, उन्हें देनेके लिये हमें भोजन बनाकर देओ। तदनन्तर नीलीने बौद्ध साधुओंको निमन्त्रित कर बुलाया और उनकी एक-एक प्राणहिता-(पनहिया) जूतीको अच्छी तरह पीसकर तथा मसालोंसे सुसंस्कृतकर उन्हें खानेके लिए दे दिया। वे बौद्धसाधु भोजनकर जब जाने लगे तो उन्होंने पूछा कि हमारी जूतियाँ कहाँ हैं? नीलीने कहा कि आप ही अपने ज्ञानसे जानिये, जहाँ वे स्थित हैं। यदि ज्ञान नहीं है तो वमन कीजिये, आपकी जूतियाँ आपके ही पेटमें स्थित हैं। इस प्रकार वमन किये जानेपर उनमें जूतियोंके टुकड़े दिखाई दिये। इस घटनासे नीलीके श्वसुरपक्षके लोग बहुत रुष्ट हो गये।

तदनन्तर सागरदत्तकी बहनने क्रोधवश उसे परपुरुषके संसर्गका झूठा दोष लगाया। जब इस दोषकी प्रसिद्धि सब ओर फैल गई, तब नीली भगवान् जिनेन्द्रके आगे सन्यास लेकर कायोत्सर्गसे खड़ी हो गई और उसने नियम ले लिया कि इस दोषसे पार होनेपर ही मेरी भोजन आदिमें प्रवृत्ति होगी, अयन्‍ प्रकार नहीं।

तदनन्तर क्षोभको प्राप्त हुई नगरदेवताने आकर रात्रिमें उससे कहा कि हे महासति! इस तरह प्राणत्याग मत करो, मैं राजाको तथा नगरके प्रधान पुरुषोंको स्वप्न देती हूँ कि नगरके सब प्रधान द्वार कीलित हो गये हैं, वे महा-पतिव्रता स्त्रीके बाँये चरणके स्पर्शसे खुलेंगे। वे प्रधान द्वार प्रातःकाल आपके पैरका स्पर्शकर खुलेंगे, ऐसा कहकर वह नगरदेवता राजा आदिको वैसा स्वप्न दिखा कर तथा नगरके प्रधान द्वारोंको बन्दकर बैठ गई। प्रातःकाल नगरके प्रधान द्वारोंको कीलित देखकर राजा आदिने पूर्वोक्त स्वप्नका स्मरणकर नगरकी सब स्त्रियोंके पैरोंसे द्वारोंकी ताड़ना कराई। परन्तु किसी भी स्त्रीके द्वारा एक भी प्रधान द्वार नहीं खुला। सब स्त्रियोंके बाद नीलीको भी वहाँ उठाकर ले जाया गया। उसके चरणोंके स्पर्शसे सभी प्रधान द्वार खुल गये। इस प्रकार नीली निर्दोष घोषित हुई और राजा आदिके द्वारा सन्मानको प्राप्त हुई। यह चतुर्थ अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहविरति अणुव्रतसे जयकुमार पूजातिशयको प्राप्त हुआ था। उसकी कथा इस प्रकार है—

जयकुमारकी कथा

कुरुजांगल देशके हस्तिनागपुर नगरमें कुरुवंशी राजा सोमप्रभ रहते थे। उनके जयकुमार नामका पुत्र था। वह जयकुमार परिग्रहपरिमाणव्रतका धारी था तथा अपनी स्त्री सुलोचनासे ही सम्बन्ध रखता था। एक समय, पूर्व विद्याधरके भवोंकी कथाके बाद जिन्हें अपने पूर्वभवोंका ज्ञान हो गया था, ऐसे जयकुमार और सुलोचना हिरण्यधर्मा और प्रभावती नामक विद्याधर युगलका रूप रखकर मेरु आदि पर वन्दना-भक्ति करके कैलास पर्वतपर भरत चक्रवर्तीके द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस जिनालयोंकी वन्दना करनेके लिये आये। उसी अवसरपर सौधर्मेन्द्रने स्वर्गमें जयकुमार के परिग्रहपरिमाणव्रतकी प्रशंसा की। उसकी परीक्षा करनेके लिये रतिप्रभ नामका देव आया। उसने स्त्रीका रूप रख चार स्त्रियोंके साथ जयकुमारके समीप जाकर कहा कि सुलोचनाके स्वयंवरके समय जिसने तुम्हारे साथ युद्ध किया था उस नमि विद्याधर राजाकी रानीको, जो कि अत्यन्त रूपवती, नवयौवनवती, समस्त विद्याओंको धारण करनेवाली और उससे विरक्तचित्त है, स्वीकृत करो, यदि उसका राज्य और अपना जीवन चाहते हो तो। यह सुनकर जयकुमारने कहा कि हे सुन्दरि! ऐसा मत कहो, परस्त्री मेरे लिये माताके समान है। तदनन्तर उस स्त्रीने

जयकुमारके ऊपर बहुत उपसर्ग किया, परन्तु उसका चित्त विचलित नहीं हुआ। तदनन्तर वह रतिप्रभदेव मायाको संकुचित कर, पहलेका सब समाचार कहकर प्रशंसा कर और वस्त्र आदिसे पूजाकर स्वर्ग चला गया। इस प्रकार पञ्चम अणुव्रतकी कथा पूर्ण हुई ॥ १८ ॥ ६४ ॥

एवं पंचानामहिंसादिव्रतानां प्रत्येकं गुणं प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूतानां हिंसाद्यव्रतानां दोषं दर्शयन्नाह—

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥१९॥

धनश्रीश्रेष्ठिन्या हिंसातो बहुप्रकारं दुःखफलमनुभूतं। सत्यघोषपुरोहितेनानृतात्। तापसेन चौर्यात्। आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्मणि वृत्त्यभावात्। ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः। के ते। धनश्रीसत्यघोषौ च। न केवलं एतौ एव किन्तु तापसारक्षकावपि। तथा तेनैव प्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूतं। यथाक्रमं उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः। तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःखं प्राप्ता।

अस्याः कथा

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः। वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि[1] जीववधेऽविरता। तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः। अपुत्रकाले धनश्रिया यः पुत्रबुद्ध्या कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्रीः कुकर्मरता जाता। गुणपाले च गुणदोषपरिज्ञानके[2] जाते धनश्रिया तच्छंकितया[3] भणितः कुण्डलः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्यां गुणपालं प्रेषयामि,[4] लग्नस्त्वं तत्र तं मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणां मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं—अद्य[5] रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्यां प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति। धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भणितो हे पुत्र कुंडलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति। स च गोधनमटव्यां नीत्वा काष्ठं [6]च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः। कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेन हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः क्व रे कुण्डलः। तेनोक्तं कुण्डल-

---

१. मनागपि न जीववधविरता घ। २. परिज्ञायके घ। ३. तत्सक्ततया। ४. प्रेषयामो लग्नास्त्वं घ.। ५. अत्र घ। ६. 'च' शब्दो नास्ति घ।

वार्तामयं खड्गोऽभिजानाति। ततो रक्तलिप्तं बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः। तं च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता। कोलाहले जाते कोट्टपालैर्धनश्रीर्धृत्वा राज्ञोऽग्रे नीता। राज्ञा च गर्दभारोहणे[1] कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाव्रतस्य।

सत्यघोषोऽनृताद्‌बहुदुःखं प्राप्तः।

इत्यस्य कथा

जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता, पुरोहितः श्रीभूतिः। स ब्रह्मसूत्रे कर्तिकां बध्वा भ्रमति। वदति च यद्यसत्यं ब्रवीमि तदाऽनया कर्तिकया निजजिह्वाच्छेदं करोमि। एवं कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीयं नाम संजातम्। लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्यं धरन्ति च। तद्‌द्रव्यं किंचित्तेषां समर्प्य स्वयं गृह्णाति। पूत्कर्तुं बिभेति लोकः। न च पूत्कृतं राजा शृणोति। अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिक्पुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि[2] पंच माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितुं गतः। तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण एकफलकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवांछया सिंहपुरे सत्यघोषसमीपमायातः। तं च रंकसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोषेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणां कथितं। अयं पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य[3] माणिक्यानि याचिष्यतीति। तेनागत्य प्रणम्य चोक्तं भो सत्यघोषपुरोहित! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्योपार्जितार्थस्य[4] महाननर्थो जात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसादं कृत्वा देहि, येनात्मानं स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्यं समुद्धरामि। तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन[5] सत्यघोषेण समीपोपविष्टा जना भणिता मया प्रथमं यद् भणितं तद् भवतां सत्यं जातं। तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्ययं ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निःसार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भण्यमानः। पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपंचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि। तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कारं कुर्वन् षण्मासान् स्थितः। तां पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः—देव! नायं पुरुषः ग्रहिलः। राज्ञापि भणितं किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते?। पुनरुक्तं राज्या देव! संभाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽयमेतादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति। एतदाकर्ण्य भणितं राज्ञा यदि सत्यघोषस्यैतत् संभाव्यते तदा त्वं परीक्षयेति। लब्धादेशया रामदत्तया सत्यघोषो राजसेवार्थमा-

---

१. रोहणं घ। २. ऽनर्घ्याणि घ। ३. ऽत्रागत्य मां रत्नानि घ। ४. गतस्योपार्जितार्थस्यापि घ। ५. कपटोपेतसत्य घ।

गच्छन्नाकार्य पृष्टः—किं बृहद्वेलायामागतोऽसि ? तेनोक्तं—मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्तं भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति। पुनरप्युक्तं तया—क्षणमेकमत्रोपविश। ममातिकौतुकं जातं। अक्षक्रीडां कुर्मः। राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येवं कुर्वित्युक्तं। ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविलासिनी कर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिलमाणिक्यानि याचितुं प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति। ततस्तया गत्वा याचितानि। तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि। तद्विलासिन्या चागत्य देवीकर्णे कथितं सा न ददातीति। ततो जितमुद्रिकां तस्य साभिज्ञानं दत्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि। ततस्तस्य कर्तिकायज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च तया। ब्राह्मण्या तद्दर्शनात्तुष्टया[1] भीतया च समर्पितानि माणिक्यानि तद्विलासिन्याः। तया च रामदत्तायाः समर्पितानि। तया च राज्ञो दर्शितानि। तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य च ग्रहिलो भणितः रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण। तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामदत्तया च वणिक्पुत्रःप्रतिपन्नः। ततो राज्ञा सत्यघोषः पृष्टः—इदं कर्म त्वया[2] कृतमिति। तेनोक्तं देव ! न करोमि, किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते ?। ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं। गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातत्रयं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि। तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं। तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः। तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं। एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वातिलोभवशाद्राजकीयभांडागारे[3] अगंधनसर्पो जातः। तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयाव्रतस्य।

तापसश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः।

इत्यस्य कथा

वत्स श कौशाम्बीपुरे राजा सिंहरथो राज्ञी विजया। तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमान[4]शिक्यस्थो दिवसे पंचाग्निसाधनं करोति। रात्रौ च कौशांबीं मुषित्वा तिष्ठति। एकदा महाजनान्मुष्टं [5]नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे सप्तरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय। ततश्चौरमलभमानश्चिन्तापरः तलारोऽपराह्णे बुभुक्षितब्राह्मणेन केनचिदागत्य भोजनं प्रार्थितः। तेनोक्तं—हे ब्राह्मण ! अछान्दसोऽसि मम प्राणसन्देहो वर्तते त्वं च भोजनं प्रार्थयसे। एतद्वचनमाकर्ण्य पृष्टं ब्राह्मणेन कुतस्ते प्राणसन्देहः ?। कथितं च तेन। तदाकर्ण्य पुनः पृष्टं

---

१. हृष्टया तया घ। २. त्वया कृतं किं न कृतमिति घ। ३. अगंध घ। ४. मस्पृशन् विलम्ब्यमान घ। ५. तन्नगर घ।

ब्राह्मणेन–अत्र किं कोऽप्यतिनिस्पृहवृत्तिपुरुषोऽप्यस्ति ? उक्तं तलारेण–अस्ति विशिष्टस्तपस्वी, न च तस्यैतत् सम्भाव्यते। भणितं ब्राह्मणेन—स एव चौरो भविष्यति[1] अतिनिस्पृहत्वात्। श्रूयतामत्र मदीया कथा–मम ब्राह्मणी महासती परपुरुषशरीरं न स्पृशतीति निजपुत्रस्याप्यतिकुक्कुटात् कर्पटेन सर्वं शरीरं प्रच्छाद्य स्तनं ददाति। रात्रौ तु [2]गृहपिण्डारेण सह कुकर्म करोति (१)। तद्दर्शनाद् संजातवैराग्योऽहं संवलार्थं सुवर्णशलाकां वंशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्रायां निर्गतः। अग्रे गच्छतश्च ममैकवटुको मिलितो न तस्य विश्वासं गच्छाम्यहं यष्टिरक्षां यत्नतः करोमि। तेनाकलिता सा यष्टिःसगर्भेति। एकदा रात्रौ कुंभकारगृहे निद्रां कृत्वा दूराद्गत्वा तेन निजमस्तके लग्नं कुथितं तृणमालोक्यातिकुक्कुटेन ममाग्रतो, हा हा मया परतृणमदत्तं ग्र[4]सितमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृणं तत्रैव कुंभकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः। भिक्षार्थं गच्छतस्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टिः कुक्कुरादिनिवारणार्थं समर्पिता। तां गृहीत्वा स गतः (२)। ततो मया महाटव्यां गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुटं दृष्टं। यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे रे पुत्राः! अहं अतीव गन्तुं न शक्नोमि। बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणां भक्षणं करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं प्रभाते बध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु। तैरुक्तं हा हा तात ! पितामहस्त्वं किं तवैतत् संभाव्यते ? तेनोक्तं—"बुभुक्षितः किं न करोति पापं" इति। एवं प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुखं बद्ध्वा ते गताः। स च वृद्धो गतेषु चरणाभ्यां मुखाद्बन्धनं[5] दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमनसमये पुनः चरणाभ्यां बन्धनं मुखे संयोज्यातिकुर्कुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३)। ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुटं दृष्टं मया। यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वा बृहच्छिलां च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा नगरमध्ये तिष्ठति दिवा रात्रौ चातिकुर्कुटेन 'अपसर जीव पादं ददामि, अपसर जीव पादं ददामीति' भणन् भ्रमति। 'अपसरजीवेति' चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते। स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूषितमेकाकिनं प्रणमन्तं तया शिलया मारयित्वा तद्द्रव्यं गृह्णाति (४)। इत्यतिकुर्कुटचतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽयं कृतः—

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणोऽतृणहिंसकः।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः॥ इति

इति कथयित्वा तलारं धीरयित्वा सन्ध्यायां ब्राह्मणः शिवयतपस्विसमीपं गत्वा

---

१. भविष्यतीति निःस्पृहत्वात् घ। २. पिण्डारो महिषी बाले क्षेपक्षेपण शाखि। ३. शाम्बलार्थमिति ख, ग। ४. हिंसितं घ। ५. बन्धनमुत्तार्य घ।

तपस्विप्रतिचारकैर्निर्घाट्यमानोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थितः। ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकट्टिकांगुल्यादिकं तस्याक्षिसमीपं नयन्ति। स च पश्यन्नपि न पश्यति। बृहद्रात्रौ गुहायामन्धकूपे नगरद्रव्यं ध्रियमाणमालोक्य तेषां खादनपानादिकं चालोक्य[1] प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारो रक्षितः तेन रात्रिदृष्टमावेद्य। स शिक्यस्थस्तपस्वी चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभिः कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृतीयाव्रतस्य।

[2]आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद्दुःखं प्राप्तम्।

अस्य कथा

[3]आहीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, [4]तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली। सा एकदा वध्वा धर्तुं समर्पिताभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वं गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्टा सेविता चैकान्ते। तदाभरणं चानीय तेन निजभार्याया दत्तं। तया च दृष्ट्वा भणितं—[5]मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं। तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यतीति। ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्मरतः स्थितः। एकदा तद्भार्ययाऽसहनादतिरुष्टया रजक्याः कथितं। मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति। रजक्या च मालाकारिण्याः कथितं। अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमालाराज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता। तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे काम्प्यपूर्वा[6] वार्ता। तया च तलारद्विष्टतया कथितं राज्ञ्याः, देवि! यमदण्डतलारो[7] निजजनन्या सह तिष्ठति। कनकमालया च राज्ञः कथितं। राज्ञा च गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य [8]तलारो [9]गृहीतो दुर्गतिं गतश्चतुर्थाव्रतस्य।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं।

अस्य कथा

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः। तत्र [10]स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं। ततोऽतिनिर्धनेन[11] तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः[12] तक्रं पातुं याचितं। तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चे लग्नमालोक्य

---

१. खानपानस्त्र्यादिकं चालोक्य घ। २. आरक्षेण घ। ३. अहीरदेशे ख, ग। ४. तलवरो घ। ५. मदीयमाभरणं घ। ६. काम्प्यपूर्ववार्ता घ। ७. तलवरो घ। ८. तलवरो घ। ९. निगृहीतो घ। १०. समुपार्जितं द्रव्यं तत्तस्य घ। ११. ततो निर्धनेन घ। १२. गोकुले ख ग घ।

गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचिन्वतस्तस्य श्मश्रुनवनीत इति नाम जातं। एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य[1] भाजनं पादान्ते धृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा[2] रात्रौ संस्तरे पतितः संचिन्तयति, अनेन घृतेन वहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तरा[3]जाधिराजपदं प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा, तदा च मे सप्ततलप्रासादे शय्यागतस्य पादान्ते[4] समुपविष्टं स्त्रीरत्नं पादौ मुष्ट्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दनं कर्तुमिति स्नेहेन भणित्वा स्त्रीरत्नमेवंपादेन ताडयिष्यामि, एवं चिन्तयित्वा[5] तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातितं[6] तद्घृतभाजनं तेन च घृतेन द्वारे संधुक्षितोऽग्निः सुतरां प्रज्वलितः। ततो द्वारे प्रज्वलिते निःसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः इच्छाप्रमाणरहितपंचमात्रतस्य ॥ १९ ॥

इस प्रकर अहिंसा आदि पाँच व्रतोंमें प्रत्येकका फल कहकर अब हिंसा आदि अव्रतोंका दोष दिखलाते हुए कहते हैं—

धनश्रीति—(**धनश्रीसत्यघोषौ च**) धनश्री और सत्यघोष (**तापसारक्षकौ अपि**) तापस और कोतवाल (**तथा**) और (**श्मश्रुनवनीतः**) श्मश्रुनवनीत ये पाँच (**यथाक्रमं**) क्रमसे हिंसादिपापोंमें (**उपाख्येयाः**) उपाख्यान करनेके योग्य है—दृष्टान्त देनेके योग्य हैं।

टीकार्थ—धनश्री नामकी सेठानीने हिंसासे वहुत प्रकारका दुःखदायक फल भोगा है। सत्यघोष पुरोहितने असत्य वोलनेसे, तापसने चोरीसे और कोतवालने व्रह्मचर्यका अभाव होंनेसे बहुत दुःख भोगा है। इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत नामक वणिक्ने परिग्रह पापके कारण वहुत दुःख भोगा है। अतः ये सव ऊपर वताये हुए क्रमसे दृष्टान्त देनेके योग्य हैं। उनमें धनश्री हिंसा पापके फलसे दुर्गतिको प्राप्त हुई थी। इसकी कथा निम्न प्रकार हैं।

धनश्रीकी कथा

लाटदेशके भृगुकच्छ नगरमें राजा लोकपाल रहता था। वहीं एक धनपाल नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। धनश्री जीवहिंसासे कुछ भी विरत नहीं थी अर्थात् निरन्तर जीवहिंसामें तत्पर रहती थी। उसकी सुन्दरी नामकी पुत्री और गुणपाल नामका पुत्र था। जव धनश्रीके पुत्र नहीं

---

१. तस्य घ। २. धृत्वा ग। ३. राज्यपदं। ४. तदुपविष्टं घ। ५. चिन्तयता नेम घ। ६. पतितं घ श्रवणोत्तमाः घ।

हुआ था तब उसने एक कुण्डल नामक बालकका पुत्रबुद्धिसे पालन-पोषण किया। समय पाकर जब धनपालकी मृत्यु हो गई तब धनश्री उस कुण्डलके साथ कुकर्म करने लगी। इधर धनश्रीका पुत्र गुणपाल जब गुण और दोषोंको जानने लगा तब उससे शङ्कित होकर धनश्रीने कुण्डलसे कहा कि मैं गोंखरमें गाएँ चरानेके लिये गुणपालको जङ्गल भेजूंगी सो तुम उसके पीछे लगकर उसे वहाँ मार डालो, जिससे हम दोनोंका स्वच्छन्द रहना हो जायगा—कोई रोक नहीं सकेगा। यह सब कहती हुई माताको सुन्दरीने सुन लिया, इसलिये उसने अपने भाई गुणपालसे कह दिया कि आज रात्रिमें गोधन लेकर गोंखरमें माता तुम्हें जंगल भेजेगी और वहाँ कुण्डलके हाथसे तुम्हें मरवा डालेगी, इसलिये तुम्हें सावधान रहना चाहिये।

धनश्रीने रात्रिके पिछले पहर गुणपालसे कहा हे पुत्र! कुण्डलका शरीर ठीक नहीं है इसलिये आज तुम गोंखरमें गोधन लेकर जाओ। गुणपाल गोधनको लेकर जंगल गया और वहाँ एक काष्ठको कपड़ेसे ढककर छिपकर बैठ गया। कुण्डलने आकर 'यह गुणपाल है' ऐसा समझकर वस्त्रसे ढके हुए काष्ठपर प्रहार किया। उसी समय गुणपालने तलवारसे उसे मार डाला। जब गुणपाल घर आया तब धनश्रीने पूछा कि रे गुणपाल! कुण्डल कहाँ गया? गुणपालने कहा कि कुण्डलकी बातको यह तलवार जानती है। तदनन्तर खूनसे लिप्त बाहुको देखकर धनश्रीने उसी तलवारसे गुणपालको मार दिया। भाईको मारती देख सुन्दरीने उसे मूसलसे मारना शुरू किया। इसी बीचमें कोलाहल होनेसे कोतवालोंने धनश्रीको पकड़कर राजाके आगे उपस्थित किया। राजाने उसे गधेपर चढ़ाया तथा कान, नाक आदि कटवाकर दण्डित किया, जिससे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुई। इस तरह प्रथम अव्रतसे सम्बद्ध कथा पूर्ण हुई।

सत्यघोष असत्य बोलनेसे बहुत दुःखको प्राप्त हुआ था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सत्यघोषकी कथा

जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्र सम्बन्धी सिंहपुर नगरमें राजा सिंहसेन रहता था। उसकी रानीका नाम रामदत्ता था। उसी राजाका एक श्रीभूति नामका पुरोहित था। वह जनेऊमें कैंची बाँधकर घूमा करता था और कहता था कि यदि मैं असत्य बोलूँ तो इस कैंचीसे अपनी जिह्वाका छेद कर लूँ। इस तरह

कपटसे रहते हुए उस पुरोहितका सत्यघोष यह दूसरा नाम चल पड़ा। लोग विश्वासको प्राप्त होकर उसके पास अपना धन रखने लगे। वह उस धनमेंसे कुछ तो रखनेवालोंको दे देता था और बाकी स्वयं ग्रहण कर लेता था। लोग रोनेसे डरते थे और कोई रोता भी था तो राजा उसकी सुनता भी नहीं था।

तदनन्तर एक समय पद्मखण्ड नगरसे एक समुद्रदत्त नामका सेठ आया। वह वहाँ सत्यघोषके पास अपने पाँच बहुमूल्य रत्न रखकर धन उपार्जित करनेके लिये दूसरे पार चला गया और वहाँ धनोपार्जन करके जब लौट रहा था तब उसका जहाज फट गया। काठके एक पहियेसे वह समुद्रको पारकर रखे हुए मणियोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे सिंहपुरमें सत्यघोषके पास आया। रंकके समान आते हुए उसे देखकर उसके मणियोंको हरनेके इच्छुक सत्यघोषने विश्वासकी पूर्तिके लिये समीपमें बैठे हुए लोगोंसे कहा कि यह पुरुष जहाज फट जानेसे पागल हो गया है और यहाँ आकर मणि माँगेगा। उस सेठने आकर तथा प्रणामकर कहा कि हे सत्यघोष पुरोहित! मैं धन कमानेके लिये गया था। धनोपार्जन करनेके बाद मेरे ऊपर बड़ा संकट आ पड़ा है इसलिये मैंने जो रत्न तुम्हें रखनेके लिये दिये थे वे रत्न कृपाकर मुझे दे दीजिये। जिससे जहाज फट जानेके कारण निर्धनताको प्राप्त हुए अपने आपका उद्धार कर सकूँ। उसके वचन सुनकर कपटी सत्यघोषने पासमें बैठे हुए लोगोंसे कहा कि देखो, मैंने पहले आप लोगोंसे बात कही थी वह सत्य निकली। लोगोंने कहा कि आप ही जानते हैं, इस पागलको इस स्थानसे निकाल दिया जावे। ऐसा कहकर उन्होंने समुद्रदत्तको घरसे निकाल दिया। 'वह पागल है' ऐसा कहा जाने लगा। 'सत्यघोषने मेरे पाँच बहुमूल्य रत्न ले लिये हैं' इस प्रकार रोता हुआ वह नगरमें घूमने लगा। राजभवनके पास एक इमलीके वृक्षपर चढ़कर वह पिछली रातमें रोता हुआ यही कहता था। यह करते हुए उसे छह माह निकल गये।

एक दिन उसका रोना सुनकर रामदत्ता रानीने राजा सिंहसेनसे कहा कि देव! यह पुरुष पागल नहीं है। राजाने भी कहा कि तो क्या सत्यघोषसे चोरीकी संभावना की जा सकती है। रानीने फिर कहा कि देव! उसके चोरीकी संभावना की जा सकती है क्योंकि यह सदा ऐसे ही वचन कहता है। यह सुनकर राजाने कहा कि यदि सत्यघोषके चोरीकी संभावना है तो तुम परीक्षा करो। आज्ञा पाकर रामदत्ताने एक दिन राजाकी सेवाके लिये आते हुए सत्यघोषको बुलाकर पूछा कि आज बहुत देरसे क्यों आये हैं? सत्यघोषने कहा कि आज मेरी ब्राह्मणीका भाई पाहुना बनकर आया था, उसे भोजन कराते हुए

वहुत देर लग गई। रानीने फिर कहा—अच्छा, यहाँ थोड़ी देर वैठो, मुझे बहुत शौक है। आज अक्षक्रीडा करें—जुआ खेलें। राजा भी वहीं आ गये और उन्होंने कह दिया कि ऐसा करो।

तदनन्तर जव जुआका खेल होने लगा तब रामदत्ता रानीने निपुणमति नामकी स्त्रीसे उसके कानमें लगकर कहा कि तुम 'सत्यघोष पुरोहित, रानीके पास बैठे हैं उन्होंने मुझे पागलके रत्न माँगनेके लिये भेजा है' ऐसा उसकी ब्राह्मणीके आगे कहकर वे रत्न माँगकर शीघ्र आओ। तदनन्तर निपुणमतिने जाकर वे रत्न माँगे, परन्तु ब्राह्मणीने नहीं दिये, क्योंकि सत्यघोषने उसे पहले ही मना कर रक्खा था कि किसीके माँगनेपर रत्न नहीं देना। निपुणमतिने आकर रानीके कानमें कहा कि वह नहीं देती है। तदनन्तर रानीने पुरोहितकी अँगूठी जीत ली, उसे पहिचानके रूपमें देकर निपुणमतिको फिरसे भेजा, परन्तु उसने फिर भी नहीं दिये। अबकी बार रानीने पुरोहितका कैंची सहित जनेऊ जीत लिया। निपुणमतिने उसे पहिचानके रूपमें दिया और दिखाया। उसे देखकर ब्राह्मणी आश्वस्त हुई तथा 'नहीं देती हूँ तो पुरोहित कुपित होंगे,' इस तरह भयभीत भी हुई, अतः उसने वे मणि निपुणमतिको दे दिये और निपुणमतिने रामदत्ताको सौंप दिये। रामदत्ताने राजाको दिखाये। राजाने उन रत्नोंको वहुतसे रत्नोंमें मिलाकर उस पागलसे कहा कि अपने रत्न पहिचान कर उठा ले। उसने उसी प्रकार जब अपने रत्न उठा लिये तब राजा और रानीने उसे वणिक्पुत्र—सेठ स्वीकृत किया अर्थात् यह मान लिया कि यह पागल नहीं है किन्तु वणिक्पुत्र है।

तदनन्तर राजाने सत्यघोषसे पूछा कि तुमने यह कार्य किया है? उसने कहा कि देव! मैं यह काम नहीं करता हूँ। मुझे ऐसा करना क्या युक्त है? तदनन्तर अत्यन्त कुपित हुए राजाने उसके लिये तीन दण्ड निर्धारित किये—१ तीन थाली गोबर खाओ, २ पहलवानोंके तीन मुक्के खाओ अथवा ३ समस्त धन देओ। उसने विचारकर पहले गोबर खाना प्रारम्भ किया, पर जव गोवर खानेमें असमर्थ रहा, तब पहलवानोंके मुक्के सहन करना शुरू किया, पर जव उसमें भी असमर्थ रहा तब सव धन देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार तीनों दण्डोंको भोगकर वह मरा और तीव्रलोभके कारण राजाके खजानेमें अगंधन जातिका साँप हुआ। वहाँ भी मरकर दीर्घ संसारी हुआ। इस प्रकार द्वितीय अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

तापस चोरीसे वहुत दुःखको प्राप्त हुआ, इसकी कथा इस प्रकार है।

तापसकी कथा

वत्सदेशकी कौशाम्बी नगरीमें राजा सिंहरथ रहता था। उसकी रानीका नाम विजया था। वहाँ एक चोर कपटसे तापस होकर रहता था। वह दूसरेकी भूमिका स्पर्श न करता हुआ लटकते हुए सींकेपर बैठकर दिनमें पञ्चाग्नि तप करता था और रात्रिमें कौशाम्बी नगरीको लूटता था। एक समय 'नगर लुट गया है' इस तरह महाजनसे सुनकर राजाने कोट्टपालसे कहा—रे कोट्टपाल ! सात रात्रिके भीतर चोर लाओ या अपना शिर लाओ। तदनन्तर चोरको न पाता हुआ कोट्टपाल चिन्तामें निमग्न हो अपराह्णकालमें बैठा था कि किसी भूखे ब्राह्मणने आकर उससे भोजन माँगा। कोट्टपालने कहा—हे ब्राह्मण ! तुम अभिप्रायको नहीं जानते। मुझे तो प्राणोंका संदेह हो रहा है और तुम भोजन माँग रहे हो। यह वचन सुनकर ब्राह्मणने पूछा कि तुम्हें प्राणोंका सन्देह किस कारण हो रहा है ? कोट्टपालने कारण कहा। उसे सुनकर ब्राह्मणने फिर पूछा यहाँ क्या कोई अत्यन्त निःस्पृह वृत्तिवाला पुरुष रहता है ? कोट्टपालने कहा कि विशिष्ट तपस्वी रहता है, परन्तु उसका यह कार्य संभव नहीं है। ब्राह्मणने कहा कि वही चोर होगा, क्योंकि वह अत्यन्त निःस्पृह है। इस विषयमें मेरी कहानी सुनिये—

(१) मेरी ब्राह्मणी अपने आपको महासती कहती है और 'मैं पर पुरुषके शरीरका स्पर्श नहीं करती', यह कहकर तीव्र कपटसे समस्त शरीरको कपड़ेसे आच्छादित कर अपने पुत्रको स्तन देती है—दूध पिलाती है। परन्तु रात्रिमें गृहके वरेदीके साथ कुकर्म करती है।

(२) यह देख मुझे वैराग्य उत्पन्न हो गया और मैं मार्गमें हितकारी भोजनके लिये सुवर्णशलाकाको बाँसकी लाठीके बीच रखकर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़ा। आगे चलनेपर मुझे एक ब्रह्मचारी बालक मिल गया—वह हमारे साथ हो गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था, इसलिये उस लाठीकी बड़े यत्नसे रक्षा करता था। उस बालकने ताड़ लिया—समझ लिया कि यह लाठी सगर्भा है—इसके भीतर कुछ धन है। एक दिन वह बालक रात्रिमें कुम्भकारके घर सोया। प्रातः वहाँसे चलकर जब दूर आ गया तब मस्तकमें लगे हुए सड़े तृणको देखकर कपटवश उसने मेरे आगे कहा कि हाय हाय मैं दूसरेके तृणको ले आया। ऐसा कहकर वह लौटा और उस तृणको उसी कुम्भकारके घर पर डालकर सायंकालके समय तब हमसे मिला जब कि मैं भोजन कर चुका था। वह बालक जब भिक्षाके लिये जाने लगा तब मैंने

सोचा कि यह तो बहुत पवित्र है, इस तरह उसका विश्वास कर कुत्ते आदिको भगानेके लिये मैंने वह लाठी उसके लिये दे दी। उसे लेकर वह चला गया।

(३) तदनन्तर महाअटवीमें जाते हुए मैंने एक वृद्धपक्षीका बड़ा कपट देखा। एक बड़े वृक्षपर रात्रिके समय बहुत पक्षियोंका समूह एकत्रित हुआ। उसमें अत्यन्त वृद्धपक्षीने रात्रिके समय अपनी भाषामें दूसरे पक्षियोंसे कहा कि हे पुत्रो ! अब मैं अधिक चल नहीं सकता। कदाचित् भूखसे पीड़ित होकर आप लोगोंके पुत्रोंका भक्षण करने लगूँ, इसलिये प्रातःकाल आप लोग हमारे मुखको बाँधकर जाइये। पक्षियोंने कहा कि हाय पिताजी ! आप तो हमारे बाबा हैं, आपमें इसकी संभावना कैसे की जा सकती है ? वृद्धपक्षीने कहा कि **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'** भूखा प्राणी क्या पाप नहीं करता ?'। इस तरह प्रातःकाल सब पक्षी उस वृद्धके कहनेसे उसके मुखको बाँधकर चले गये। वह बँधा हुआ वृद्ध पक्षी, सब पक्षियोंके चले जानेपर अपने पैरोंसे मुखका बन्धन दूर कर उन पक्षियोंके बच्चोंको खा गया और जब उनके आनेका समय हुआ तब फिरसे पैरोंके द्वारा मुखमें बन्धन डालकर कपटसे क्षीणोदर होकर पड़ रहा।

(४) तदनन्तर मैं एक नगरमें पहुँचा। वहाँ मैंने चौथा कपट देखा। वह इस प्रकार कि उस नगरमें एक चोर तपस्वीका रूप रखकर तथा दोनों हाथोंसे मस्तकके उपर एक बड़ी शिलाको उठाकर दिनमें खड़ा रहता था और रात्रिमें 'हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ' इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे 'अपसर जीव' इस नामसे कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकान्त स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्णसे विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुषको उस शिलासे मार डालता और उसका धन ले लेता था। इन चार तीव्र कपटोंको देखकर मैंने यह श्लोक बनाया था—

अबालेति—पुत्रका स्पर्श न करनेवाली स्त्री, तृणका घात न करने वाला ब्राह्मण, वनमें काष्ठमुख पक्षी और नगरमें अपसर जीवक ये चार महा-कपट मैंने देखे हैं।

ऐसा कहकर तथा कोट्टपालको धीरज बँधाकर वह ब्राह्मण सींकेमें रहने वाले तपस्वीके पास गया। तपस्वीके सेवकोंने उसे वहाँसे निकालना भी चाहा, परन्तु वह रात्र्यन्ध बनकर वहीं पड़ रहा और एक कोनेमें बैठ गया। तपस्वीके उन सेवकोंने 'यह सचमुच ही रात्र्यन्ध है या नहीं' इसकी परीक्षा

करनेके लिये तृणकी काड़ी तथा अंगुली आदिक उसके नेत्रोंके पास चलायो, परन्तु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब बड़ी रात्रि हो गई तब उसने गुहारूप अन्धकूपमें रखे जाते हुए नगरके धनको देखा और उन लोगोंके खान पान आदिको देखा। प्रातःकाल उसने जो कुछ रात्रिमें देखा था उसे कहकर राजाके द्वारा मारे जानेवाले कोट्टपालको रक्षा की। सींकेमें वैठने वाला वह तपस्वी उस कोट्टपालके द्वारा पकड़ा गया और बहुत भारी यातनाओंसे दुःखी होता हुआ मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुआ। इस प्रकार तृतीय अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

अब्रह्म—कुशील सेवनसे निवृत्ति न होनेके कारण यमदण्ड कोतवालने दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

यमदण्ड कोतवालकी कथा

आहीर देशके नासिक्य नगरमें राजा कनकरथ रहते थे। उनकी रानीका नाम कनकमाला था। उनका एक यमदण्ड नामका कोतवाल था। उसकी माता अत्यन्त सुन्दरी थी। वह यौवन अवस्थामें ही विधवा हो गई थी तथा व्यभिचारिणी वन गई थी। एक दिन उसकी पुत्रवधूने रखनेके लिये आभूषण दिया। उस आभूषणको पहिनकर वह रात्रिमें अपने पहलेसे संकेतित जारके पास जा रही थी। यमदण्डने उसे देखा और एकान्तमें उसका सेवन किया। यमदंडने उसका आभूषण लाकर अपनी स्त्रीको दिया। स्त्रीने देखकर कहा कि यह आभूषण तो मेरा है, मैंने रखनेके लिये सासके हाथमें दिया था। स्त्रीके वचन सुनकर यमदण्ड कोतवालने विचार किया कि मैंने जिसके साथ उपभोग किया है वह मेरी माता होगी। तदनन्तर यमदण्ड, माताके जारके संकेतगृह (मिलनेके स्थान) पर जाकर उसका पुनः सेवन किया और उसमें आसक्त होकर गूढरीतिसे उसके साथ कुकर्म करने लगा।

एक दिन उसकी स्त्रीको जव यह सहन नहीं हुआ तव उसने अत्यन्त कुपित होकर धोविनसे कहा कि हमारा पति अपनी माताके साथ रमता है। धोविनने मालिनसे कहा और मालिन कनकमाला रानीकी अत्यन्त विश्वासपात्र थी, वह उसके निमित्त फूल लेकर गई। रानीने कुतूहल वश उससे पूछा कि कोई अपूर्व वात जानती हो? मालिन कोतवालसे द्वेष रखती थी, अतः उसने रानीसे कह दिया कि देवि! यमदण्ड कोतवाल अपनी माताके साथ रमण करता है। कनकमालाने यह समाचार राजासे कहा और राजाने गुप्तचरके द्वारा

उसके कुकर्मका निश्चय कर कोतवालको पकड़वाया। दण्डित होनेपर वह दुर्गतिको प्राप्त हुआ। इस प्रकार चतुर्थ अव्रतकी कथा पूर्ण हुई।

परिग्रहपापसे निवृत्ति न होनेके कारण श्मश्रुनवनीतने बहुत दुःख प्राप्त किया। इसकी कथा इस प्रकार है—

श्मश्रुनवनीतकी कथा

अयोध्यानगरीमें भवदत्त नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनदत्ता था और पुत्रका नाम लुब्धदत्त था। एक बार वह लुब्धदत्त व्यापारके निमित्त दूर गया। वहाँ उसने जो धन कमाया था वह सब चोरोंने चुरा लिया। तदनन्तर अत्यन्त निर्धन होकर वह किसी मार्गसे आ रहा था। वहाँ उसने किसी समय एक गोपालसे पीनेके लिये छाछ मांगी। छाछ पी चुकनेपर उसका कुछ मक्खन मूछोंमें लग गया। उसे देख उसने वह मक्खन यह विचार कर निकाल लिया कि इससे व्यापार होगा। इस तरह वह प्रतिदिन मक्खनका संचय करने लगा, जिससे उसका श्मश्रुनवनीत यह नाम प्रचलित हो गया।

इस प्रकार जब उसके पास एक प्रस्थप्रमाण घी हो गया तब वह घीके वर्तनको अपने पैरोंके समीप रखकर तथा शीतकाल होनेसे झोपड़ीके द्वारपर पैरोंके समीप अग्नि रखकर विस्तरपर पड़ गया। वह विस्तरपर पड़ा-पड़ा विचार करता है कि इस घीसे बहुत धन कमाकर मैं सेठ हो जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामन्त, महासामन्त, राजा और अधिराजाका पद प्राप्तकर क्रमसे सबका चक्रवर्ती बन जाउँगा। उस समय मैं सात खण्डके महलमें शय्यातलपर पड़ा होऊँगा। चरणोंके समीप बैठी हुई सुन्दर स्त्री मुट्ठीसे मेरे पैर दाबेगी। और मैं स्नेहवश उससे कहूँगा कि तुझे पैर दावना भी नहीं आता। ऐसा कहकर मैं पैरसे उसे ताड़ित करूँगा। ऐसा विचारकर उसने अपने आपको सचमुच ही चक्रवर्ती समझ लिया और पैरसे ताड़ितकर घीका वर्तन गिरा दिया। उस घीसे द्वारपर रखी हुई अग्नि बहुत जोरसे प्रज्वलित हो गई। द्वार जलने लगा, जिससे इच्छाओंके परिमाणसे रहित वह निकलनेमें असमर्थ हो वहीं जलकर मर गया और दुर्गतिको प्राप्त हुआ। इस प्रकार पञ्चम अव्रतकी कथा पूर्ण हुई॥ १९॥ ६५॥

यानि चेतानि पंचाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां [१]श्रमणोत्तमाः ॥२०॥

'गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहुः' । के ते ? श्रमणोत्तमा जिनाः । किं तत् ? 'अणुव्रत-पंचकं' । कैः सह ? 'मद्यमांसमधुत्यागैः' मद्यं च मांसं च मधु च तेषां त्यागास्तैः ॥२०॥

आगे जो यह पाँच अणुव्रत कहे गये हैं वही मद्यादि तीनके त्यागके साथ मिलकर आठ मूलगुण होते हैं, यह कहते हैं—

मद्येति—(**श्रमणोत्तमाः**) मुनियोंमें उत्तम गणधरादिक देव (**मद्यमांस-मधुत्यागैः**) मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्यागके साथ (**अणुव्रतपञ्चकम्**) पाँच अणुव्रतोंको (**गृहिणाम्**)गृहस्थोंके (**अष्टौ**) आठ (**मूलगुणान्**) मूल गुण (**आहुः**) कहते हैं ।

टीकार्थ—श्रमण, श्रवण अथवा शमन ये सब मुनियोंके नाम है । इनमें जो उत्ताम गणधरादिक देव हैं वे श्रमणोत्ताम कहलाते हैं । उन्होंने गृहस्थोंके आठ मूलगुण इस प्रकार बतलाये हैं—१. मद्यत्याग २. मांसत्याग ३. मधुत्याग ४. अहिंसाणुव्रत ५. सत्याणुव्रत ६. अचौर्याणुव्रत ७. ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ।

विशेषार्थ—मूलगुण मुख्य गुणोंको कहते हैं । जिसप्रकार मूल—जड़के विना वृक्ष नहीं ठहरते, उसी प्रकार मूलगुणोंके विना मुनि और श्रावकके व्रत नहीं ठहरते । इस तरह मूलगुणका वाच्यार्थ अनिवार्य आवश्यक गुण है । मुनियोंके २८ मूलगुण होते हैं और श्रावकोंके ८ । श्रावकोंके आठ मूलगुणोंका उल्लेख कई प्रकारका मिलता है । सबसे पहला उल्लेख ग्रन्थकार समन्तभद्रस्वामीका है जिसमें उन्होंने मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग और अहिंसा आदि पांच अणुव्रतोंको सम्मिलित किया है । उनका अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि मुनियोंके २८ मूलगुणोंमें पाँच महाव्रत सम्मिलित हैं तो गृहस्थोंके आठ मूलगुणोंमें पाँच अणु-व्रतोंको स्थान दिया है । मद्यत्याग आदि यद्यपि अहिंसाणुव्रतके अन्तर्गत हो जाते हैं तथापि विशेषता वतलानेके लिये उनका पृथक्से उल्लेख किया है । आगे चलकर जिनसेनस्वामीने मधुत्यागको मांसत्यागमें गर्भित कर उसके स्थान-पर द्यूतत्यागका उल्लेख किया है । जिनसेनके परवर्ती आचार्योंने और भी सर-लता करते हुए पांच अणुव्रतोंके स्थानपर पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागका समावेश

१. श्रवणोत्तमाः घ ।

किया है। इनके सिवाय पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें एक मतका और भी उल्लेख किया है जिसके आधारपर निम्नलिखित आठ मूलगुण माने जाते हैं—

१. मद्यत्याग, २. मांसत्याग, ३. मधुत्याग, ४. रात्रिभोजनत्याग, ५. पञ्चफलीत्याग, ६. आप्तनुति—देवदर्शन, ७. जीवदया और ८. जलगालन। गृहस्थाचारकी रक्षाके लिये इन आठ गुणोंका पालन करना उचित है। आठ मूलगुणोंका पालन करनेवाला ही जैन धर्मकी देशनाका पात्र होता है। यही नहीं, गृहस्थकी संज्ञा भी इस मनुष्यको तभी प्राप्त होती है जब वह आठ मूलगुणोंका पालन करता है[1] ॥ २० ॥ ६६ ॥

---

१. भवन्ति चात्र श्लोकाः—

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥ —जिनसेनस्य

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ —सोमदेवस्य यशस्तिलके

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥ —अमृतचन्द्रस्य पुरुपार्थसि०

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥ —पुरु० अमृतचन्द्रस्य

तत्रादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्चक्षीरिफलानि च ॥ २ ॥ —सागार० अध्याय २

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥ ३ ॥ —सा० ध० अध्याय २

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती ।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ —सा० ध० आशधरस्य

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ —रत्नमालायां शिवकोटेः

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे ॥ ७२३ ॥ —पञ्चाध्यायीउत्तरार्धे

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥ ,,

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥ ७२५ ॥ ,,

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ ७२६ ॥ ,,

एवं पंचप्रकारमणुव्रतं प्रतिपाद्येदानीं त्रिप्रकारं गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥ २१ ॥

'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति। कानि? 'गुणव्रतानि'। के ते? 'आर्याः' गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थंकरदेवादयः। किं तद्गुणव्रतं? 'दिग्व्रतं' दिग्विरतिं। न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थदण्डव्रतं' चानर्थदण्डविरतिं। तथा 'भोगोपभोगपरिमाणं' सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्रा[1]भरणयानशयनादिस्तयोः परिमाणं कालनियमेन यावज्जीवनं वा। एतानि त्रीणि कस्माद्गुणवतान्युच्यन्ते? 'अनुबृंहणात्' वृद्धिं नयनात्। केषां? 'गुणानाम्' अष्टमूलगुणानाम् ॥ २१ ॥

इस तरह पाँच प्रकारके अणुव्रतोंका वर्णन कर अब तीन प्रकारके गुणव्रतोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

दिग्व्रतमिति—(**आर्याः**) तीर्थंकरदेव आदि उत्तम पुरुष, (**गुणानां**) आठ मूलगुणोंकी (**अनुबृंहणात्**) वृद्धि करनेके कारण (**दिग्व्रतं**) दिग्व्रत (**अनर्थदण्डव्रतं**) अनर्थदण्डव्रत (**च**) और (**भोगोपभोगपरिमाणं**) भोगोपभोगपरिमाणव्रतको (**गुणव्रतानि**) गुणव्रत (**आख्यान्ति**) कहते हैं।

टीकार्थ—'गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्याः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो गुणों अथवा गुणवान् मनुष्योंके द्वारा प्राप्त किये जावें उन्हें आर्य कहते हैं। ऐसे आर्य तीर्थंकरदेव, गणधर, प्रतिगणधर तथा अन्य आचार्य कहलाते हैं। **'गुणाय व्रतं गुणव्रतम्'** गुणके लिये जो व्रत हैं उन्हें गुणव्रत कहते है। उपरितन श्लोकमें कहे गये आठ मूलगुणोंकी वृद्धिमें सहायक होनेसे दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीनको आर्यपुरुषोंने गुणव्रतोंमें परिगणित किया है। दशों दिशाओंमें आने-जानेकी सीमा निर्धारित करना दिग्व्रत है। मन, वचन, कायके निष्प्रयोजन व्यापारके परित्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं और भोग तथा उपभोगकी वस्तुओंका समयका नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्तके लिये परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। जो वस्तु एकवार भोगनेमें आती हैं उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन,

---

१. स्त्रीजनोपसेवनादि ख जंफनादि घ।

पेयपदार्थ तथा गन्धमाला आदि। और जो बार-बार भोगनेमें आवे उसे उपभोग कहते हैं; जैसे वस्त्र, आभूषण, यान-वाहन, शयन-शय्या आदि। इनका परिमाण कालका नियम लेकर अथवा जीवनपर्यन्तके लिये--दोनों प्रकारसे होता है।

विशेषार्थ—खेतकी रक्षाके लिये वाड़ीका जो स्थान है वही स्थान अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये तीन गुणव्रतोंका है। यातायातकी सीमा निर्धारित होनेसे, निष्प्रयोजन कार्योंका परित्याग करनेसे तथा भोग-उपभोगकी सीमाको निश्चित करनेसे यह जीव अपने अहिंसादि अणुव्रतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये आचार्योंने इन तीनों कार्योंको गुणव्रतमें शामिल किया है। भोग और उपभोगकी जो परिभाषा समन्तभद्रस्वामीको अभीष्ट है उसके अनुसार संस्कृत-टीकाकारने उनका स्पष्टीकरण किया है। परन्तु साथमें यह भी ज्ञातव्य है कि उमास्वामी महाराजने भोगोपभोगपरिमाणके बदले उपभोग-परिभोगपरिमाणशब्दका प्रयोग किया है। उनके अभिप्रायानुसार उपभोगका अर्थ है जो एकबार भोगनेमें आवे और परिभोगका अर्थ है जो बार-बार भोगनेमें आवे। समन्तभद्रस्वामीका उपभोग और उमास्वामीका परिभोग एकार्थक है और समन्तभद्रस्वामीका भोग और उमास्वामीका उपभोग एकार्थक है। उमास्वामीने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीनको गुणव्रत माना है और समन्तभद्रस्वामीने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रतको गुणव्रत माना है। यहाँ समन्तभद्रस्वामीका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि भोगोपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करनेसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रतकी वृद्धि होती है—रक्षा होती है, इसलिये इसे गुणव्रतमें सम्मिलित करना चाहिये। शिक्षाव्रतोंकी नामगणनामें भी दोनों आचार्योंमें मतभेद है। उसका उल्लेख शिक्षाव्रतके प्रकरणमें किया जावेगा ॥२१॥ ६७ ॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥२२॥

'दिग्व्रतं' भवति। कोऽसौ ? 'संकल्पः'। कथंभूतः ? 'अतोऽहं बहिर्न यास्यामी'-त्येवंरूपः। किं कृत्वा ? 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वा' समर्यादं कृत्वा। कथं ? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत्। किमर्थं ? 'अणुपापविनिवृत्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥ २२ ॥

आगे दिग्व्रतका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

दिग्वलयमिति—(**आमृति**) मरणपर्यन्त (**अणुपापविनिवृत्त्यै**) सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिये (**दिग्वलयं**) दिशाओंके समूहको (**परिगणितं**) मर्यादा सहित (**कृत्वा**) करके (**अहं**) मैं (**अतः**) इससे (**बहिः**) बाहर (**न यास्यामि**) नहीं जाऊँगा (**इति संकल्पः**) ऐसा संकल्प करना (**दिग्व्रतम्**) दिग्व्रत [**भवति**] होता है।

टीकार्थ—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्व और अधः इस प्रकार दश दिशाएं होती हैं। इन सबके समूहका नाम दिग्वलय है। इन दशों दिशाओंकी सीमा निश्चित कर ऐसा संकल्प करना कि मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा, दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत मरणपर्यन्तके लिये धारण किया जाता है अर्थात् इसमें देशावकाशिक व्रतके समान घड़ी, घंटा आदि समयकी सीमा नहीं रहती। दिग्व्रतका प्रयोजन सूक्ष्म पापोंकी निवृत्ति करना है। मर्यादाके भीतर स्थूलपापोंसे निवृत्ति रहती है परन्तु मर्यादाके बाहर यातायात सर्वथा बन्द हो जानेसे वहाँ सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—परिग्रह स्वयंमें एक बड़ा पाप हैं। उसीकी पूर्तिके लिये यह मनुष्य जीवोंकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, स्त्रीमें आसक्ति रखता है तथा सर्वत्र यातायात करता है। जिसने परिग्रहसम्बन्धी अनन्त इच्छाओंका दमन कर लिया उसने अन्य अनेक पापोंसे अपने आपकी रक्षा स्वयं कर ली, ऐसा समझना चाहिये। दिग्व्रतमें जो यातायातकी सीमा निश्चित की जाती है वह उसी परिग्रहसम्बन्धी अनन्त इच्छाओंके दमन करनेका एक प्रयास है। इस प्रकार दिग्व्रतका मुख्य उद्देश्य आरम्भ और लोभको कम करनेका है, अतः दिग्व्रतमें तीर्थक्षेत्रोंका यातायात सम्मिलित नहीं। तीर्थयात्रा या तीर्थंकर भगवान्‌की दिव्यध्वनि आदि सुननेके लिये मर्यादाके बाहर भी जाया जा सकता है ॥ २२ ॥ ६८

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याह—

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ २३ ॥

'प्राहुर्मर्यादाः'। कानीत्याह—'मकराकरे'त्यादि—मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दंडकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो वराट[1]-वापीतटादिः, 'योजनानि' विंशतित्रिंशदादिसंख्यानि। किंविशिष्टान्येतानि ?

१. वरतटादिः घ ।

'प्रसिद्धानि' दिग्विरतिमर्यादानां दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि। कासां मर्यादाः ? 'दिशां'। कतिसंख्यावच्छिन्नानां 'दशानां'। कस्मिन् कर्त्तव्ये सति मर्यादाः ? 'प्रतिसंहारे' इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ ॥ २३ ॥

आगे दिग्वलयका परिगणन करनेके लिये मर्यादा किस प्रकार ली जाती है, यह कहते हैं—

मकराकरेति—(**दशानां दिशाम्**) दशों दिशाओंके (**प्रतिसंहारे**) परिगणित करनेमें (**प्रसिद्धानि**) प्रसिद्ध (**मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि**) समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, देश और योजनको (**मर्यादा**) मर्यादा (**प्राहुः**) कहते हैं।

टीकार्थ—मकराकर समुद्रको कहते हैं, सरित् गंगा, सिन्धु आदि नदियोंको कहते हैं, अटवीका अर्थ दण्डकवन आदि सघन जंगल है, गिरिका अर्थ सह्य, विन्ध्य आदि पर्वत है। जनपदका अर्थ वराट, वापीतट आदि देश है और योजन का अर्थ बीस योजन, तीस योजन आदि है। लोकव्यवहारमें चार कोशका एक योजन लिया जाता है। व्रत देनेवाले और व्रत लेने वालेको जिनका परिचय प्राप्त है उन्हें प्रसिद्ध कहते हैं। पूर्वादि दशों दिशाओं सम्बन्धी सीमा निश्चित करनेके लिये समुद्र, नदी, जंगल, देश अथवा योजनके खम्भों आदिको मर्यादा रूपसे स्वीकृत किया जाता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रतका धारक पुरुष ऐसा नियम करता है कि मैं अमुक दिशामें अमुक समुद्र तक, या अमुक नदी तक, या अमुक जंगल तक, या अमुक देश तक, या इतने योजन तक यातायात करूँगा, बाहर नहीं। ऐसा करनेसे उसकी इच्छाएँ अर्थात् परिग्रहसम्बन्धी अनन्त लालसाएँ अपने आप सीमित हो जाती हैं और जहाँ परिग्रहसम्बन्धी इच्छाएँ कम हुईं वहीं हिंसादि पाप स्वयमेव कम हो जाते हैं। इसलिये दिग्वलयकी सीमा प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये ॥ २३॥ ६९ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयतां मर्यादातः परतः किं भवतीत्याह—

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ २४ ॥

'अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते'। कां ? 'पंचमहाव्रतपरिणतिं'। केषां ? 'धारयतां'। कानि ? 'दिग्व्रतानि'। कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? 'अणुपापप्रतिविरतेः' सूक्ष्ममपि पापं प्रतिविरतेः व्यावृत्तेः। क्व ? 'बहिः'। कस्मात् ? 'अवधेः' कृतमर्यादायाः ॥ २४ ॥

इस प्रकार दिग्विरतिव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोंके मर्यादाके बाहर क्या होता है, यह कहते हैं—

अवधेरिति—(**दिग्व्रतानि**) दिग्व्रतोंको (**धारयताम्**) धारण करनेवाले पुरुषोंके (**अणुव्रतानि**) अणुव्रत (**अवधेः**) की हुई मर्यादाके (**बहिः**) बाहर (**अणुपापप्रतिविरतेः**) सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति हो जानेसे (**पञ्चमहाव्रतपरिणतिं**) पांचमहाव्रतरूप परिणतिको (**प्रपद्यन्ते**) प्राप्त होते हैं।

टीकार्थ—जो मनुष्य दशों दिशाओंमें आने-जानेकी मर्यादाकर दिग्व्रतोंको धारण करते हैं उनके मर्यादाके बाहर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं, इसलिये उनके अणुव्रत महाव्रत जैसी अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

विशेषार्थ—अणुव्रत धारण करनेवाले जीवोंका मर्यादाके भीतर गमनागमन जारी रहता है, इसलिए हिंसादि पापोंका स्थूलरूपसे ही त्याग हो पाता है। परन्तु मर्यादाके बाहर गमनागमन बिलकुल ही छूट जाता है, इसलिए मर्यादाके बाह्य क्षेत्रमें उनके अणुव्रत महाव्रतपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥ ७० ॥

तथा तेषां तत्परिणतावपरमपि हेतुमाहः—

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ २५ ॥

'चरणमोहपरिणामा' भावरूपाश्चारित्रमोहपरिणतयः। 'कल्प्यन्ते' उपचर्यन्ते। किमर्थं? महाव्रतनिमित्तं। कथंभूताः सन्तः? 'सत्वेन' 'दुरवधारा' अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणाः सन्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यन्त इत्यर्थः। कुतस्ते दुरवधाराः? 'मन्दतरा' अतिशयेनानुत्कटाः। मन्दतरत्वमप्येषां कुतः? 'प्रत्याख्यानतनुत्वात्'। प्रत्याख्यानशब्देन हि प्रत्याख्यानावरणाः द्रव्यक्रोधमानमायालोभा गृह्यन्ते। नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम्न्यपि वर्तन्ते भीमादिवत्। प्रत्याख्यानं हि सविकल्पेन हिंसादिविरतिलक्षणः संयमस्तदावृण्वन्ति ये ते प्रत्याख्यानावरणा द्रव्यक्रोधादयः, यदुदये ह्यात्मा कात्स्न्यात्तद्विरतिं कर्तुं न शक्नोति, अतो द्रव्यरूपाणां क्रोधादीनां तनुत्वान्मन्दोदयत्वाद्भावरूपाणामेषां मन्दतरत्वं सिद्धं।

आगे उनके अणुव्रतोंकी महाव्रतरूप परिणतिमें और भी कारण कहते हैं—

प्रत्याख्यानेति—(**प्रत्याख्यानतनुत्वात्**) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका मन्द उदय होनेसे (**मन्दतराः**) अत्यन्त मन्द अवस्थाको प्राप्त हुए, यहाँ तक कि (**सत्त्वेन दुरवधाराः**) जिनके अस्तित्वका निर्धार करना भी कठिन

है ऐसे (**चरणमोहपरिणामा**) चारित्रमोहके परिणाम (**महाव्रताय**) महाव्रतके व्यवहारके लिये (**प्रकल्प्यन्ते**) उपचरित होते हैं—कल्पना किये जाते हैं।

टीकार्थ—'**नामकैदेशेन सर्वदेशो गृह्यते**'—नामके एकदेशसे सर्वदेशका ग्रहण होता है' इस नियमसे जिस प्रकार भीमपदसे भीमसेनका बोध होता है उसी प्रकार यहाँ प्रत्याख्यानशब्दसे प्रत्याख्यानावरण द्रव्यक्रोध, मान, माया, लोभका ग्रहण होता है, क्योंकि प्रत्याख्यान शब्दका अर्थ विकल्पपूर्वक हिंसादि पापोंका त्यागरूप संयम होता है। उस संयमको जो आवृत करते हैं अर्थात् जिनके उदयसे यह जीव हिंसादिपापोंका पूर्ण त्याग करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाता है वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। यह द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पौद्गलिककर्मप्रवृत्तिको द्रव्यप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं और उनके उदयसे आत्मामें जो हिंसादिपापोंके त्याग न करने रूप भाव होते हैं उन्हें भावप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। जब गृहस्थके इन प्रकृतियोंका इतना मन्द उदय हो जाता है कि चारित्रमोहके परिणामोंका अस्तित्व भी बड़ी कठिनाईसे समझा जाता है तब उनके उपचारसे महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है। दिग्व्रतके धारक जीवके मर्यादाके बाहरके क्षेत्रमें हिंसादिपापोंकी स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उनके अणुव्रत उपचारसे महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं परमार्थसे नहीं। परमार्थसे व्यवहार तभी हो सकता है जब उनके प्रत्याख्यानावरण कषायका मन्द उदय भी दूर हो जावे।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें दर्शनमोहनीय आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घात करता है और चारित्रमोहनीय चारित्रगुणका घात करता है। चारित्रमोहनीयकर्मके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीयकी अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें कषायवेदनीयके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभके भेदसे ४×४=१६ भेद होते हैं। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेदकी अपेक्षा अकषायवेदनीयके नौ भेद हैं[1]।

---

१. सम्मत्त-देश-सयलचरित्त-जहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति का कसाया चउ-सोल-असंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥ —जीवकाण्ड
पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसा वि ॥ ४५ ॥ —कर्मकाण्ड

अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ आत्माके सम्यक्त्वगुणको घातते हैं। यद्यपि ये चारित्रमोहकी प्रकृतियां हैं तथापि इनका उदय रहते हुए सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं हो पाता, इसलिये इन्हें आगममें सम्यग्दर्शनका घातक कहा गया है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ एकदेशचारित्रको घातते हैं अर्थात् इनका उदय रहते हुए श्रावकके व्रतरूप देशचारित्र प्रकट नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ सकलचारित्रको घातते हैं अर्थात् इनका उदय रहते हुए मुनिके व्रतरूप सकलचारित्र प्रकट नहीं हो सकता और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ यथाख्यातचारित्रको घातते हैं अर्थात् इनका उदय रहते हुए पूर्ण वीतरागतारूप यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं नहीं हो पाता। इन अनन्तानुवन्धी आदि चारों कपायोंकी तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतरके भेदसे चार-चार प्रकारकी अनुभागदशाएँ होती हैं। अनन्तानुवन्धी आदि प्रकृतियोंके तीव्रतर आदि अवस्थाओंका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अनन्तानुवन्धीके उदयसे सहित एक जीव निर्ग्रन्थ साधुका घात करनेके लिए प्रवृत्त होता है और एक स्वयं निर्ग्रन्थ साधु वन कर अट्ठाइस मूलगुणोंका पालन करता हुआ कोल्हूमें पेल देने पर भी संक्लेशका अनुभव नहीं करता। एक जीव अनन्तानुवन्धीके उदय कालमें सातवें नरककी तेतीस सागरकी आयुका वन्ध करता है और एक जीव अनन्तानुवन्धीके उदय कालमें नौवें ग्रैवेयकके अहमिन्द्रकी इकतीस सागरकी आयुका वन्ध करता है। यद्यपि अनन्तानुवन्धी आदि कपायोंके मन्दोदयके कालमें इस जीवकी अणुव्रत या महाव्रताचरणरूप परिणति हो जाती है परन्तु करणानुयोग उसे अणुव्रताचरण या महाव्रताचरण रूपसे स्वीकृत नहीं करता। वह तभी स्वीकृत करता है जव कि प्रतिपक्षी कपायका अनुदय हो जाता है। यहां प्रकरण यह है कि दिग्व्रतके धारक जीवके अणुव्रत मर्यादाके वाह्य क्षेत्रमें महाव्रत जैसी परिणतिको क्यों प्राप्त होते हैं? उत्तर यह दिया गया है कि प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका अत्यन्त मन्द उदय रहनेसे उसके उपचारसे महाव्रत जैसा व्यवहार होता है, परमार्थसे नहीं ॥२५॥७१॥

ननु कुतस्ते महाव्रताय कल्प्यन्ते न पुनः साक्षान्महाव्रतरूपा भवन्तीत्याहः—

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥ २६ ॥

'त्यागस्तु' पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः 'हिंसादीनां' 'पंचानां'। कथंभूतानां 'पापानां' पापोपार्जनहेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः 'मनोवचःकायैः'। तैरपि कैः

कृत्वा त्यागः ? 'कृतकारितानुमोदैः'। अयमर्थः—हिंसादीनां मनस्सा-कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रतं ? 'महतां' प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम् ॥ २६ ॥

आगे कोई प्रश्न करता है कि उसके वे चारित्रमोहके परिणाम उपचारसे महाव्रतके कारण क्यों हैं ? साक्षात् महाव्रतरूप क्यों नहीं होते ? इसका समाधान करते हुए महाव्रतका लक्षण कहते हैं—

पञ्चानामिति—(**हिंसादीनां**) हिंसा आदिक (**पञ्चानां**) पांच (**पापानां**) पापोंका (**मनोवचःकायैः**) मन, वचन काय [**तथा**] और (**कृतकारितानुमोदैः**) कृत, कारित, अनुमोदनासे (**त्यागः**) त्याग करना (**महतां**) प्रमत्तविरत-आदि गुणस्थानवर्ती महापुरुषोंका (**महाव्रतं**) महाव्रत (**भवति**) होता है।

टीकार्थ—पापबन्धमें कारणभूत हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापोंका कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय इन नौ कोटियोंसे त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता है, अन्यके नहीं।

विशेषार्थ—'**महच्च तत् व्रतञ्चेति महाव्रतम्**' इस विग्रहके अनुसार जो स्वयं महान् हैं—उत्कृष्ट हैं उन्हें महाव्रत कहते हैं। संसारके अधिकांश प्राणियोंकी प्रवृत्ति हिंसादि पांच पापोंमें हो रही है और उसके कारण वे पापकर्मोंका बन्धकर इसी संसारमें भ्रमण करते रहते हैं। कुछ ही प्राणी इन हिंसादि कार्योंको पाप समझकर उनका परित्याग करते हैं। त्याग करनेवाले पुरुषोंको आचार्योंने 'महान्' संज्ञा दी है तथा उनके इस कार्यको '**महाव्रत**' नाम दिया है। जो पाप स्वयं किया जाता है उसे **कृत** कहते हैं, जो दूसरोंसे कराया जाता है उसे कारित कहते हैं और किसीके करनेपर जिसकी प्रशंसा की जाती है उसे **अनुमोदित** कहते हैं। ये तीनों कार्य मनसे, वचनसे और कायसे होते हैं इसलिए सब मिलाकर ३ × ३ = ९ कोटियोंसे होते हैं। इन नौ कोटियोंसे हिंसादिक पापोंका परित्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत, १ अहिंसामहाव्रत २ सत्यमहाव्रत ३ अचौर्यमहाव्रत ४ ब्रह्मचर्यमहाव्रत और परिग्रहत्यागमहाव्रतके भेदसे पाँच प्रकारका होता है। इसका प्रारम्भ प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानसे ही होता है। इसके पूर्व पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवका व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसके पूर्ववर्ती चार गुणस्थानवर्ती जीव अव्रत कहलाते हैं। अर्थात् उनमें कोई व्रत नहीं होता। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका मन्द उदय होनेसे किन्ही जीवोंके अणुव्रतों और महाव्रतोंका आचरण होने लगता है, पर करणानुयोग उन्हें अणुव्रत और महाव्रत नहीं मानता ॥ २६ ॥ ७२ ॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह—

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥ २७ ॥

'दिग्विरतेरत्याशा' अतीचाराः 'पंच मन्यन्तेऽ'भ्युपगम्यन्ते । तथा हि । अज्ञानाद् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशस्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाता विशेषेणा[1]तिक्रमणानि त्रयः । तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं । तथाऽ'वधीनां' दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरण' मिति ॥ २७ ॥

अव दिग्विरतिव्रतके अतिचार कहते हैं—

ऊर्ध्वेति—(**ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः**) अज्ञान अथवा प्रमादसे ऊपर, नीचे और तिर्यक् अर्थात् समान धरातलकी सीमाका उल्लङ्घन करना (**क्षेत्र-वृद्धिः**) क्षेत्रका वढ़ा लेना और (**अवधीनां**) की हुई सीमाओंका (**विस्मरणं**) भूल जाना (**इति**) ये (**पञ्च**) पाँच (**दिग्विरतेः**) दिग्विरति व्रतके (**अत्याशाः**) अतिचार (**मन्यन्ते**) माने जाते हैं।

टीकार्थ—ऊपर पर्वत आदिपर चढ़ते समय, नीचे कुआँ, वावड़ी या खान आदिमें उतरते समय और तिर्यग् अर्थात् समान धरातलपर चलते समय प्रमाद अथवा अज्ञानके कारण सीमाका उल्लङ्घन करना, प्रमाद और अज्ञानसे किसी दिशाका क्षेत्र वढ़ा लेना और व्रत लेते समय दशों दिशाओंमें आने-जानेकी जो सीमायें निश्चित की थीं उन्हें भूल जाना ये पांच दिग्विरतिव्रतके अतिचार माने जाते हैं।

विशेषार्थ—जैसे किसीने नियम किया कि मैं दस हजार फुट तक ऊपर जाऊंगा, परन्तु किसी पर्वतपर चढ़ते समय या वायुयानसे यात्रा करते समय इस नियमका ध्यान नहीं रखा और की हुई मर्यादासे अधिक ऊँचाई तक चला गया, यह ऊर्ध्वव्यतिपात नामका अतिचार है। इसी तरह किसीने नियम किया कि मैं इतने फुट तक नीचे जाऊँगा, परन्तु कुआँ या खान आदिमें उतरते समय उस नियमका ध्यान नहीं रक्खा, यह अधस्ताद्व्यतिपात नामका अतिचार है। यही वात समान धरातलपर की हुई सीमाके विषयमें समझना चाहिए। क्षेत्रवृद्धिका अर्थ यह है कि जैसे किसीने चारों दिशाओंमें पचास-पचास कोश तक जानेका नियम किया, परन्तु नियम करनेके वाद पूर्व दिशामें ६० कोशकी दूरी पर अच्छा

१. विशेषातिक्रमणानि घ ।

कारखाना खुल गया वहाँसे माल लानेमें अधिक लाभ होने लगा और पश्चिम दिशामें ऐसा कोई कारखाना नहीं, अतः नियम लेनेवाला पूर्व दिशाकी सीमा ६० कोस कर लेता है और पश्चिम दिशाकी सीमा घटा कर ४० कोस कर लेता है। यहाँ क्षेत्रफलकी अपेक्षा तो प्रतिज्ञाका पालन हुआ परन्तु प्रतिज्ञा करनेका मूल उद्देश्य जो आरंभ और लोभको कम करनेका था उसका भङ्ग हो गया। अतः भंगाभंगकी अपेक्षा अतिचार माना गया है। सीमाके विस्मरणका अभिप्राय ऐसा है जैसे किसीने नियम लिया कि मैं अमुक दिशामें ४० कोश तक जाऊँगा, पीछे वह नियम भूल कर कहने लगा कि मैंने नियम ४० कोश तकका लिया था या ५० कोश तकका, ऐसी द्विविधाकी स्थितिमें ४० कोशसे आगे जानेमें यह अतिचार होता है। इसीको तत्त्वार्थसूत्रकारने स्मृत्यन्तराधान कहा है अर्थात् की हुई स्मृतिके बदले दूसरी स्मृतिका धारण करना ॥ २७ ॥ ७३ ॥

[1]इदानीमनर्थदण्डविरतिलक्षणं द्वितीयं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह—

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥ २८ ॥

'अनर्थदण्डव्रतं विदु'र्जानन्ति। के ते? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थकरदेवादयः। 'विरमणं' व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः। किंविशिष्टेभ्यः? 'अपार्थकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं? 'अभ्यन्तरं दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येवं तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य भेदः। तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणं अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणं।

अब अनर्थदण्डविरति नामक द्वितीय गुणव्रतका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं—

अभ्यन्तरमिति—(व्रतधराग्रण्यः) व्रतधारण करनेवाले मुनियोंमें प्रधान तीर्थंकरदेवादि (दिगवधेः) दिग्व्रतकी सीमाके भीतर (अपार्थकेभ्यः) प्रयोजन रहित (सपापयोगेभ्यः) पापसहित योगोंसे (विरमणं) निवृत्त होनेको (अनर्थदण्डव्रतं) अनर्थदण्डव्रत (विदुः) जानते हैं।

---

१. इदानीं द्वितीयमनर्थदण्डवतं इति ख।

टीकार्थ—व्रतधरका अर्थ पञ्चमहाव्रतोंको धारण करनेवाले मुनि होता है। उन मुनियोंमें जो अग्रणी—प्रधान हैं वे व्रतधराग्रणी कहलाते हैं। इस तरह मुनियोंमें प्रधान तीर्थंकरदेव आदिने अनर्थदण्डव्रतका लक्षण इस प्रकार कहा है कि दिग्विरतिव्रतकी मर्यादाके भीतर प्रयोजनरहित, पापपूर्ण मनवचनकायके व्यापाररूप योगोंसे निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रतमें मर्यादाके वाहर होनेवाले पापपूर्ण निरर्थककार्योंसे निवृत्ति होती है और अनर्थदण्डव्रतमें दिग्व्रतकी सीमाके भीतर होनेवाले पापपूर्ण निरर्थक कार्योंसे निवृत्ति होती है। यही इन दोनोंमें अन्तर है।

विशेषार्थ—**'अपगतः अर्थः प्रयोजनं येषां ते अपार्थकास्तेभ्यः'** इस समासके अनुसार जिनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है उन्हें अपार्थक या अनर्थ कहते हैं। **'योगप्रवृत्तिर्दण्डः'** योगोंकी प्रवृत्तिको दण्ड कहते हैं अर्थात् मनसे विचार करना, वचनसे उपदेश देना और शरीरसे कुछ कार्य करना दण्ड कहलाता है। यह दण्ड जब पापसे युक्त होता है तब अपराध कहलाता है। जैसे किसीके विपयमें खोटा चिन्तन करना, पापकर्मोंका उपदेश देना तथा प्रमादपूर्वक शरीरसे प्रवृत्ति करना आदि, जिन कार्योंसे अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है ऐसे कार्योंसे दूर रहना अनर्थदण्डव्रत नामका दूसरा गुणव्रत कहलाता है॥ २८॥ ७४॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमणं स्यादित्याह—

[1]पापोददेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्य्यामनर्थदण्डानदण्डधराः॥ २९॥

दंडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहुः। कान्? 'अनर्थदण्डान्'। कति? 'पंच'। कथमित्याह 'पापेत्यादि'। पापोपदेशश्च हिंसादानं च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पंचामी॥ २९॥

अब वे अनर्थदण्ड कौन हैं जिनसे निवृत हुआ जाता है, यह कहते हैं—

पापोपदेशेति—(**अदण्डधराः**) गणधरदेवादिक (**पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः**) पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और (**प्रमादचर्यां**) प्रमादचर्या इन (**पंच**) पांचको (**अनर्थदण्डान्**) अनर्थदण्ड (**प्राहुः**) कहते हैं।

---

१. अनर्थदण्डः पंचधाऽपध्यानपापोदेशप्रमादाचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात्॥

टीकार्थ—मन-वचन-कायके अशुभ व्यापारको दण्ड कहते हैं क्योंकि वे दण्ड—डंडेके समान दूसरोंको पीड़ा करते हैं। तथोक्त दण्डोंको न धारण करनेवाले गणधरदेव आदिने पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पाँचको अनर्थदण्ड कहा है। इनसे निवृत्त होना सो पाँच प्रकारका अनर्थ-दण्डव्रत है।

विशेषार्थ—पापका उपदेश देना और पापका उपदेश सुनना ये दोनों कार्य वचनयोगकी दुष्प्रवृत्तिरूप हैं। खोटा चिन्तन करना, यह मनोयोगकी दुष्प्रवृति है। और हिंसाके उपकरण दूसरोंको देना तथा प्रमादपूर्वक शरीरकी प्रवृत्ति करना, यह काययोगकी दुष्प्रवृत्ति है। इस प्रकार तीनों योगोंकी दुष्प्रवृत्तिरूप पाँच कार्य होते हैं—१. पापोपदेश २. हिंसादान ३. अपध्यान ४. दुःश्रुति और ५. प्रमादचर्या ये पाँच कार्य अनर्थदण्ड हैं। इनसे व्यर्थ ही पापकर्मका वन्ध होता रहता है, इसलिए व्रती मनुष्य इनसे निवृत्त होकर पाँच प्रकारके अनर्थदण्डव्रतको धारण करता है॥ २९ ॥ ७५ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

[1]तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
[2]कथाप्रसङ्गः प्रसवः स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥ ३० ॥

'स्मर्तव्यो' ज्ञातव्यः । कः ? 'पापोपदेशः' पापः पापोपार्जनहेतुरुपदेशः। कथंभूतः ? 'कथाप्रसंगः' कथानां तिर्यक्क्लेशादिवार्तानां प्रसंगः पुनः पुनः प्रवृत्तिः । किंविशिष्टः ? 'प्रसवः' प्रसूत इति प्रभवः उत्पादकः । केषामित्याह—'तिर्यगित्यादि', तिर्यक्क्लेशश्च हस्तिदमनादिः, वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा च प्राणिवधः, आरंभश्च कृष्यादिः, प्रलम्भनं च वंचनं तानि आदिर्येषां मनुष्यक्लेशादीनां तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ३० ॥

अव उन पाँच अनर्थदण्डोंमें सर्वप्रथम पापोपदेश अनर्थदण्डका स्वरूप वतलाते हुए कहते हैं—

---

१. क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारंभकादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः । तद्यथा-अस्मिन् देशे दासा दास्यः सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या । गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः । आरंभकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। २. प्रसवः कथाप्रसङ्गः घ ।

*तिर्यगिति—(तिर्य्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्) पशुओं-के क्लेश पहुंचानेवाली क्रियाएँ, व्यापार, हिंसा, आरम्भ तथा ठगई आदिकी (कथाप्रसङ्गः प्रसवः) कथाओंके प्रसङ्ग उत्पन्न करना (**पाप उपदेशः**) पापो-पदेश नामका अनर्थदण्ड (**स्मर्तव्यः**) स्मरण करनेके योग्य है।

टीकार्थ—जो उपदेश पापके उपार्जनमें कारण हो उसे पापोपदेश कहा है। तिर्यक्क्लेश आदि उसके भेद हैं। हाथी आदिको वशमें करनेकी प्रक्रिया तिर्यक्क्लेश है, लेन-देन आदि व्यापारियोंका कार्य वणिज्या है, प्राणिवध करना हिंसा है, खेती आदिक आरम्भ है तथा दूसरोंको किस तरह ठगना आदिकी कला प्रलम्भन है। तिर्यक्क्लेशके समान मनुष्यक्लेश भी होता है अर्थात् ऐसी क्रियाएँ जिनसे कि मनुष्यको क्लेश होता है। इन सबकी कथाओंका प्रसङ्ग उपस्थित करना अर्थात् बारबार इनका उपदेश देना सो पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका परित्याग करनेसे पापोपदेशानर्थदण्डव्रत होता है।

विशेषार्थ—कहीं-कहीं पापोपदेश अनर्थदण्डका ऐसा भी व्याख्यान किया जाता है—'**क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भकादिषु पापसंयुतं वचनं पापो-पदेशः**' अर्थात् क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश इस प्रकारके पापसंयुक्त जो वचन हैं उन्हें (**पापोपदेश**) कहते हैं। इस देशमें दास और दासियाँ सुलभ हैं उन्हें अमुक देशमें ले जाकर बेचनेपर अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश देना (**क्लेशवणिज्या**) है। गाय, भैंस, आदिको अमुक देश में खरीदकर अमुकदेशमें बेचनेसे अधिक लाभ होता है ऐसा उपदेश (**तिर्यग्व-णिज्या**) है। वागुरिक—मृगादिकको पकड़नेके लिए जाल फैलानेवाले, शौकरिक—सुअर आदिका शिकार करनेवाले और शाकुनिक—पक्षियोंको मारनेवाले लोगोंको यह उपदेश देना कि अमुक स्थानपर मृग, शूकर तथा पक्षी आदिक अधिक हैं (**वधकोपदेश**) है और किसान आदि आरम्भकर्त्ताओंको पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिका आरम्भ इस उपायसे करना चाहिये, ऐसा उपदेश देना (**आरम्भकोपदेश**) है। इस श्लोकका उत्तरार्ध 'घ' प्रतिमें इस प्रकार है '**प्रसवः कथाप्रसङ्गः स्मर्तव्यः पापउपदेशः**' इस पाठमें श्लोकका अर्थ इस प्रकार होता है—तिर्यक्क्लेश आदिको उत्पन्न करनेवाली कथाओंका जो प्रसङ्ग है उसे पापोपदेश जानना चाहिये। संस्कृतटीकाके द्वारा भी इसी पाठका समर्थन होता है ॥ ३० ॥ ७६ ॥

---

* विद्यावाणिज्यमपीकृपिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेश दानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥ १४२ ॥ पुरुषार्थ०।

अथ हिंसादानं किमित्याह—

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं [1]हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ३१ ॥

'हिंसादानं ब्रुवन्ति'। के ते ? 'बुधा' गणधरदेवादयः। किं तत् ? 'दानं'। यत्केषां ? 'वधहेतूनां' हिंसाकारणानां। केषां तत्कारणानामित्याह—'परशिव'त्यादि। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनि शृंगि च विषसामान्यं शृंखला च ता आदयो येषां ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ३१ ॥

अब हिंसादान क्या है ? यह कहते हैं—

*परशुकृपाणेति—(**बुधाः**) गणधरदेवादिक विज्ञपुरुष (**परशुकृपाण-खनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलादीनाम्**) फरसा, तलवार, कुदारी, अग्नि, शस्त्र, विष तथा सांकल आदिक (**वधहेतूनां**) हिंसाके कारणोंके दानको (**हिंसादानं**) हिंसादान नामका अनर्थदण्ड (**ब्रुवन्ति**) कहते हैं।

टीकार्थ—फरसा तथा कुल्हाड़ी आदिको परशु कहते हैं, तलवारको कृपाण कहते हैं, जमीन खोदनेके साधन गेंती, कुदारी, फावड़ा आदिको खनित्र कहते हैं, अग्निको ज्वलन कहते हैं, छुरी, लाठी, भाला आदिको आयुध कहते हैं, विष सामान्यको शृङ्गी कहते हैं और बन्धनके साधनको शृङ्खला कहते हैं। ये सब हिंसाके कारण हैं। इनका दूसरोंके लिये देना सो हिंसादान अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना हिंसादान-अनर्थदण्डव्रत है।

विशेषार्थ—यद्यपि व्रती मनुष्य स्वयंके उपयोगके लिए परशु, तलवार, तथा गेंती फावड़ा आदि हिंसाके उपकरणोंको रखता है और सावधानीके साथ उनका उपयोग करता है। परन्तु वह दूसरोंके लिए माँगनेपर नहीं देता, क्योंकि वह इसका दुरुपयोग नहीं करेगा, इसका विश्वास नहीं है। यदि कोई परदेशी मनुष्य भोजन बनानेके लिए अग्नि माँगता है तो उसके लिये अग्नि देना इस अनर्थदण्डमें नहीं आता है ॥ ३१ ॥ ७७ ॥

---

१. विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥

* असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥ १४४ ॥ पुरुषार्थ० ।

इदानीमपध्यानस्वरूपं व्याख्यातुमाह—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं[1] शासति जिनशासने विशदाः ॥ ३२ ॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति । के ते ? 'विशदा' विचक्षणाः । क्व ? 'जिनशासने' । किं तत् ? 'आध्यानं' चिन्तनं । कस्य ? 'वधबंधच्छेदादेः' । कस्मात् ? 'द्वेषात्' । न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा' ध्यानं । कस्य ? परकलत्रादेः' ॥ ३२ ॥

अब अपध्यानके स्वरूपका व्याख्यान करनेके लिए कहते हैं—

*वधबन्धेति—(**जिनशासने विशदाः**) जिनागममें निपुण पुरुष, (**द्वेषात्**) द्वेषके कारण किसीके (**वधबन्धच्छेदादेः**) वध, वन्धन और छेद आदिका (**च**) तथा (**रागात्**) रागके कारण (**परकलत्रादेः**) परस्त्री आदिका (**आध्यानं**) चिन्तन करनेको (**अपध्यानं**) अपध्यान (**शासति**) कहते हैं ।

टीकार्थ—द्वेषके कारण किसीके मर जाने, बँध जाने अथवा अंगोपाङ्गके छिद जाने आदिका और रागके कारण परस्त्री आदिका आध्यान—वार वार चिन्तन करना सो अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है ऐसा जिनशासनके ज्ञाता पुरुष कहते हैं ।

विशेषार्थ—(अपकृष्टं ध्यानम् अपध्यानम्) इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपध्यानका अर्थ खोटा ध्यान होता है । खोटा ध्यान राग और द्वेषके कारण होता है । रागके वशीभूत होकर परस्त्री आदिका ध्यान होता है और द्वेषके कारण किसीके मर जाने, बँध जाने अथवा छिद जाने आदिका विचार होता है । यह सब अपध्यान है—मनोयोगकी दुष्प्रवृत्ति है । किसीकी हार-जीतका विचार भी इसी अपध्यानमें आता है । इसे पापबन्धका कारण जानकर व्रती मनुष्य इससे दूर रहता है । यह अपध्यान-अनर्थदण्डव्रत है ॥ ३२ ॥ ७८ ॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां[2] दुःश्रुतिर्भवति ॥ ३३ ॥

---

१. परेषां जयपराजयवधाङ्गच्छेदस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं ।

* पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥ १४१ ॥ पुरुषार्थ० ।

२. हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते ॥

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ ? 'श्रुतिः श्रवणं। केषां ? 'अवधीनां' शास्त्राणां। किं कुर्वतां ? 'कलुषयतां' मलिनयतां। किं तत् ? 'चेतः' क्रोधमानमायालोभाद्याविष्टं चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरंभेत्यादि' आरंभश्च कृष्यादिः संगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादनं वार्तानीतौ विधीयते। 'कृषिः पशुपाल्यं[1] वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादि, प्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरु'रित्यादिग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च [2]रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कटो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयतां शास्त्राणां श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति ॥ ३३ ॥

अब दुःश्रुतिका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

*आरम्भेति—(आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः) आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और कामके द्वारा (**चेतः**) चित्तको (**कलुषयताम्**) कलुषित करनेवाले (**अवधीनां**) शास्त्रोंका (**श्रुतिः**) सुनना (**दुःश्रुतिः**) दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड (**भवति**) है।

टीकार्थ—खेती आदिको आरम्भ कहते हैं और परिग्रहको सङ्ग कहते हैं। इन दोनोंका वर्णन वार्तानीतिमें किया जाता है क्योंकि '**कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता**' इत्यभिधानात्' अर्थात् खेती, पशुपालन और व्यापार यह सब वार्ता है, यह कहा गया है। अर्थशास्त्रको वार्ता कहते हैं। साहसका अर्थ अत्यन्त आश्चर्यजनक कार्य है। इसका वर्णन वीर मनुष्योंकी कथामें किया जाता है। अद्वैतवाद तथा क्षणिकवाद आदि मिथ्यात्व हैं। इसका वर्णन प्रमाण विरुद्ध अर्थके प्रतिपादक शास्त्रके द्वारा किया जाता है। द्वेषका अर्थ प्रसिद्ध है। यह द्वेष विद्वेषीकरण—द्वेष उत्पन्न करनेवाले शास्त्रके द्वारा कहा जाता है। वशीकरण आदि शास्त्रके द्वारा राग उत्पन्न किया जाता है। मद अहंकारको कहते हैं। इसकी उत्पत्ति '**वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः**' वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है इत्यादि ग्रन्थोंसे जानी जाती है। मदनका अर्थ काम है। यह रतिगुणविलासपताका आदि शास्त्रोंसे उत्कृष्ट होता है। इस प्रकार आरम्भ आदिके द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले शास्त्रोंका श्रवण करना दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना दुःश्रुति-अनर्थदण्डव्रत है।

---

१. कृषिः पशुपाल्यवाणिज्या च घ। २. रतिविलासगुणपताकादि घ।

* रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥ १४५ ॥ पुरुषार्थ०।

विशेषार्थ—जो शास्त्र आरम्भ, परिग्रह, अद्भुत कार्य, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और कामकी उत्कटतासे चित्तको कलुषित करते हैं उन्हें दुःश्रुति कहते हैं। इनके सुननेका त्याग करना दुःश्रुतिनामक अनर्थदण्डव्रत है। व्रती मनुष्य सदा ऐसे शास्त्रोंका ही स्वाध्याय करता है जिससे उसे अपने सर्वज्ञ-वीतराग स्वरूपकी श्रद्धा दृढ़ हो जावे। इसके विपरीत जिन शास्त्रोंके सुननेसे आरम्भ आदिकी वृद्धि होती है वे सब कुशास्त्र हैं व्रती मनुष्यको इन सबका त्याग करना चाहिये ॥ ३३ ॥ ७९ ॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह—

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां[1] प्रभाषन्ते ॥ ३४ ॥

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयन्ति। कां ? 'प्रमादचर्यां'। किं तदित्याह—'क्षितीत्यादि'। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च तेषामारंभं क्षितिखननसलिलप्रक्षेपणदहनप्रज्वलन-पवनकरणलक्षणं। किंविशिष्टं ? 'विफलं' निष्प्रयोजनं। तथा 'वनस्पतिच्छेदं' विफलं। न केवलमेतदेव किन्तु 'सरणं' 'सारणमपि च' सरणं स्वयं निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारण-मन्यस्य निष्प्रयोजनं गमनप्रेरणं ॥ ३४ ॥

अब प्रमादचर्या अनर्थदण्डका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

क्षितीति—(**विफलं**) निष्प्रयोजन (**क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं**) पृथिवी, पानी, अग्नि और वायुका आरम्भ करना (**वनस्पतिच्छेदं**) वनस्पतिका छेदना (**सरणं**) स्वयं घूमना (**च**) और (**सारणं अपि**) दूसरोंको घुमाना भी, इस सबको (**प्रमादचर्यां**) प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड (**प्रभाषन्ते**) कहते हैं।

टीकार्थ—व्यर्थ ही पृथिवीको खोदना, पानीको बिखेरना, अग्निको जलाना, वायुको रोकना, फल-फूल-पत्ती आदिको तोड़ना, स्वयं निष्प्रयोजन घूमना और दूसरोंको भी निष्प्रयोजन घुमाना यह सब प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्ड है। इससे निवृत्त होनेको प्रमादचर्या-अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ—कितने ही लोग पृथिवीको निष्प्रयोजन खोदने लगते हैं, पानी सींचने लगते हैं अथवा तालाव, नदी आदिमें घंटों तैरते रहते हैं, अग्निको

१. प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचन-वधकर्म प्रमादचरित-मिति कथ्यते।

प्रज्वलित करते हैं, पंखा आदि चलाकर वायुकायिक जीवोंको त्रास देते हैं अथवा सिहराने या गद्दा आदिमें हवा भर कर उसपर शयन करते हैं, अनावश्यक फूल, फल, पत्ती आदिको तोड़कर वनस्पतिकायिक जीवोंका घात करते हैं, स्वयं निष्प्रयोजन घूमते है और दूसरोंको भी घूमनेके लिये प्रेरणा करते हैं उनका यह सब कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्डमें आता है। यह ठीक है कि अणुव्रतके धारक मनुष्यके स्थावरहिंसाका त्याग नहीं है परन्तु अनावश्यक स्थावर हिंसा मुझसे न हो जावे, इस बातका ध्यान उसे रखना आवश्यक है। **'प्रमादात् चर्या प्रमादचर्या'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमादपूर्वक जितनी प्रवृत्ति है वह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्डमें गर्भित है। व्रती मनुष्य इसका त्यागकर प्रमादचर्या-अनर्थदण्डव्रतको धारण करता है[1] ॥ ३४ ॥ ८० ॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रतं प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह—

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥ ३५ ॥

'व्यतीतयो'ऽतीचारा भवन्ति । कस्य ? 'अनर्थदण्डकृद्विरतेः' अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदंडकृतः पापोपदेशादयस्तेषां विरतिर्यस्य तस्य । कति ? 'पंच' । कथमित्याह—'कन्दर्पेत्यादि', रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कंदर्पः, प्रहासो भंडिमावचनं भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यं, धार्ष्ट्यप्रायं बहुप्रलापित्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्, एतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥ ३५ ॥

इस प्रकार अनर्थदण्डविरति व्रतका निरूपण कर अब उसके अतिचार कहते हैं—

कन्दर्पमिति—(**कन्दर्पं**) रागकी तीव्रतासे हास्य-परिहासमें भद्दे वचन बोलना (**कौत्कुच्यं**) शरीरकी कुचेष्टा करना (**मौखर्यं**) बकवाद करना (**अतिप्रसाधनं**) भोगपभोगकी सामग्रीका अधिक संग्रह करना (**च**) और (**असमीक्ष्य**) प्रयोजनका विचार किये विना ही (**अधिकरणं**) किसी कार्यका अधिक आरम्भ करना [**एते**] ये (**पञ्च**) पांच (**अनर्थदण्डकृद्विरतेः**) अनर्थ-दण्डविरति व्रतके (**व्यतीतयः**) अतिचार [**सन्ति**] हैं ॥

---

१. भूखनन-वृक्षमोट्टन-शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥ १४३ ॥ —पुरुषार्थ० ।

टीकार्थ—यद्यपि कोषमें कंदर्पका अर्थ काम है, परन्तु यहां कामको उत्तेजित करनेवाले भद्दे वचन बोलना कंदर्प माना गया है। भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गोंसे शरीरकी कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। आवश्यकतासे अधिक—निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य कहलाता है। जितने पदार्थसे अपने उपभोग और परिभोगकी पूर्ति होती है उससे अधिकका संग्रह करना अतिप्रसाधन कहलाता है तथा असमीक्ष्य—प्रयोजनका विचार किये बिना ही अधिक कार्यका करना असमीक्ष्याधिकरण है। ये पांच अनर्थदण्डविरतिव्रतके अतिचार हैं।

विशेषार्थ—हमजोलीके चार मित्र इकट्ठे बैठने पर हँसी-मज़ाक करते हुए भद्दे-भद्दे वचन बोलकर अपनी वचनवर्गणाका दुरुपयोग करते हैं। साथ ही संभोगादिका संकेत करते हुए शरीरको भद्दी चेष्टा करते हैं। मित्रगोष्ठीमें बैठकर घण्टों गपशप करते रहते हैं। स्नानादिके लिये तालाव या नदी आदिको जाते समय तैल आदि शृङ्गार सामग्री इतनी अधिक ले जाते हैं जो अपनी आवश्यकतासे अधिक होती है तथा दूसरे लोग उसका उपयोग कर जीवघात करते हैं। कितने ही लोग अपना खुदका प्रयोजन थोड़ा होने पर भी आरम्भ कर्त्ताओंसे अधिक आरंभ कराते हैं। उनके यह सब काम गृहीत व्रतको मलिन करनेके कारण अतिचार माने गये हैं। उमास्वामी[1] महाराजके उपभोग-परिभोगानर्थक्यके स्थानपर समन्तभद्रस्वामीने अतिप्रसाधन शब्दका प्रयोग किया है। परन्तु यह शब्दभेद ही है, अर्थभेद नहीं ॥ ३५ ॥ ८१ ॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाख्यातुमाह—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ३६ ॥

'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति। किं तत् ? 'यत्परिसंख्यानं' परिगणनं। केषां ? 'अक्षार्थाना' मिन्द्रियविषयाणां। कथंभूतानामपि तेषां ? 'अर्थवतामपि' सुखादिलक्षणप्रयोजनसंपादकानामपि अथवाऽर्थवतां सग्रन्थानामपि श्रावकाणां। तेषां परिसंख्यानं। किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृश[2]तरत्वकरणार्थं। कासां ? 'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासां। कस्मिन् सति ? अवधौ विषयपरिमाणे ॥ ३६ ॥

अब भोगोपभोगपरिमाणनामक गुणव्रतका निरूपण करनेके लिये कहते हैं—

---

१. कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि: ।—त. सू. ७-३२। २. कृशत्वकरणाय घ०।

अक्षार्थानामिति—(**अवधौ**) विषयोंके परिमाणके भीतर (**रागरतीनां**) विषयसम्बन्धी रागसे होनेवाली आसक्तियोंको (**तनूकृतये**) कृश करनेके लिये (**अर्थवतामपि**) प्रयोजनभूत भी (**अक्षार्थानां**) इन्द्रियविषयोंका (**परिसंख्यानं**) परिगणन करना—सीमा निर्धारित करना (**भोगोपभोगपरिमाणं**) भोगपभोगपरिमाण नामका गुणव्रत [अस्ति] है।

टीकार्थ—परिग्रहपरिमाणव्रतकी जो सीमा निश्चित की थी उसके भीतर विषयसम्बन्धी रागके तीव्र उदयसे होनेवाली आसक्तियोंको अत्यन्त कृश करनेके लिये सुखादिरूप प्रयोजनको सिद्ध करनेवाले भी इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंका जो परिसंख्यान–नियम किया जाता है वह भोगोपभोगपरिमाण नामका गुणव्रत है। टीकाकारने 'अर्थवतामपि' शब्द का एक अर्थ यह भी किया है कि अर्थ—परिग्रहरहित मुनि तो इन्द्रियविषयोंका परिगणन करते ही हैं परन्तु अर्थवान्—परिग्रहसहित गृहस्थ भी इन्द्रियविषयोंका जो परिगणन करते हैं वह भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहलाता है।

विशेषार्थ—परिग्रहपरिमाणव्रतमें भोग और उपभोगकी वस्तुओंकी जो संख्या निश्चित की जाती है उनका प्रतिदिन उपयोग नहीं होता, इसलिये उस सीमाको और भी संकुचित करनेके लिये भोगोपभोगपरिमाणव्रत धारण किया जाता है। स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयभूत जो पदार्थ हैं वे संक्षेपमें भोग-उपभोग नामसे व्यवहृत होते हैं। विषयसम्बन्धी रागकी तीव्रतासे विषयोंमें जो आसक्तियाँ बढ़ती रहती हैं उन्हें कम करनेके लिये व्रती मनुष्य इन्द्रिय-विषयोंकी सीमाको और भी संकुचित करता है। भोग और उपभोगमें जो अभक्ष्य अथवा अनुपसेव्य पदार्थ हैं उनका तो जीवनपर्यन्तके लिये त्याग होता है और जो भक्ष्य तथा उपसेव्य हैं उनका जीवनपर्यन्तके लिये अथवा कुछ कालके लिये भी परिगणन किया जाता है। अभक्ष्यके पांच प्रकार हैं—१ त्रसघात, २ प्रमाद, ३ बहुघात, ४ अनिष्ट और ५ अनुपसेव्य। जो मनुष्य त्रसहिंसा का त्याग करना चाहता है उसे मधु और मांसका त्याग करना चाहिये, क्योंकि उसकी उत्पत्ति त्रसघातके बिना नहीं होती। जो त्रसघातके साथ प्रमादका परित्याग करना चाहते हैं उन्हें मद्यका त्याग करना चाहिये, क्योंकि उसके सेवनसे त्रसघात और प्रमाद दोनों उत्पन्न होते हैं। अदरक, मूली, हल्दी आदिके सेवनमें बहुघात होता है। अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थोंका सेवन भी संक्लेशका कारण होता है, अतः व्रती मनुष्य इनसे दूर ही रहता है। इसके अतिरिक्त भक्ष्य और उपसेव्य पदार्थोंके विषयमें भी नियम किया जाता है कि आज इतने

अन्न, इतने रस और इतने सचित्त पदार्थोंका सेवन करूँगा। इतने वस्त्र, इतने आभूषण तथा इतने शयन-आसन, वाहन आदि ग्रहण करूँगा। इस व्रतका उद्देश्य विषयसम्बन्धी रागको कम करना है॥ ३६॥ ८२॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशंक्याह—

[1]भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः॥ ३७॥

पंचेन्द्रियाणामयं 'पाञ्चेन्द्रियो' विषयः। 'भुक्त्वा' 'परिहातव्य' स्त्याज्यः स 'भोगो'ऽशनपुष्पगंधविलेपनप्रभृतिः। यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स 'उपभोगो' वसनाभरणप्रभृतिः वसनं वस्त्रम्॥ ३७॥

अब भोग क्या है और उपभोग क्या है, जिसका कि परिमाण किया जाता है? ऐसी आशंका उठाकर उनके लक्षण कहते हैं—

भुक्त्वेति—(**अशनवसनप्रभृतिः**) भोजन और वस्त्रको आदि लेकर (**पाञ्चेन्द्रियः**) पञ्चेन्द्रियों सम्बन्धी जो (**विषयः**) विषय (**भुक्त्वा**) भोगकर (**परिहातव्यः**) छोड़ देनेके योग्य है वह (**भोगः**) भोग है (**च**) और जो (**भुक्त्वा**) भोगकर (**पुनः भोक्तव्यः**) फिरसे भोगने योग्य है वह (**उपभोगः**) उपभोग [**अस्ति**] है।

टीकार्थ—जो पदार्थ एक वार भोग कर छोड़ दिये जाते हैं फिरसे काममें नहीं आते ऐसे भोजन, पुष्प, गन्ध तथा विलेपन आदि पदार्थ भोग कहलाते हैं—और जो पहले भोगकर फिरसे भोगनेमें आते हैं ऐसे वस्त्र तथा आभूषण आदि उपभोग कहलाते हैं। इनकी सीमा निश्चित करना सो भोगोपभोगपरिमाण-व्रत है।

विशेषार्थ—**'भुज्यते सकृत् सेव्यते इति भोगः'** जो एकवार सेवनमें आवे सो भोग है और **'उपभुज्यते भूयो भूयः सेव्यते'** जो अनेक वार सेवनमें आवे वह उपभोग है। जैसे भोजन और वस्त्र आदि। भोजनादि भोगका दृष्टान्त है और वसनादि उपभोगका॥ ३७॥८३॥

---

१. भोगसंख्यानं पंचविधं त्रसघातप्रमादवहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। मधु मांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय अनुष्ठेयं।

[1]मध्वादिर्भोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ३८ ॥

'वर्जनीयं'। किं तत् ? 'क्षौद्रं' मधु । तथा 'पिशितं'। किमर्थं? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वधस्तत्परिहरणार्थं । तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं । किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाभावः प्रमादस्तस्य परिहृतये परिहारार्थं । कैरेतद्वर्जनीयं ? 'शरणमुपयातैः' शरणमुपगतैः । कौ ? 'जिनचरणौ' श्रावकैस्त-त्त्याज्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अब मधु आदिक पदार्थ भोगरूप होने पर भी त्रसजीवोंके घातका कारण होनेसे अणुव्रतधारियोंके द्वारा छोड़ने योग्य हैं, यह कहते हैं--

त्रसहतीति--(**जिरचरणौ**) जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंकी (**शरणम्**) शरणको (**उपयातैः**) प्राप्त हुए पुरुषोंके द्वारा (**त्रसहतिपरिहरणार्थं**) त्रस जीवोंकी हिंसाका परिहार करनेके लिये (**क्षौद्रं**) मधु और (**पिशितं**) मांस (**च**) और (**प्रमादपरिहृतये**) प्रमादका परिहार करनेके लिये (**मद्यं**) मदिरा (**वर्जनीयं**) छोड़नेके योग्य हैं ।

टीकार्थ--जो जिनेन्द्र देवके चरणोंकी शरणको प्राप्त हैं अर्थात् जैनधर्मके धारक हैं ऐसे श्रावकोंको द्वीन्द्रियादिक त्रसजीवोंकी हिंसासे वचनेके लिये मधु और मांसका त्याग करना चाहिये तथा प्रमादसे वचनेके लिये मद्य—मदिराका त्याग करना चाहिये । 'यह माता है अथवा स्त्री है' इस प्रकारके विवेकके अभावको प्रमाद कहते हैं ।

विशेषार्थ—जैनधर्म धारण करनेका प्रारम्भिक नियम है कि मद्य, मांस और मधुका त्याग किया जावे । इसके विना जैनधर्मका धारण नहीं हो सकता । क्षुद्रा, मधुमक्षिकाको कहते हैं । अतः '**क्षुद्राभिः निर्वृतम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मधु-मक्षिकाओंके द्वारा रचा हुआ पदार्थ क्षौद्र या मधु कहलाता है । इसमें अनन्त त्रसजीव उत्पन्न होते रहते हैं । और पिशित—मांस द्वीन्द्रियादिक जीवोंका कलेवर है । इसकी भी कच्ची तथा पक्की दोनों अवस्थाओंमें अनन्त त्रसजीव उत्पन्न होते हैं । इनके सेवन करनेसे उन जीवोंका घात होता है । इसी प्रकार मद्य भी त्रस हिंसाका कारण है । साथ ही उसके सेवनसे हिताहितका विवेक भी नष्ट हो जाता है । अतः वह भी श्रावकके द्वारा जीवन पर्यन्तके लिये छोड़ने योग्य है ॥ ३८॥८४॥

---

१. मद्यादिरूपभोगरूपोऽपि घ ।

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह—

[१]अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ३९ ॥

'अवहेयं' त्याज्यं । किं तत् ? 'मूलकं' । तथा 'शृङ्गवेराणि' आर्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? 'आर्द्राणि' अशुष्काणि[२] । तथा नवनीतं च । निम्बकुसुममित्युपलक्षणं सकलकुसुमविशेषाणां तेषां । तथा कैतकं केतक्या इदं कैतकं गुघरा इत्येवं, इत्यादि सर्वमवहेयं । कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्' । अल्पं फलं यस्यासावल्पफलः, बहूनां त्रसजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः अल्पफलश्चासौ बहुविघातश्च तस्मात् ॥ ३९ ॥

इनके सिवाय श्रावकोंके द्वारा और भी कुछ वस्तुएँ त्यागने योग्य हैं, यह कहते हैं—

अल्पेति—(अल्पफलबहुविघातात्) अल्पफल और बहुत त्रसजीवोंका विघात होनेसे (मूलकं) मूली (आर्द्राणि) गीला (शृङ्गवेराणि) अदरक (नवनीतनिम्बकुसुमं) मक्खन, नीमके फूल और (कैतकं) केतकी—केवड़ाके फूल तथा (इति एवं) इसी प्रकारके अन्य पदार्थ भी श्रावकोंके द्वारा (अवहेयम्) छोड़नेके योग्य हैं ।

टीकार्थ—मूली, गीला[३] अर्थात् बिना सूखा अदरक, उपलक्षणसे आलू, घुइंया, गाजर, सकरकंद आदि, मक्खन, नीमके फूल, उपलक्षणसे सभी प्रकारके फूल तथा केतकीके फूल और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ भी अल्पफल और बहुत जीवोंका घात होनेसे छोड़नेके योग्य हैं ।

विशेषार्थ—जिन वस्तुओंके खानेमें त्रसजीवोंका घात होता है वे तो त्याज्य हैं ही । परन्तु जिनमें अनन्त स्थावरकायोंका घात होता है ऐसी मूली तथा गीला अदरक, घुइंयाँ आदि भी त्याज्य हैं । [४]अङ्गुलके असंख्यातवें भाग बराबर

---

१ केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । २. अपक्वानि घ । ३. संस्कृतटीकाकारने 'आर्द्राणि' शब्दकी व्याख्या करते हुए 'अशुष्काणि' पद दिया है । इससे ज्ञात होता है कि जो अदरक स्वतः स्वभावसे सूखकर सोंठरूपमें परिवर्तित हो गया है उसे व्रती मनुष्य ले सकता है ।

४. एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥ —गो० जीवकाण्ड

अवगाहनाके धारक एक निगोदजीवके शरीरमें सिद्धों तथा समस्त भूतकालसे अनन्तगुणित जीवोंका निवास है। जिह्वा इन्द्रियसम्बन्धी अल्पसुखके लिये इन सब जीवोंका विघात हो जाता है। दूध या दहीको मथकर निकाला हुआ मक्खन नवनीत (लोंनी) कहलाता है। इसमें अन्तर्मुहूर्तके बाद असंख्य त्रस-जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार नीम आदिके फूल भी त्रसजीवोंके निवास स्थान हैं। केतकी—केवड़ा आदिके फूलोंमें भी चलते-फिरते त्रसजीव दिखाई देते हैं। अतः उन फूलोंमें सुवासित किये हुए कत्था आदि पदार्थ भी श्रावकोंके द्वारा छोड़ने योग्य हैं ॥ ३९ ॥ ८५ ॥

प्रासुकमपि यदेवंविधं तत्त्याज्यमित्याह—

यद[1]निष्टं तदव्रतयेद्यच्चानु[2]पसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥ ४० ॥

'यदनिष्टं' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यकं यन्न भवति 'तद्व्रतयेत्' व्रतनिवृत्ति कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्'। यच्च यदपि गोमूत्र-करभदुग्ध-शंखचूर्ण-ताम्बूलोद्गाललाला-मूत्र-पुरीष-श्लेष्मादिकमनुपसेव्यं प्रासुकमपि शिष्टलोकानामास्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रतं कुर्यात्। कुत एतदित्याह–[3]अभिसन्धीत्यादि—अनिष्टतया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्यद्विषयाद-भिसन्धिकृताऽभिप्रायपूर्विका या विरतिः सा यतो व्रतं भवति ॥ ४० ॥

जो पदार्थ प्रासुक होनेपर भी इस प्रकारका है—अनिष्ट और अनुपसेव्य है वह छोड़ने योग्य है, यह कहते हैं—

यदनिष्टमिति—(यत्) जो वस्तु (अनिष्टं) अनिष्ट—अहितकर हो (तद्) उसे (व्रतयेत्) छोड़े (च) और (यत्) जो (अनुपसेव्यं) सेवन करने योग्य न हो (एतदपि) यह भी (जह्यात्) छोड़े, क्योंकि (योग्यात्) योग्य (विषयात्) विषयसे (अभिसन्धिकृता) अभिप्रायपूर्वक की हुई (विरतिः) निवृत्ति (व्रतं) व्रत (भवति) होती है।

टीकार्थ—जो वस्तु प्रासुक होनेपर भी अनिष्ट है अर्थात् उदरशूल आदिका

---

१. यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं।
२. न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरणादीनामनुप-सेव्यानां परित्यागः कार्यः। ३. 'अभिसन्धीत्यादिअनिष्टतया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्याद् विषयाद्' इति पंक्तिः घ प्रतौ नास्ति।

कारण होनेसे प्रकृतिके अनुकूल नहीं है उसे छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार जो भी, गोमूत्र, ऊँटनीका दूध, शङ्खचूर्ण, पानका उगाल, लार, मूत्र, पुरीष तथा खकार आदि वस्तुएँ अनुपसेव्य हैं—शिष्ट मनुष्योंके सेवन करने योग्य नहीं हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये, क्योंकि अनिष्टपन और अनुपसेव्यपनके कारण छोड़नेके योग्य विषयसे अभिप्रायपूर्वक जो निवृत्ति होती है वही व्रत कहलाती है।

विशेषार्थ—मनुष्यको प्रकृति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। कोई वस्तु किसीके लिये लाभदायक है और किसीके लिये हानिकारक है। इस तरह जो वस्तु जिसके लिये हानिकारक हो वह प्रासुक—त्रसस्थावरके घातसे रहित होने पर भी अनिष्ट कहलाती है। व्रती मनुष्यको इसका त्याग करना चाहिये। इसी प्रकार जो वस्तुएँ शिष्ट मनुष्योंके सेवनमें नहीं आती हैं वे अनुपसेव्य हैं, व्रती मनुष्यको इसका भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि योग्य विषयका अभिप्रायपूर्वक जो त्याग किया जाता है वही व्रत कहलाता है। इस प्रकार व्रती मनुष्यको १. त्रसघात, २. बहुघात, ३. प्रमादवर्धक, ४. अनिष्ट और ५. अनुपसेव्य इन पाँचों प्रकारके अभक्ष्योंका त्याग करना चाहिये ॥ ४० ॥ ८६ ॥

तच्च द्विधा भिद्यत इति—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात् ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ४१ ॥

'भोगोपभोगसंहारात्' भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य। 'द्वेधा विहितौ' द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्वेधा व्यवस्थापितौ। कौ ? 'नियमो यमश्चे'त्येतौ। तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—'नियमः परिमितकालो' वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः। 'यमश्च यावज्जीवं ध्रियते'।

आगे वह परित्याग दो प्रकारका होता है, यह कहते हैं—

नियम इति—(**भोगोपभोगसंहारात्**) भोग और उपभोगके परिमाणका आश्रयकर (**नियमः**) नियम (**च**) और (**यमः**) यम (**द्वेधा**) दो प्रकारसे (**विहितौ**) व्यवस्थापित हैं—प्रतिपादित हैं। उनमें (**परिमितकालः**) जो कालके परिमाणसे सहित है वह (**नियमः**) नियम है और जो (**यावज्जीवं**) जीवनपर्यन्तके लिये (**ध्रियते**) धारण किया जाता है वह (**यमः**) यम कहलाता है।

टीकार्थ—भोग और उपभोगका परिमाण नियम और यमके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो परिमाण समयकी अवधि लेकर किया जाता है वह नियम कहलाता है और जो जीवन पर्यन्तके लिये धारण किया जाता है वह यम कहलाता है।

विशेषार्थ—जो वस्तुएँ ऊपर कहे हुए पाँच प्रकारके अभक्ष्यकी कोटिमें आती हैं उनका तो यम रूपसे त्याग करना चाहिये अर्थात् जीवन पर्यन्तके लिये त्याग करना चाहिये और जो अभक्ष्यकी कोटिमें नहीं आती हैं उनका अपने परिणाम तथा देश-कालकी योग्यता देखते हुए नियम और यम-दोनों रूपसे त्याग किया जाता है ॥ ४१ ॥ ८७ ॥

तत्र परिमितकाले तत्संहारलक्षणनियमं दर्शयन्नाह—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥ ४२ ॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा ।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥ ४३ ॥

युगलं। नियमो भवेत्। किं तत् ? प्रत्याख्यानं। कया ? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह—अद्येत्यादि, अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकाल-परिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनी रात्रिरिति वा। पक्ष इति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वयं। अयनमिति वा षण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। केष्वित्याह—भोजनेत्यादि भोजनं च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्थानं च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुकुंमादिविलेपनं। उपलणमेतदञ्जनतिलकादीनां पवित्रविशेषणं दोषापनयनार्थं तेनौषधाद्यङ्गरांगो निरस्तः। कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु। तथा ताम्बूलं च वसनं च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा संगीतं च गीतनृत्यवादित्रत्रयं गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितं तेषु च विषयेषु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्या-तम् ॥ ४२-४३

अब उस भोगोपभोपपरिमाणव्रतमें परिमितकालवाला जो नियमरूप त्याग है उसे दिखलाते हुए कहते हैं—

भोजनेति—(भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु) भोजन, सवारी, शयन, स्नान, पवित्र अङ्गविलेपन, पुष्प (ताम्बूलवसनभूषणमन्मथ-संगीतगीतेषु) पान, वस्त्र, आभूषण, कामसेवन, संगीत और गीतके विषयमें,

(**अद्य**) आज, (**दिवा**) एकदिन (**रजनी**) एकरात (**वा**) अथवा (**पक्षः**) एकपक्ष (**मासः**) एक माह (**तथा**) और (**ऋतुः**) एक ऋतु—दो माह (**वा**) अथवा (**अयनं**) एक अयन—छह माह (**इति**) इस प्रकार (**कालपरिच्छित्या**) समयके विभाग पूर्वक (**प्रत्याख्यानं**) त्याग करना (**नियमः**) नियम (**भवेत्**) होता है।

टीकार्थ—भोजनका अर्थ प्रसिद्ध है, घोड़ा आदिको वाहन कहते हैं, पलंग आदिको शयन कहते हैं, स्नानका अर्थ प्रसिद्ध है, अपवित्र वस्तुओंके संपर्कसे रहित केशर आदिके विलेपनको पवित्राङ्गराग कहते हैं, यह अङ्गराग अञ्जन तथा तिलक आदिका उपलक्षण है। अङ्गरागके साथ जो पवित्र विशेषण दिया गया है वह दोषोंको दूर करनेके लिए दिया गया है। इसलिए सदोष औषध तथा अङ्गरागका निराकरण होता है। कुसुमका अर्थ प्रसिद्ध है, ताम्बूल पानको कहते हैं, वसन वस्त्रको कहते हैं, कटक आदिको भूषण कहते हैं, कामसेवनको मन्मथ कहते हैं, जिसमें गीत, नृत्य और वादित्र ये तीनों होते हैं उसे संगीत कहते हैं और जिसमें केवल गीत होता है नृत्य और वादित्र नहीं होते उसे गीत कहते हैं। इन सबके विषयमें समयकी अवधि लेकर जो त्याग होता है वह नियम कहलाता है। चालू दिनमें एक घड़ी, एक पहर आदि कालका परिमाणकर त्याग करना आजका त्याग है। दिन और रात्रिका अर्थ स्पष्ट है। पन्द्रह दिनको पक्ष कहते हैं। तीस दिनको मास कहते हैं। दो मासको ऋतु कहते हैं। एक वर्षमें चैत्र और वैशाखसे लेकर दो-दो मासोंमें क्रमसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ होती हैं। उत्तरायण और दक्षिणायनके भेदसे वर्षमें छह-छह मासके दो अयन होते हैं। इस प्रकार समयकी अवधि रखकर भोजन आदिका त्याग करना नियम कहलाता है।

विशेषार्थ—मैं आज एक बार या दो बार भोजन करूँगा, आज सवारीपर नहीं बैठूँगा, आज पलंगपर नहीं सोऊँगा, आज एक बार ही स्नान करूँगा, आज शरीरमें विलेपन नहीं लगाऊँगा, आज फूलोंकी माला नहीं पहनूँगा, आज पान बिलकुल नहीं खाऊँगा अथवा इतने परिमाणमें खाऊँगा, आज दो वस्त्र अथवा चार पांच आदि वस्त्र पहनूँगा, आज आभूषण नहीं पहनूँगा अथवा इतने आभूषण पहिनूँगा, आज कामसेवन नहीं करूँगा, आज संगीतमें सम्मिलित नहीं होऊँगा और आज गीत बन्द रक्खूँगा। इस प्रकार कालका परिमाण रखकर जो त्याग किया जाता है वह नियम कहलाता है। और इन्हीं वस्तुओंका जीवन पर्यन्तके लिए जो त्याग होता है वह यम कहलाता है ॥ ४२–४३ ॥ ८८–८९ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह—

विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषाऽनुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ४४ ॥

भोगोपभोगपरिमाणं तस्य व्यतिक्रमा अतीचाराः पंच कथ्यन्ते । के ते इत्याह विषयेत्यादि—विषय एव विषं प्राणिनां दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु ततोऽनुपेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः । विषयवेदनाप्रतिकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्संभाषणालिंगनाद्यादरः सोऽत्यासक्तिजनकत्वादतीचारः । अनुस्मृतिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विषयाणां सौंदर्यसुखसाधनत्वादनुस्मरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः । अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकारजातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकांक्षेत्यर्थः । अतितृषा भाविभोगोपभोगादेरतिगृद्ध्या प्राप्त्याकांक्षा । अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतीचारः ॥ ४४ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

अब आगे भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार कहते हैं—

विषयेति—(विषयविषतः) विषयरूपी विषसे (अनुपेक्षा) उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उसमें आदर रखना, (अनुस्मृतिः) भोगे हुए विषयोंका वार-वार स्मरण करना (अतिलौल्यं) वर्तमान विषयोंमें अधिक लम्पटता रखना (अतितृषानुभवौ) आगामी विषयोंकी अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषयका अत्यन्त आसक्तिसे अनुभव करना (एते) ये (पञ्च) पाँच (भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः) भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार (कथ्यन्ते) कहे जाते हैं।

टीकार्थ—विषय विषके समान हैं क्योंकि जिस प्रकार विष, प्राणियोंको दाह तथा संताप आदि करता है उसी प्रकार विषय भी प्राणियोंको दाह और संताप आदि उत्पन्न करते हैं। इस विषयरूपी विषसे उपेक्षा नहीं होना अर्थात् उनके प्रति आदरका भाव बना रहना अनुपेक्षा नामका अतिचार है। विषयोंका अनुभव—उपभोग विषयसम्बन्धी वेदनाके प्रतिकारके लिये किया जाता है सो विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी फिरसे संभाषण तथा आलिङ्गन आदिमें जो आदर है वह अत्यन्त आसक्तिका जनक होनेसे अतिचार माना जाता

है। विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी सौन्दर्यजनित सुखका साधन होनेसे विषयोंका बार-बार स्मरण करना यह **अनुस्मृति** नामका अतिचार है। अत्यन्त आसक्तिका कारण होनेसे यह अतिचार माना जाता है। विषयोंमें अत्यन्त गृद्धता रखना अर्थात् विषयानुभवसे वेदनाका प्रतिकार हो जानेपर भी बार-बार उसके अनुभवको आकांक्षा रखना **अतिलौल्य** नामका अतिचार है। आगामी भोगोपभोग आदिकी अत्यधिक गृद्धताके साथ प्राप्तिकी आकांक्षा रखना **अतितृषा** नामका अतिचार है। और नियतकालमें भी जब भोग और उपभोगका अनुभव करता है तब अत्यन्त आसक्तिसे करता है वेदनाके प्रतिकारकी भावनासे नहीं, यह **अत्यनुभव** नामका अतिचार है।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी महाराजने[1] भोगोपभोगपरिमाणव्रतके सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पाँच अतिचार निरूपित किये हैं। भोग और उपभोगकी वस्तुएँ अनेक हैं अतः सबसे सम्बद्ध अतिचारोंका दिग्दर्शन असम्भव जानकर उन्होंने मात्र भोजन सम्बन्धी अतिचारोंका वर्णन किया है। उपलक्षणसे अन्य भोगोपभोग सम्बन्धी अतिचारोंकी ओर संकेत किया है। परन्तु समन्तभद्रस्वामीने भोगोपभोगसामान्यको लक्ष्यमें रखकर अतिचारोंका वर्णन किया है। अनुपेक्षा अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अत्यनुभव इनका सम्बन्ध प्रत्येक भोग उपभोगके साथ होता है। अनुपेक्षा आदि अतिचार क्यों हैं इसका स्पष्टीकरण टीकार्थमें किया जा चुका है॥ ४४॥ ९०॥

इस प्रकार समन्तभद्रस्वामीरचित उपासकाध्ययनकी प्रभाचन्द्राचार्यविरचित टीकामें [2]तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।



१. सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ७–३५॥

२. मूलग्रंथमें अणुव्रत और गुणव्रतके पृथक् पृथक् परिच्छेद रखे हैं परन्तु संस्कृत-टीकाकारने अणुव्रतोंका उपकारक होनेसे गुणव्रतोंको अणुव्रतोंके साथ ही एक परिच्छेदमें रक्खा है।

शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः

साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ १ ॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि । कानि ? शिक्षाव्रतानि । कति ? चत्वारि । कस्मात् ? देशावकाशिकमित्यादिचतुःप्रकारसद्भावात् । वाशब्दोऽत्र परस्पर[1]प्रकारसमुच्चये । देशावकाशिकादीनां लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥ १ ॥

अब शिक्षाव्रतका स्वरूप बतलानेके लिये उसके नाम कहते हैं—

देशावकाशिकं वेति—(देशावकाशिकं) देशावकाशिक (वा) और (सामयिकं) सामायिक, (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास (वा) और (वैयावृत्यं) वैयावृत्य [इमानि] ये (चत्वारि) चार (शिक्षाव्रतानि) शिक्षाव्रत (शिष्टानि) कहे गये हैं ।

टीकार्थ—श्लोकमें जो 'वा' शब्द है वह परस्परके समुच्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । शिक्षाव्रतके चार प्रकार कहे गये हैं—१ देशावकाशिक, २ सामायिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य । इन सबके स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कहेंगे ।

विशेषार्थ—'शिक्षायै व्रतं शिक्षाव्रतम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुनिव्रतकी शिक्षाके लिये जो व्रत होते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं । शिक्षाव्रत चार हैं, इस विषयमें तो सर्व आचार्य सहमत हैं । परन्तु उनके नाम-निर्धारणमें आचार्योंके विभिन्न मत हैं । सर्वप्रथम कुन्दकुन्द स्वामीने १ सामायिक, २ प्रोषध, ३ अतिथिपूजा और ४ सल्लेखना इन चारको शिक्षाव्रत माना है । उमास्वामीने १ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगोपभोगपरिमाण और ४ अतिथिसंविभाग इन चारको शिक्षाव्रत कहा है । समन्तभद्रस्वामीने १ देशावकाशिक, २ सामा-

---

१. परस्परसमुच्चये घ० ।

२. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ सल्लेहना अंते ॥ २५ ॥ चारित्रप्राभृत.

यिक, ३ प्रोषधोपवास और ४ वैयावृत्य इन चारको शिक्षाव्रतमें परिगणित किया है। आचार्य वसुनन्दीने १ भोगपरिमाण, २ उपभोगपरिमाण, ३ अतिथि-संविभाग और ४ सल्लेखना इन चारको शिक्षाव्रत माना है। चूँकि सामायिक और प्रोषधको तृतीय और चतुर्थ प्रतिमाका रूप दिया गया है इसलिये वसुनन्दी ने इन्हें शिक्षाव्रतोंमें शामिल नहीं किया है। कुन्दकुन्दस्वामीने देशावकाशिक (देशव्रत) का वर्णन गुणव्रतोंमें किया है। इसीप्रकार समन्तभद्रस्वामीने भोगोपभोगपरिमाणव्रतको भी गुणव्रतोंमें संम्मिलित किया है। कुन्दकुन्द स्वामीकी सल्लेखनाको शिक्षाव्रत मानने सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्योंको संमत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरणकालमें ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण किया जाता है। इसी दृष्टिसे अन्य आचार्योंने सल्लेखना-का वर्णन बारह व्रतोंके अतिरिक्त किया है। इसके स्थानपर उमास्वामीने अतिथिसंविभाग और समन्तभद्रने वैयावृत्यको शिक्षाव्रत स्वीकृत किया है। वैयावृत्य, अतिथिसंविभागव्रतका ही विस्तृत रूप है। कुन्दकुन्दस्वामीने सल्लेखनाको जो शिक्षाव्रतमें सम्मिलित किया है उसमें उनका अभिप्राय सल्ले-खनाकी भावनासे जान पड़ता है अर्थात् शिक्षाव्रतमें सदा ऐसी भावना रखनी चाहिये कि मैं जीवनान्तमें सल्लेखनासे मरण करूँ। ऐसी भावना सदा रक्खी जा सकती है॥ १ ॥ ९१॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावल्लक्षणं—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ २ ॥

देशावकाशिकं देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानं सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रतं स्यात्। कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः। कस्य ? देशस्य। कथंभूतस्य ? विशालस्य बहोः। केन ? कालपरिच्छेदनेन दिव-सादिकालमर्यादया। कथं ? प्रत्यहं प्रतिदिनं। केषां ? अणुव्रतानां अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां तेषां श्रावकाणामित्यर्थः॥ २ ॥

अब देशावकाशिक शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं—

देशावकाशिकं स्यादिति—(अणुव्रतानां) अणुव्रतके धारक श्रावकोंका (प्रत्यहं) प्रतिदिन (कालपरिच्छेदनेन) समयकी मर्यादाके द्वारा (विशालस्य)

---

१. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता। —त० सू० ७-२२।

विस्तृत) (देशस्य) देशका (प्रतिसंहारः) संकोच किया जाना (देशावकाशिकं) देशावकाशिकव्रत (स्यात्) होता है।

टीकार्थ—मर्यादित देशमें नियत काल तक रहना देशावकाश कहलाता है। यह देशावकाश जिस व्रतका प्रयोजन है उसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। दिग्व्रत नामक गुणव्रतमें जीवनपर्यन्तके लिये जो विशाल क्षेत्र निश्चित किया था उसमें एक दिन, एक पहर आदि कालकी मर्यादा लेकर और भी संकोच करना देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहलाता है। यह व्रत अणुव्रतके धारक श्रावकोंके होता है। **'अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येषां ते अणुव्रताः तेषाम्'** इस प्रकार समास करनेसे अणुव्रतका अर्थ श्रावक हो जाता है।

विशेषार्थ—श्रावकको प्रतिदिन प्रातःकाल समयकी अवधि लेकर अपने यातायातकी सीमा निश्चित करना चाहिये, क्योंकि दिग्व्रतका क्षेत्र जीवनपर्यन्तके लिए होनेसे विस्तृत होता है। उतने विस्तृत क्षेत्रमें प्रतिदिन गमन नहीं होता। इसलिये अपनी उस दिनकी आवश्यकताओंको देखकर विस्तृत क्षेत्रको संकुचित कर लेना चाहिए॥ २॥ ९२॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः॥ ३॥

तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्नां स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते। सीम्नामित्यत्र "[1]स्मृत्यर्थदयीशां कर्म" इत्यनेन षष्ठी। केषां सीमाभूतानां? गृहहारिग्रामाणां हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदी दावयोजनानां च दावो वनं। कस्यैतेषां सीमाभूतानां? देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य।

अब देशावकाशिकव्रतमें किस प्रकार मर्यादा की जाती है, यह कहते हैं—

गृहहारीति—(तपोवृद्धाः) गणधरदेवादिक चिरन्तन आचार्य (गृहहारिग्रामाणां) घर, छावनी, गाँव (च) और (क्षेत्रनदीदावयोजनानां) खेत, नदी, वन तथा योजनोंको (देशावकाशिकस्य) देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी (सीम्नां) सीमा (स्मरन्ति स्मरण करते हैं।

टीकार्थ—'तपसा वृद्धास्तपोवृद्धाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो तपसे वृद्ध हैं ऐसे गणधरदेवादिक चिरन्तन—प्राचीन आचार्योंका ग्रहण होता है। उन्होंने

---

१ 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' पाणिनीय सूत्र।

देशावकाशिकव्रतकी सीमाएँ बतलाते हुए मर्यादाके रूपमें घर, छावनी, ग्राम, खेत, नदी, वन अथवा योजनका सीमारूपमें स्मरण किया है। 'सीम्नाम्' यहाँपर कर्म अर्थमें 'स्मृत्यर्थदयोशां कर्म' इस सूत्रसे षष्ठी विभक्तिका प्रयोग हुआ है। सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—स्मृत्यर्थक धातुएँ तथा दय और ईश धातुके कर्ममें षष्ठी विभक्ति होती है।

विशेषार्थ—मैं आज अमुक महानुभावके घर तक जाऊंगा, मैं आज नगरके बाहर बनी हुई छावनी तक जाऊंगा, मैं आज अमुक गाँव तक जाऊंगा, मैं आज अमुक खेत तक जाऊंगा, मैं आज अमुक नदी तक जाऊंगा, मैं आज अमुक वन तक जाऊंगा और मैं आज इतने योजन तक जाऊंगा, इस प्रकारका नियम श्रावकको प्रतिदिन करना चाहिये। चारकोशका एक योजन होता है। जिस प्रकार आजकल मार्गमें माइलस्टोन—मीलके पत्थर गड़े रहते हैं उस प्रकार पहले योजनके स्तम्भ बनाये जाते थे। सीमा निर्धारित करते समय योजनके स्तम्भोंकी भी सीमा निश्चित की जाती थी। आजकल उसके स्थानपर मीलके पत्थरकी सीमा निश्चत की जा सकती है ॥ ३ ॥ ९३ ॥

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं चास्य प्रतिपाद्य कालावधिं प्रतिपादयन्नाह—

संवत्सरमृतुमयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥ ४ ॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहुः। के ते ? प्राज्ञाः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि—संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं। तथा ऋतुमयनं वा यावत्। तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्षं च चन्द्रभुक्त्या आदित्यभुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्।

इस प्रकार देशावकाशिक व्रतकी द्रव्यावधि और योजनावधिको बताकर अब कालावधिका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

संवत्सरमिति—(**प्राज्ञाः**) गणधरदेवादिक बुद्धिमान् पुरुष (**संवत्सरं**) एकवर्ष (**ऋतुं**) एक ऋतु—दो माह, (**अयनं**) एक अयन—छह माह, (**मासचतुर्मासपक्षम्**) एक माह, चार माह, एक पक्ष—पन्द्रह दिन (**च**) और (**ऋक्षं**) एक नक्षत्रको (**देशावकाशिकस्य**) देशावकाशिक व्रतकी (**कालावधिं**) कालकी मर्यादा (**प्राहुः**) कहते हैं।

टीकार्थ—देशावकाशिक व्रतमें कालकी मर्यादा बताते हुए गणधरदेवादिकने एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष अथवा

एक नक्षत्रको कालावधि कहा है। अर्थात् संवत्सर आदिकी सीमा लेकर देशावकाशिक व्रतमें यातायातका क्षेत्र निश्चित किया जाता है। ऋक्ष—नक्षत्र दो प्रकारके होते हैं—एक चन्द्रभुक्तिकी अपेक्षा और दूसरे सूर्यभुक्तिकी अपेक्षा। चन्द्रभुक्तिकी अपेक्षा अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र प्रतिदिन बदलते रहते हैं अर्थात् एक दिनमें एक नक्षत्र रहता है और सूर्यभुक्तिकी अपेक्षा एकवर्षमें अश्विनी आदि सत्ताईस नक्षत्र क्रमसे परिवर्तित होते हैं। संवत्सर आदिका अर्थ स्पष्ट है।

विशेषार्थ—देशावकाशिक व्रतके क्षेत्रकी अवधिका वर्णन पूर्व श्लोकमें किया गया था, यहाँ कालकी अवधिका वर्णन किया गया है। उसे इस प्रकार समझना चाहिये कि मैं एक वर्ष तक, अथवा अमुक ऋतु—दो माह तक, एक अयन—छह माह तक, एक माह तक, चारमाह तक, एक पक्ष तक अथवा अमुक नक्षत्र तक इस स्थानसे आगे नहीं जाऊँगा। इस प्रकार समयकी सीमा निश्चित करना चाहिये। दिग्व्रत जीवनपर्यन्तके लिये होता है परन्तु देशावकाशिकव्रत समयकी मर्यादा लेकर धारण किया जाता है॥ ४॥ ९४॥

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याह—

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥ ५॥

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि? महाव्रतानि। केन? देशावकाशिकेन च न केवलं दिग्विरत्यापितु देशावकाशिकेनापि। कुतः? स्थूलेतरपंचपापसंत्यगात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपंचपापानि च तेषां सम्यक् त्यागात्। क्व? सीमान्तानां परतः देशावकशिकव्रतस्य सीमाभूता ये 'अन्ताधर्मा' गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः तेषां वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषां परतः परस्मिन् भागे।

इस प्रकार देशावकाशिकव्रत लेनेपर मर्यादाके आगे क्या होता है, यह कहते हैं—

सीमान्तानामिति—(सीमान्तानां) सीमाओंके अन्तभागके (परतः) आगे (स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्) स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापोंका सम्यक् प्रकार त्याग हो जानेसे (देशावकाशिकेन च) देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी (महाव्रतानि) महाव्रत (प्रसाध्यन्ते) सिद्ध किये जाते हैं।

टीकार्थ—देशावकाशिकव्रतमें जो क्षेत्र और कालकी अपेक्षा सीमाएँ निर्धारित की गई हैं उनके आगे हिंसादि पाँच पापोंका स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों

प्रकारसे परित्याग हो जाता है इसलिये दिग्व्रतके समान देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रतोंकी साधना की जाती है।

विशेषार्थ—क्षेत्रमर्यादामें जो गृह, छावनी आदिकी मर्यादा ली थी तथा कालमर्यादामें जो संवत्सर आदिकी मर्यादा निश्चित की थी उन मर्यादाओंके आगे गमन न होनेसे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारसे पांच पापोंका परित्याग हो जाता है। इसलिये वहाँ अणुव्रतधारियोंके भी महाव्रत जैसी अवस्था हो जाती है ॥ ५ ॥ ९५ ॥

इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाह—

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्‌गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥ ६ ॥

अत्यया अतिचाराः। पंच व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते ? इत्याह—प्रेषणेत्यादि-मर्यादीकृते देशे स्वयं स्थितस्य ततो बहिरिदं कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृत-देशाद्बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खात्करणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुर्वतां कर्मकराणां स्वविग्रहप्रदर्शनं रूपाभिव्यक्तिः। तेषामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्‌गलक्षेपः ॥६॥

अब देशावकाशिक व्रतके अतिचार दिखलाते हुए कहते हैं—

प्रेषणेति—(**प्रेषणशब्दानयनं**) प्रेषण, शब्द, आनयन, (**रूपाभिव्यक्ति-पुद्‌गलक्षेपौ**) रूपाभिव्यक्ति और पुद्‌गलक्षेप [इमे] ये (**पञ्च**) पाँच (**देशाव-काशिकस्य**) देशावकाशिक शिक्षाव्रतके (**अत्ययाः**) अतिचार (**व्यपदिश्यन्ते**) कहे जाते हैं।

टीकार्थ—स्वयं मर्यादित देशमें रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कहकर दूसरेको मर्यादाके बाहर भेजना **प्रेषण** नामका अतिचार है। मर्यादाके बाहर कार्य करने वाले कार्यकर्ताओंके प्रति खकार या खाँसी आदिका शब्द करना **शब्द** नामका अतिचार है। मर्यादासे बाह्य क्षेत्रमें रहने वाले लोगोंको प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि तुम अमुक वस्तु लाओ **आनयन** नामका अतिचार है। स्वयं मर्यादित क्षेत्रके भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्रमें काम करने वाले लोगोंको अपना शरीर दिखलाना **रूपाभिव्यक्ति** नामका अतिचार है और उन्हीं लोगोंको लक्ष्य कर कंकड़ पत्थर आदि फेंकना **पुद्‌गलक्षेप** नामका अतिचार है। देशावकाशिकव्रतके ये पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—व्रत धारण करनेका मूल प्रयोजन रागादिक भावोंपर नियन्त्रण

प्राप्त करना है। जहाँ इन भावोंपर नियन्त्रण नहीं हो पाता है वहाँ व्रत निर्दोष नहीं पलता है—उसमें अनेक दोष लगने लगते हैं। उन दोषोंका नाम ही अतिचार है। देशावकाशिकव्रतके अतिचारोंका वर्णन इस प्रकार है—किसीने नियम लिया कि मैं इतने समय तक इस स्थानसे आगे नहीं जाऊँगा। नियमके अनुसार वह अपने मर्यादित क्षेत्रमें स्थित है परन्तु रागकी उत्कटतासे दूसरे लोगोंको मर्यादाके बाहर भेजकर अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। यहाँ कृतकी अपेक्षा व्रतकी रक्षा होती है और कारितकी अपेक्षा उसका भंग हो जाता है। इस प्रकार भंगाभंगकी अपेक्षा यह **प्रेषण नामका** अतिचार होता है। स्वयं तो मर्यादाके भीतर स्थित रहता है परन्तु मर्यादाके बाहर काम करनेवाले लोगोंको खांसकर या खकारकर सावधान करता है यह **शब्द** नामका अतिचार है। मर्यादाके बाहरके लोगोंसे फौन आदि करना भी इसी अतिचारके अन्तर्गत है। स्वयं मर्यादाके भीतर रहकर बाहरके क्षेत्रसे किसी वस्तुको बुलवाना **आनयन** अतिचार है। तार या पत्र देकर आर्डरसे किसी वस्तुको बुलवाना भी इसी अतिचारमें गर्भित है। स्वयं मर्यादाके भीतरके क्षेत्रमें स्थित रहकर मर्यादाके बाहरके लोगोंको अपना रूप दिखाना, ऐसे स्थान पर बैठना जिससे कि मर्यादाके बाहर काम करनेवाले लोग अपना रूप देखकर सावधानीसे काम करते रहें यह **रूपाभिव्यक्ति नामका** अतिचार है। टेलीविजनके द्वारा अपना चित्र प्रसारित करना भी इसी अतिचारके अन्तर्गत है। स्वयं मर्यादाके भीतर रहकर मर्यादाके बाहर काम करनेवालोंको कंकण, पत्थर आदि फेंककर सावधान करना **पुद्गलक्षेप** नामका अतिचार है। मर्यादाके बाहर पत्र भेजना भी इसीमें गर्भित होता है ॥ ६ ॥ ९६ ॥

एवं देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह—

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥ ७ ॥

सामयिकं नाम स्फुटं शंसन्ति प्रतिपादयन्ति। के ते ? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामयिका गणधरदेवादयः। किं तत् ? मुक्तं मोचनं परिहरणं यत् तत् सामयिकं। केषां मोचनं ? पंचाघानां हिंसादिपंचपापानां। कथं ? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचनं आ समन्ताद्व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्ति यावदित्यर्थः। कथं तेषां मोचनं ? अशेषभावेन सामस्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे च। अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः ॥ ७ ॥

इस प्रकार देशावकाशिकरूप शिक्षाव्रतका व्याख्यान कर अव सामायिकरूप शिक्षाव्रतका वर्णन करनेके लिये कहते हैं—

आसमयेति—(**सामयिकाः**) आगमके ज्ञाता गणधरदेवादिक, (**सर्वत्र च**) सव जगह—मर्यादाके भीतर और वाहर भी (**अशेषभावेन**) सम्पूर्णरूपसे (**पञ्चाघानां**) पांच पापोंका (**आसमयमुक्ति**) किसी निश्चित समय तक (**मुक्तं**) त्याग करनेको (**सामयिकं नाम**) सामयिक नामका शिक्षाव्रत (**शंसन्ति**) कहते हैं।

टीकार्थ—किसी समयकी अवधि लेकर उतने समय तक मर्यादाके भीतर और वाहर दोनों जगह संपूर्णरूपसे हिंसादि पाँच पापोंका त्याग करना सामायिक नामका शिक्षाव्रत कहलाता है। देशावकाशिकव्रतमें मर्यादाके बाह्यक्षेत्रमें पाँच पापोंका त्याग होता है, मर्यादाके भीतर नहीं। परन्तु सामयिकशिक्षाव्रतमें भीतर और वाहर दोनों क्षेत्रोंमें उनका त्याग होता है। अतः उसकी अपेक्षा सामयिक शिक्षाव्रतमें भेद है। श्लोकमें जो 'मुक्त' शब्द है उसमें भाववाचक 'क्त' प्रत्यय हुआ है इसलिये 'मुक्तं' का अर्थ 'मोचनं' छोड़ना होता है। 'आसमयमुक्ति' यह उसका विशेषण है।

विशेषार्थ—जिनागममें सामायिक और सामयिक इस तरह दो शब्द प्रचलित हैं। उनमें 'सामायिक' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार है—'**समायः—समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार समाय—समताभावकी प्राप्ति जिसका प्रयोजन है वह सामायिक कहलाता है। मुनिव्रतमें सदा समताभाव धारण करना पड़ता है, इसलिये मुनियोंके पंचविध चारित्रमें सामायिक शब्दका प्रयोग हुआ है। परन्तु गृहस्थ सदाके लिये समताभाव धारण करनेमें असमर्थ रहता है, अतः वह दिनमें दो वार अथवा तीन वार, दो घड़ी, चार घड़ी अथवा छह घड़ीके लिये समस्त पापोंका परित्यागकर समताभाव धारण करता है। समयकी अवधिसे सहित होनेके कारण उसकी यह क्रिया सामयिक शिक्षाव्रत कहलाती है। जितने समयकी अवधि लेकर वह सामयिकमें बैठा है उतने समयके लिये वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख-दुःख, वन्धुवर्ग-शत्रु, संयोग-वियोग आदि इष्टानिष्ट परिणतियोंमें उसे हर्ष-विषाद नहीं होता। तथा पञ्च पापोंका भी वह उतने समयके लिये पूर्णत्यागी होता है। समन्तभद्रस्वामीने इस प्रकरणसम्बन्धी समस्त श्लोकोंमें सामयिक शब्दका ही प्रयोग किया है। इससे जान पड़ता है कि उन्हें शिक्षाव्रतका नाम सामयिक इष्ट है, सामायिक नहीं।
॥ ७ ॥ ९७ ॥

आसमयमुक्तीत्यत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह—

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्य्यङ्कबन्धनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥ ८ ॥

समयज्ञा आगमज्ञाः । समयं जानन्ति । किं तत् ? मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं, बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते मूर्धरुहाणां केशानां बन्धं बन्धकालं समयं जानन्ति । तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थि पर्यङ्कबन्धनं चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्गं उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समयं जानन्ति ॥ ८ ॥

अब आसमयमुक्ति—यहाँ पर जो समय शब्द कहा है उसका व्याख्यान करनेके लिये कहते हैं—

मूर्धरुहेति—(**समयज्ञाः**) आगमके ज्ञाता पुरुष (**मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं**) केश, मुट्ठी और वस्त्रके बन्धके कालको, (**च**) और (**पर्यङ्कबन्धनं**) पालथी बाँधनेके कालको (**वा**) अथवा (**स्थानं**) खड़े होनेके कालको और (**उपवेशनं**) बैठनेके कालको (**समयं**) सामायिकका समय (**जानन्ति**) जानते हैं ।

टीकार्थ—मूर्धरुह, मुष्टि और वासस् इन तीन शब्दोंका द्वन्द्वसमास हुआ है । **'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते'** इस नियमके अनुसार यहाँ द्वन्द्वके अन्तमें श्रूयमाण बन्ध शब्दका सम्बन्ध प्रत्येक शब्दके साथ होता है । अतः मूर्धरुहबन्ध, मुष्टिबन्ध और वासोबन्ध ये तीन शब्द निष्पन्न हुए हैं । बन्धका अर्थ बन्धका काल है । इसी तरह पर्यङ्कबन्धन, स्थान और उपवेशनमें भी उनके कालका ज्ञान ग्राह्य है । जब तक चोटीमें गाँठ लगी है, मुट्ठी बंधी है, वस्त्रमें गाँठ लगी है, पालथी बाँध कर बैठा हूँ, कायोत्सर्ग मुद्रासे खड़ा हूँ अथवा पद्मासनसे बैठा हूँ तब तक सामयिक करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा सामयिक करने वाला करता है । इसलिये इन सबमें जो काल लगता है वही सामयिकका काल कहलाता है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार समयका ज्ञान करनेके लिये आजकल घड़ियोंका प्रचलन चल पड़ा है उस प्रकार पहले इनका प्रचलन नहीं था । पहले समयका ज्ञान करनेके लिये श्रावक सामायिकमें बैठते समय ऐसा विचार कर लेते थे कि जब तक सहज स्वभावसे चोटीकी गाँठ लगी रहेगी, अथवा जब तक मैं मुट्ठी बांध सकूँगा, अथवा जब तक दुपट्टा आदिकी गाँठ सहज स्वभावसे लगी रहेगी, अथवा जब तक मैं पालथी बांधकर निराकुलतासे बैठ सकूँगा अथवा जब तक

निराकुलतासे खड़ा रह सकूँगा अथवा जब तक निराकुलतापूर्वक पद्मासनसे बैठ सकूँगा तब तक सामायिक करूँगा। वही उनका सामायिकका काल कहलाता था।

संस्कृतमें समयका[1] एक अर्थ आचार भी होता, अतः **'समयं जानन्ति समयज्ञाः'** यहाँ पर समयका अर्थ आचार हो सकता है और आचारका अर्थ विधि है। अतः सामयिकके लिये बैठते समय श्रावकको चाहिये कि वह अपने केशों और वस्त्रोंको संभाल कर बाँध ले, जिससे वे बीचमें खुलकर आकुलता उत्पन्न न करें। हाथोंकी अंगुलियोंको खुला न रक्खे किन्तु उनकी अंजलि बाँध ले। आसनोंमें पालथी बाँधना, कायोत्सर्गसे खड़े होना अथवा पद्मासनसे बैठना इन तीन आसनोंमें जिस आसनसे निश्चित समय तक निराकुलतापूर्वक रह सके उस आसनको स्वीकृत करे सामयिकके बीचमें आसनोंमें परिवर्तन न करे।''''श्लोकका एक अर्थ यह भी हो सकता है ॥ ८ ॥ ९८ ॥

एवंविधे[2] समये भवत् यत्सामायिकं पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूपं तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याह—

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९ ॥

परिचेतव्यं वृद्धिं नेतव्यं। किं तत्? सामायिकं। क्व? एकान्ते [3]स्त्रीपशुपाण्डुकिविवर्जिते प्रदेशे। कथंभूते? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदंशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते। क्व? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्गिरिगव्हरादिपरिग्रहः। केन चेतव्यं? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥ ९ ॥

आगे इस प्रकारके समयमें होनेवाला जो सामायिक पाँच प्रकारके पापोंसे सम्पूर्णरूपसे निवृत्त होनेरूप लक्षणसे युक्त है उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना चाहिये, यह कहते हैं—

एकान्त इति—(**सामयिकं**) वह सामयिक (**प्रसन्नधिया**) निर्मल वुद्धिके धारक श्रावकके द्वारा (**एकान्ते**) स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकोंसे रहित प्रदेश

---

१. 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। २. एवंविधसमये घ।
३. 'वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातकपाण्डुकिः सः' इति पाण्डुकिलक्षणम्।

में (**निर्व्याक्षेपे**) चित्तमें चञ्चलता उत्पन्न करनेवाले कारणोंसे रहित स्थानमें (**वनेषु**) वनोंमें (**वास्तुषु च**) मकानोंमें (**वा**) अथवा (**चैत्यालयेषु अपि-च**) मन्दिरोंमें भी (**परिचेतव्यं**) वढ़ानेके योग्य है।

टीकार्थ—पूर्व श्लोकमें सामयिकका काल वतलाया था, इस श्लोकमें साम-यिकका क्षेत्र बताया जा रहा है। सर्वप्रथम सामयिकके लिए एकान्त स्थान होना चाहिये। एकान्तका अर्थ है जो स्त्री, पशु तथा नपुंसकोंसे रहित हो। फिर निर्व्याक्षेप स्थान होना चाहिये अर्थात् जिसमें शीत वायु तथा डांश-मच्छर आदिका उपद्रव न हो, ऐसा स्थान अटवियों, अपने मकानों, मन्दिरों अथवा पर्वतोंकी गुफा आदिमें कहीं भी हो, वहाँ प्रसन्नचित होकर सामयिक करना चाहिये। 'प्रसन्नधिया' शब्दमें 'प्रसन्ना धीर्यस्य स प्रसन्नधीस्तेन' इस प्रकार बहुव्रीहि समास और 'प्रसन्ना चासौ धीश्च इति प्रसन्नधीस्तया' इस प्रकार कर्मधारय समास भी होता है। बहुव्रीहिसमासके पक्षमें 'प्रसन्नधिया आत्मना' इस प्रकार विशेष्यकी कल्पना ऊपरसे करनी चाहिये और कर्मधारयसमासके पक्षमें 'प्रसन्नधिया' पदका हेतुरूपसे व्याख्यान करना चाहिये।

विशेषार्थ—सामयिकको प्रसन्नचित्तसे करना चाहिये, वेगार समझकर नहीं। और उसके लिए बुद्धिपूर्वक ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहाँ किसी प्रकारका उत्पात न हो या चित्तको चञ्चल बनानेवाले कारणोंका प्रसङ्ग उपस्थित न हो। बुद्धिपूर्वक निर्द्वन्द्व स्थानमें सामायिकके लिए वैठ चुकनेपर यदि कोई बाधा उपस्थित होती है तो उसे उपसर्ग समझकर समताभावसे सहन करना चाहिये। ॥ ९ ॥ ९९ ॥

इत्थंभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे [1]चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत्। किं तत्? सामयिकं। कस्यां सत्यां? विनिवृत्त्यां। कस्मात्? व्यापारवैमनस्यात् व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्यं मनोव्यग्रता चित्त-कालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि सत्यां अन्तरात्मविनिवृत्त्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्त-रात्मनो मनोविकल्पस्य विशेषेण निवृत्त्या। कस्मिन् सति तस्यां तया तद्बध्नीयात्? उपवासे [2]चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

१-२. चैकभक्ते वा घ।

इस प्रकारके स्थानोंमें सामयिक किस प्रकार वढ़ाना चाहिये, यह कहते हैं—

व्यापारेति—(**व्यापारवैमनस्यात्**) शरीरादिककी चेष्टा और मनकी व्यग्रता अथवा कलुषतासे (**विनिवृत्यां**) निवृत्ति होनेपर (**अन्तरात्मविनिवृत्या**) मानसिक विकल्पोंकी विशिष्ट निवृत्तिपूर्वक (**उपवासे**) उपवासके दिन (**वा**) अथवा (**एकभुक्ते**) एकाशनके दिन (**च**) और अन्य समय भी (**सामयिकं**) सामयिक (**बध्नीयात्**) करना चाहिये।

टीकार्थ—पिछले दो श्लोकोंमें सामयिकके योग्य काल और क्षेत्रकी चर्चा कर चुकनेके बाद इस श्लोकमें सामायिकके योग्य भावकी चर्चा की जा रही है। सामयिक किस भावमें किस समय वढ़ायी जा सकती है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि व्यापार—शरीर और वचनकी चेष्टा तथा वैमनस्य—मनकी व्यग्रता अथवा मनकी कलुषतासे विनिवृत्ति होनेपर अन्तरात्मा—मानसिक विकल्पोंको विशिष्टरूपसे दूर करते हुए उपवास और एकाशनके दिन विशेषरूपसे सामयिकको वढ़ाना चाहिये। यहाँ चकारका ग्रहण किया है उससे अन्य समयोंका भी समुच्चय होता है अर्थात् उपवास और एकाशनके सिवाय अन्य दिनोंमें भी सामयिकको वढ़ाना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें सामयिकके योग्य भावोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि सामयिकके पहले शरीर तथा वचनकी चेष्टा अर्थात् शरीरका हिलाना-डुलाना तथा वचनका जोरसे उच्चारण और वैमनस्य—मनकी व्यग्रता अथवा कलुषताको दूर करना चाहिये। साथ ही अन्तरात्मा—मनमें जो नाना प्रकारके विकल्प उठते हैं उन्हें विशेषरूपसे दूर करना चाहिये। ऐसे भावोंसे ही सामयिकमें वृद्धि हो सकती है। सामयिककी वृद्धि, उपवास अथवा एकाशनके दिन विशिष्ट रूपसे करना चाहिये ॥ १० ॥ १०० ॥

इत्थंभूतं तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा वेत्यत्राह—

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥ ११ ॥

चेतव्यं वृद्धि नेतव्यं। किं? सामायिकं। कदा? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पर्वदिवस एव। कथं? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव। कथंभूतेन? अनलसेनाऽऽलस्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः। तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा। कुतस्तदित्थं परिचेतव्यं? व्रतपंचकपरिपूरणकारणं यतः व्रतानां हिंसाविरत्यादीनां पंचकं तस्य परि-

पूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं । यथोक्तसामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं ॥ ११ ॥

आगे इस प्रकारका सामयिक क्या कभी—पर्वदिनोंमें करने योग्य है या अन्य प्रकारकी कुछ व्यवस्था है, यह कहते हैं—

सामयिकमिति—(**अनलसेन**) आलस्यसे रहित और (**अवधानयुक्तेन**) चित्तकी एकाग्रतासे युक्त पुरुषके द्वारा (**व्रतपंचकपरिपूरणकारणं**) हिंसात्याग आदि पाँच व्रतोंकी पूर्तिका कारण (**सामयिकं**) सामयिक (**प्रतिदिवसमपि**) प्रतिदिन भी (**यथावद्**) योग्य विधिके अनुसार (**परिचेतव्यं**) बढ़ानेके योग्य है।

टीकार्थ--पिछले श्लोकमें उपवास अथवा एकाशनके दिन सामायिकको बढ़ानेकी बात कही गई थी, इसलिये कोई ऐसा न समझ ले कि सामायिक उसी दिन करनेके योग्य है, अन्य दिनोंमें नहीं। इसका निराकरण करनेके लिये इस श्लोकमें कहा गया है कि सामायिक प्रतिदिन भी शास्त्रोक्त विधिसे करना चाहिये, क्योंकि यह सामायिक हिंसाविरति आदि पांचों व्रतोंकी परिपूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपताका कारण है। सामायिक करनेवाले पुरुषको आलस्यरहित तथा चित्तकी एकाग्रतासे युक्त होना चाहिये।

विशेषार्थ—कितने ही लोग आलस्यके वशीभूत होकर विस्तरपर बैठे-बैठे ही सामायिक करने लगते हैं तथा खड़े होकर चारों दिशाओंमें दण्डवत्, आवर्त तथा शिरोनति नहीं करते हैं। अथवा कुछ लोग ऊँघते-ऊँघते सामायिक करते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्यने 'अनलसेन' विशेषण दिया है जिसका अर्थ होता है कि सामायिक आलस्यरहित होकर करना चाहिये अर्थात् सामायिकके जो अङ्ग आगममें बतलाये गये हैं उन्हें विधिपूर्वक करना चाहिये। कितने ही लोग मालाएँ फेरनेको ही सामायिक समझ लेते हैं। अतः वे चित्तकी स्थिरताकी ओर ध्यान न देकर मात्र चार-छह मालाएँ फेरकर ही अपना सामायिकका काल पूरा कर लेते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्यने 'अवधानयुक्तेन' विशेषण दिया है। अर्थात् सामायिक चित्तकी एकाग्रतासे युक्त होकर करना चाहिये। सामायिकसे हिंसाविरति आदि पांचों व्रतोंमें पूर्णता आती है। फलतः उनमें महाव्रत जैसा व्यवहार होने लगता है। इसलिये सामायिकको न केवल उपवास या एकाशनके दिनमें करना चाहिये, किन्तु प्रतिदिन करना चाहिये और जैसा-तैसा नहीं, किन्तु यथावत्—शास्त्रोक्त विधिका उल्लङ्घन न करते हुए करना चाहिये।

इस श्लोकमें सामायिक करनेवाले पुरुषके लिये जो 'अनलसेन' और 'अवधानयुक्तेन' ये दो विशेषण दिये हैं उनसे सामायिकके योग्य द्रव्यका वर्णन आचार्यने किया है ऐसा जान पड़ता है। और इससे सामायिकका काल, क्षेत्र, भाव तथा द्रव्य इन चारोंकी अपेक्षा वर्णन पूर्ण हो जाता है ॥ ११ ॥ १०१ ॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं ॥ १२ ॥

सामयिके सामायिकावस्थायां । नैव सन्ति न विद्यन्ते । के ? परिग्रहाः सङ्गाः । कथंभूताः ? सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः । कति ? सर्वेऽपि वाह्याभ्यन्तराश्चेतनेतरादिरूपा वा । यत एवं ततो याति प्रतिपद्यते । कं ? यतिभावं यतित्वं । कोऽसौ ? गृही श्रावकः । कदा ? सामायिकावस्थायां । क इव ? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टः उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १२ ॥

आगे सामायिककालमें अणुव्रत महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं, इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

सामयिक इति—(**यतः**) क्योंकि (**सामयिके**) सामायिकके कालमें (**सारम्भाः**) आरम्भसहित (**सर्वेऽपि**) सभी (**परिग्रहाः**) परिग्रह (**नैव सन्ति**) नहीं ही हैं (**ततः**) इसलिये (**तदा**) उस समय (**गृही**) गृहस्थ (**चेलोपसृष्टमुनिरिव**) उपसर्गके कारण वस्त्रसे वेष्टित मुनिके समान (**यतिभावं**) मुनिपनेको (**याति**) प्राप्त होता है।

टीकार्थ—जव गृहस्थ सामायिकमें वैठता है तव उसके खेती आदिके आरम्भसे सहित वाह्य और अन्तरङ्ग तथा चेतन अचेतनके भेदसे सभी प्रकारके परिग्रह नहीं होते, इसलिये उस समय वह उपसर्गसे वस्त्र ओढ़ाये हुए मुनिके समान मुनिपनेको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—सामायिकमें वैठनेवाला गृहस्थ अमुक निश्चित समयके लिये हिंसादि समस्त पापों तथा सव प्रकारके आरम्भोंका त्याग कर चुकता है। उतने समयके लिये वह समस्त परिग्रहोंका भी त्याग कर देता है। यद्यपि पदके अनुरूप शरीरपर वस्त्र धारण किये हुये है तो भी उन वस्त्रोंमें उसके ममत्वभाव नहीं रहता। यदि सामायिकके कालमें कोई दुष्ट मनुष्य उसके शरीरपर स्थित उन वस्त्रोंको निकालनेकी चेष्टा करे तो वह सामायिकसे विचलित नहीं होता। उसको

उस समयकी अवस्था उस मुनिके समान होती है जिसपर किसी दुष्ट मनुष्यने उपसर्ग करनेके लिये वस्त्र ओढ़ा दिया है। ऐसे मुनि बाह्यमें यद्यपि वस्त्र ओढ़े हुये दिखाई देते हैं तथापि वस्त्रके प्रति ममत्वभाव न होनेसे वे वस्त्ररहित ही माने जाते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ भी सामायिकके कालमें यद्यपि अपने पदके अनुरूप वस्त्र धारण किये हुये हैं तथापि उन वस्त्रोंसे उसे ममत्वभाव नहीं रहता। इस प्रकार सामायिक करनेवाला गृहस्थ सब प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होनेके कारण मुनि जैसी अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १०२ ॥

तथा सामायिकं स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह—

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥ १३ ॥

अधिकुर्वीरन् सहेरन्नित्यर्थः । के ते ? सामयिकं प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः । किंविशिष्टाः सन्तः ? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्ठानापरित्यागिनो वा । तथा मौनधरास्तत्पीडायां सत्यामपि क्लीबादिवचनानुच्चारकाः दैन्यादिवचनानुच्चारकाः । कमधिकुर्वीरन्नित्याह—शीतेत्यादि—शीतोष्णदंशमशकानां पीडाकारिणां तत्परि समन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतं ॥ १३ ॥

अब सामयिकको स्वीकृत करनेवाले जो गृहस्थ है वे और भी क्या करते हैं, यह कहते हैं—

शीतोष्णेति—(**सामयिकं**) सामायिकको (**प्रतिपन्ना**) स्वीकृत करनेवाले गृहस्थ (**अचलयोगाः**) स्थिर समाधि अथवा गृहीत अनुष्ठानको न छोड़ते हुए (**मौनधराः**) मौनधारी होकर (**शीतोष्णदंशमशकपरीषहं**) शीत, उष्ण तथा दंशमशक परीषहको (**च**) और (**उपसर्गमपि**) उपसर्गको भी (**अधिकुर्वीरन्**) सहन करें।

टीकार्थ—जिन्होंने सामायिकको स्वीकृत किया है ऐसे गृहस्थोंको अपने योग—ध्यानमें स्थिर रहकर तथा पीड़ाकारक परिस्थितिके आनेपर भी अपनी गृहीत प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होते हुए मौनधारी बनकर शीत, उष्ण तथा तिर्यंचोंके द्वारा किये हुए उपसर्गको सहन करना चाहिये।

विशेषार्थ—सामायिकमें बैठनेपर यदि सर्दी, गर्मीकी बाधा आती है, डंस-मच्छरोंका उपद्रव होता है अथवा दुष्ट देव, मनुष्य या तिर्यंचोंके द्वारा कोई

उपसर्ग किया जाता है तो उसे दीनताके वचन न कहते हुए चुपचाप सहन करना चाहिये तथा अपनी गृहीत प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होना चाहिये। ॥ १३ ॥ १०३ ॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिता एवंविधं संसारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥ १४ ॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु । कं ? भवं स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटनं। कथंभूतं ? अशरणं न विद्यते शरणमपायपरिरक्षकं यत्र । अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं । तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं । तथा दुःखहेतुत्वाद्दुःखं । तथानात्मानमात्मस्वरूपं न भवति। एवंविधं भवमावसामि एवंविधे भवे तिष्ठामीत्यर्थः । यद्येवंविधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादिस्वरूपः इत्येवं ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः ॥ १४ ॥

अब आगे सामायिकमें स्थित मनुष्य संसार और मोक्षके इस प्रकारके स्वरूपका चिन्तन करें, यह कहते हैं—

अशरणमिति—(**सामयिके**) सामायिकमें (**स्थिताः**) स्थित मनुष्य (**इति**) इस प्रकार (**ध्यायन्तु**) ध्यान करें कि मैं (**अशरणं**) शरण रहित (**अशुभं**) अशुभ (**अनित्यं**) अनित्य (**दुःखं**) दुःखस्वरूप और (**अनात्मानं**) अनात्मस्वरूप (**भवं**) संसारमें (**आवसामि**) निवास करता हूँ और (**मोक्षः**) मोक्ष (**तद्विपरीतात्मा**) उससे विपरीत स्वरूपवाला है।

टीकार्थ—अपने द्वारा गृहीत कर्मोंके वशसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना भव कहलाता है। मैं जिस भवमें रह रहा हूँ वह अशरण है—इसमें मृत्युसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। अशुभ कारणोंसे उत्पन्न होने तथा अशुभ कार्यको करनेके कारण अशुभ है। चारों गतियोंमें परिभ्रमणका काल नियत होनेसे अनित्य है। दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप है और आत्मस्वरूपसे भिन्न होनेके कारण अनात्मा है। सामायिकमें स्थित मनुष्य इस प्रकार संसारके स्वरूपका विचार करे और मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् शरण है, शुभ है, नित्य है, सुखरूप है तथा आत्मस्वरूप है, इस प्रकार मोक्षके स्वरूपका विचार करें।

विशेषार्थ—सामायिकके समय तत्त्व-चिन्तन होना चाहिये। तत्त्वोंमें प्रमुख जीवतत्त्व है और जीवतत्वकी संसार तथा मोक्षके भेदसे दो अवस्थाएँ हैं। इन दोनों अवस्थाओंका चिन्तन करते हुए संसार और मोक्षकी विशेषताका विचार किया जाता है। संसारकी विशेषताओंका चिन्तन करते हुए विचार करना चाहिये कि यह संसार अशरण, अशुभ, अनित्य, दुःखरूप तथा अनात्मा है अर्थात् आत्माकी शुद्ध अवस्था नहीं है। परन्तु मोक्ष इससे विपरीत शरण, शुभ, नित्य, सुखरूप तथा आत्मा है—आत्माकी शुद्ध अवस्था है। ऐसा विचार करनेसे संसारसे उपेक्षा और मोक्षके प्रति आदरका भाव उत्पन्न होता है। जीवकी यह संसार अवस्था, कर्म-नोकर्मरूप अजीवके सम्बन्धसे हुई है और वह सम्बन्ध भी आस्रव तथा बन्धके कारण हुआ है। इस तरह संसारके स्वरूप-चिन्तनके अन्तर्गत अजीव, आस्रव और बन्ध तत्वका चिन्तन आता है। और मोक्ष अवस्था, कर्म-नोकर्मरूप अजीवके साथ जीवका सम्बन्ध विघट जानेसे होती है और वह सम्बन्धका विघटन संवर तथा निर्जराके द्वारा होता है। इस तरह मोक्षके स्वरूप-चिन्तनके अन्तर्गत संवर और निर्जरा तत्वका चिन्तन आता है ॥१४॥१०४॥

साम्प्रतं सामायिकस्यातीचारानाह—

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १५ ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते। के ते? अतिगमा अतिचाराः। कस्य? सामयिकस्य। कति? पंच। कथं? भावेन परमार्थेन। तथा हि। वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि। अनादरोऽनुत्साहः। अस्मरणमनैकाग्रचम् ॥ १५ ॥

अब सामयिकके अतिचार कहते हैं—

वाक्कायेति—(वाक्कायमानसानां) वचन, काय और मनके (दुष्प्रणिधानानि) दुष्प्रणिधान अर्थात् वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, (अनादरस्मरणे) अनादर और अस्मरण [इति] ये (पञ्च) पांच (भावेन) परमार्थसे (सामयिकस्य) सामयिकके (अतिगमाः) अतिचार (व्यज्यन्ते) प्रकट किये जाते हैं।

टीकार्थ—वचन, काय और मन ये तीन योग हैं। इनकी खोटी प्रवृत्ति करनेको दुष्प्रणिधान कहते हैं। इस तरह तीन योग सम्बन्धी खोटी प्रवृत्तिके कारण

तीन अतिचार होते हैं। अनादरका अर्थ अनुत्साह है और अस्मरणका अर्थ एकाग्रताका अभाव है। सब मिलाकर सामायिकके पाँच अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—मन्त्र या सामायिक पाठ आदिका उच्चारण करते समय अशुद्ध उच्चारण करना **वचनदुष्प्रणिधान** कहलाता है। शरीरको हिलाना-डुलाना, इधर-उधर देखना, डांस-मच्छरको भगाना तथा बीचमें आसन बदलना यह सब **कायदुष्प्रणिधान** है और मनको तत्त्वचिन्तनसे हटाकर इधर-उधरके अन्य विषयोंमें लगाना **मनोदुष्प्रणिधान** है। वेगार समझकर अनुत्साहसे सामायिक करना **अनादर** कहलाता है। चार आदमियोंकी सुखद गोष्ठी चल रही है। इतनेमें सामयिकका समय हो गया। इस स्थितिमें गोष्ठीको छोड़कर अनादरसे सामयिक करने पर अनादर नामका अतिचार बनता है। चित्तकी एकाग्रता न होनेसे मन्त्र या सामयिकपाठ आदिको भूल जाना **अस्मरण** कहलाता है। जब इन पाँच अतिचारोंको भावपूर्वक बचानेका प्रयत्न किया जाता है तभी निरतिचार सामयिक शिक्षाव्रत होता है। ऊपर कहे हुए पाँच अतिचारोंमें यद्यपि मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचारको बचाना कठिन कार्य है तथापि अभ्यासपूर्वक वह बचाया जा सकता है। उसके विषय-में कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषायमूलकके भेदसे दो प्रकारका होता है। मनकी जो साधारण चञ्चलता है वह योगमूलक दुष्प्रणि-धान है और बुद्धिपूर्वक किसीके इष्ट-अनिष्टका चिन्तन करनेसे जो चञ्चलता होती है वह कषायमूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम कषायमूलक दुष्प्रणिधान-को दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् सामायिकमें बैठकर किसीके इष्ट-अनिष्टका विचार नहीं करना चाहिये। तदनन्तर योगमूलक दुष्प्रणिधानको दूर करनेका प्रयास करना चाहिये। सामायिकमें जो मन्त्र या पाठ बोला जाता है उसके अर्थकी ओर लक्ष्य करनेसे यह योगमूलक वचन दुष्प्रणिधान भी दूर किया जा सकता है। धर्म्यध्यानके जो आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे अनेक भेद बताये गये हैं उनका चिन्तन करनेसे भी चित्तकी एकाग्रता हो जाती है—अतः सामयिकके साथ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये॥ १५॥१०५॥

अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणः प्राह—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु[1]।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥ १६ ॥

१. तुशब्दः पादपूर्त्यर्थः

प्रोषधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः। कदा? पर्वणि चतुर्दश्यां। न केवलं पर्वणि, अष्टम्यां च। किं पुनः प्रोषधोपवासशब्दाभिधेयं ? प्रत्याख्यानं । केषां ? चतुरभ्यवहार्याणां चत्वारि अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणानि तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां । किं कस्यांचिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह—सदा सर्वकालं । काभिः इच्छाभिर्व्रतविधानवाञ्छाभिस्तेषां प्रत्याख्यानं न पुनर्व्यवहार[1]कृतधरणकादिभिः ॥ १६ ॥

अब आगे प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रतका व्याख्यान करते हुए कहते हैं—

पर्वण्यष्टम्यामिति—(पर्वणि) चतुर्दशी (च) और (अष्टम्यां) अष्टमीके दिन (सदा) सर्वदाके लिये (इच्छाभिः) व्रतविधानकी वाञ्छासे (चतुरभ्यवहार्याणां) चार प्रकारके आहारोंका (प्रत्याख्यानं) त्याग करना (प्रोषधोपवासः) प्रोषधोपवास (ज्ञातव्यः) जानना चाहिये।

टीकार्थ—अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे आहारके चार भेद हैं। इन चारों प्रकारके आहारोंका प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीके दिन व्रतविधानकी इच्छासे त्याग करना प्रोषधोपवास जानना चाहिये। यहाँ 'सदा' शब्दके देनेसे यह बात सिद्ध की गई है कि यह चार प्रकारके आहारका त्याग सदाके लिये—जीवनपर्यन्तकी अष्टमी-चतुर्दशीके लिये होना चाहिए, न कि दो-चार माहकी अष्टमी-चतुर्दशीके लिए। इसी प्रकार 'इच्छाभिः' पद देनेसे यह सिद्ध किया गया है कि यह त्याग व्रतधारण करनेकी भावनासे होना चाहिये, न कि लोकव्यवहारमें किये हुए धरणा आदिकी भावनासे। अपनी किसी मांगको स्वीकृत करानेके लिये जो आहारका त्याग किया जाता है उसे धरणा कहते हैं। धरणा देनेके लिए किया गया आहारत्याग प्रोषधोपवासमें सम्मिलित नहीं है।

विशेषार्थ—मुनिव्रतमें पराश्रित भोजन होनेके कारण चाहे जब निराहार रहना पड़ता है। यदि गृहस्थ अवस्थामें निराहार रहनेका अभ्यास नहीं किया है तो मुनिपदमें निराहार रहनेका अवसर आनेपर संक्लेश होगा, इसलिए गृहस्थको यह आवश्यक नियम रखा गया है कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको चार प्रकारके आहारका बुद्धिपूर्वक त्यागकर निराहार रहनेकी शिक्षा ग्रहण करे। दाल, भात, रोटी आदि अशन कहलाते हैं; पानी, दूध आदि पेय पदार्थ पान कहलाते हैं; लड्डू, पेड़ा, बरफी आदि खाद्य कहलाते हैं और चाटने योग्य रबड़ी आदि लेह्य कहलाते हैं। प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीको इन चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है। प्रोषधोपवास पदका शब्दार्थ ग्रन्थकर्ता १९वें श्लोकमें स्वयं करेंगे। जैनधर्ममें अष्टमी और चतुर्दशीको अनादिनिर्द

---

१. न पुनर्व्यवहारे कृवसाकादिभिः (?) घ ।

माना गया है। प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार चार पर्व आते हैं। इन पर्वोंके दिन व्रत धारणकी इच्छासे चार प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिये। यह त्याग सदाके लिए अर्थात् जीवनपर्यन्तके लिये होता है, समयकी अवधि लेकर नहीं होता। कुछ टीकाकार 'सदेच्छाभिः' के स्थानपर 'सदिच्छाभिः' पाठ की कल्पना कर उसकी व्याख्या करते हैं—प्रशस्त अभिप्रायसे। परन्तु संपादनके लिये प्राप्त प्रतियोंमें 'सदेच्छाभिः' यही पाठ मिलता है तथा संस्कृत-टीकाकारने भी 'सदेच्छाभिः' पदकी ही टीका की है। इसलिये नवीन पाठकी कल्पना करना उचित नहीं मालूम होता। प्रोपधोपवास तप-का रूप है और तप शक्तिके अनुसार किया जाता है। मनुष्यकी शक्ति सदा एक-सी नहीं रहती, अवस्थाके अनुसार परिवर्तित होती रहती है। ऋतुचक्रका भी मनुष्यकी शक्तिपर प्रभाव पड़ता है। इसलिये पीछे चलकर आचार्योंने प्रोप-धोपवासव्रतको उपवास, अनुपवास तथा एकाशन नाम देकर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदोंमें विभक्त कर दिया है। चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है, सिर्फ पानी लेना अनुपवास है और एक बार भोजन करना एकाशन है ॥ १६ ॥ १०६ ॥

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याह—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १७ ॥

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात्। केषां ? पंचानां हिंसादीनां। तथा अलंक्रियारंभगंधपुष्पाणां अलंक्रिया मण्डनं आरंभो वाणिज्यादिव्यापारः गन्धपुष्पाणा-मित्युपलक्षणं रागहेतूनां गीतनृत्यादीनां। तथा स्नानाञ्जननस्यानां स्नानं च अञ्जनं च नस्यञ्च तेषाम् ॥ १७ ॥

आगे उपवास करनेवाले व्यक्तिको उपवासके दिन क्या करना चाहिये, यह कहते हैं—

पञ्चानामिति—(उपवासे) उपवासके दिन (पञ्चानां पापानां) पांच पापों (अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणां) अलंकार धारण करना, खेती आदिका आरम्भ करना, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थोंका लेप करना, पुष्पमालाएँ धारण करना या पुष्पोंको सूंघना (स्नानाञ्जनस्यानां) स्नान करना, अञ्जन—काजल, सुरमा आदि लगाना तथा नाकसे नास आदिका सूंघना इन सबका (परिहृतिं) परित्याग (कुर्यात्) करना चाहिये।

टीकार्थ—उपवास करनेवाले व्यक्तिको चाहिये कि वह उपवासके दिन हिंसा, असत्य चौर्य, कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंका त्याग करे। शरीरकी सजावट, वाणिज्य आदि व्यापार, तथा गन्धपुष्प आदिके प्रयोग और स्नान, अञ्जन तथा नास आदिके सेवनका परिहार—परित्याग करे। यह सब उपलक्षण है, अतः गीत नृत्य आदि रागके कारणोंका भी त्याग आ जाता है।

विशेषार्थ—[1]उपवासका मूल उद्देश्य कषाय, विषय और आहारका त्याग करना है। जिसमें मात्र आहारका त्याग किया जाता है कषाय और विषयों—स्पर्शनादि पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग नहीं किया जाता वह उपवास नहीं कहलाता, किन्तु लङ्घन कहलाती है। इसी उद्देश्यको चरितार्थ करनेके लिये आचार्यने उपवासके दिन न करने योग्य कार्योंका निर्देश किया है। न करने योग्य कार्योंमें स्नानका भी निषेध बतलाया है सो यहाँ स्नान-शब्दसे तेल तथा उद्धर्तन आदि लगाकर किये जानेवाले विशिष्ट स्नानका त्याग समझना चाहिये। शुद्ध प्रासुक जलसे किये हुए साधारण स्नानका निषेध नहीं है क्योंकि उसके विना जिनेन्द्र भगवान्‌का अभिषेक तथा पूजन आदिकी क्रिया नहीं हो सकती। श्लोकमें जिन कार्योंके न करनेके लिये आचार्यने निर्देश किया है वे उपलक्षणमात्र हैं। इसलिये रागवर्धक गीत, नृत्य आदिका भी उस दिन त्याग करना चाहिये, यह सिद्ध होता है। ॥१७॥१०७॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमित्याह—

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १८ ॥

उपवसन्नुपवासं कुर्वन् । धर्मामृतं पिबतु धर्म एवामृतं सकलप्राणिनामाप्यायकत्वात् तत् पिबतु । काभ्यां ? श्रवणाभ्यां । कथंभूतः ? सतृष्णः साभिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात् । पाययेद् वान्यान् स्वयमेवावगतधर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृतं पिबन् अन्यानविदिततत्त्वस्वरूपान् पाययेत् तत् । ज्ञानध्यानपरो भवतु, ज्ञानपरो द्वादशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठः ।

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

---

१. कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥

ध्यानपरः आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्याननिष्ठो वा भवतु। किंविशिष्टः ? अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥ १८ ॥

अब इनका त्यागकर उपवासके दिन क्या करना चाहिये, यह कहते हैं—

धर्मामृतमिति—(**उपवसन्**) उपवास करनेवाला व्यक्ति (**सतृष्णः**) उत्कण्ठित [**सन्**] होता हुआ (**श्रवणाभ्यां**) कानोंसे (**धर्मामृतं**) धर्मरूपी अमृतको (**पिबतु**) स्वयं पीवे (**वा**) अथवा (**अन्यान्**) दूसरोंको (**पाययेत्**) पिलावे (**वा**) अथवा (**अतन्द्रालुः**) आलस्य रहित होता हुआ (**ज्ञानध्यानपरः**) ज्ञान और ध्यानमें तत्पर (**भवतु**) होवे।

टीकार्थ—समस्त प्राणियोंके संतोषका कारण होनेसे धर्मको अमृत कहा जाता है। उपवास करनेवाला व्यक्ति यदि धर्मका विशेष ज्ञाता नहीं है तो वह बड़ी उत्सुकतापूर्वक दूसरे विशिष्ट ज्ञानी जनोंके मुखसे होनेवाले धर्मोपदेशको अपने कानोंसे सुने और यदि स्वयं विशिष्ट ज्ञानी है तो वह दूसरोंको धर्मोपदेश सुनावे। इसके अतिरिक्त आलस्यको जीतता हुआ स्वयं ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहे। स्वाध्यायमें लीन रहता हुआ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह भावनाओंके चिन्तनमें दत्तचित्त रहे। अथवा आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार धर्म्यध्यानोंमें तत्पर रहे।

विशेषार्थ—उपवासके पूर्व दिनमें मध्याह्नका भोजन करनेके बाद उपवासका नियम लेकर सब प्रकारके आरम्भका त्याग करना चाहिये। यहाँ तक कि शरीरादिकमें भी ममत्वभाव नहीं रखना चाहिये। एकान्त वसतिकामें जाकर समस्त पापपूर्ण योगका त्याग करे, समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त हो और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्तिका पालन करता हुआ रहे। धर्मध्यानमें लीन होता हुआ दिनका शेष भाग व्यतीत करे। फिर संध्याकालीन सामायिक कर स्वाध्यायसे निद्राको जीतता हुआ पवित्र संस्तरपर रात्रिको व्यतीत करे। उपवासके दिन प्रातःकाल उठकर प्रातःकालीन सामायिक आदि क्रियाओंको करके प्रासुक द्रव्यसे जिनेन्द्रभगवान्‌की पूजा करे। तदन्तर स्वाध्याय और ध्यानके द्वारा समस्त दिन, रात्रि और तृतीय दिनके अर्धभागको व्यतीत करे। इसप्रकार समस्त पापकार्योंसे निवृत्त होकर जो सोलह पहरोंको व्यतीत करता है उसके पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। देशव्रती श्रावकोंके भोगोपभोगमूलक ही स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है। परन्तु उपवासके दिन भोगोपभोगका त्याग हो चुकता है, इसलिये हिंसाका अंश भी उनके नहीं होता। वचनगुप्ति होनेसे

असत्य पापसे निवृत्ति है, सब प्रकारकी वस्तुओंके ग्रहणका अभाव होनेसे चोरी-से निवृत्ति है, मैथुनका त्याग होनेसे अब्रह्म पापसे निवृत्ति है और शरीरमें भी जब मूर्च्छा—ममताभावसे रहित है तब परिग्रहसे निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार समस्त हिंसादि पापोंसे रहित वह प्रोषधोपवास करनेवाला व्यक्ति उपचारसे महाव्रती अवस्थाको प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्याख्यानावरणनामका चारित्र-मोहका उदय रहनेके कारण वह संयमके स्थानको प्राप्त नहीं होता* ।१८।।१०८।।

अधुना प्रोषधोपवासस्य लक्षणं कुर्वन्नाह—

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १९ ॥

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः । अशनं हि भक्तमुद्गादि, पानं हि पेयमपितादि, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं रब्रादि, तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासोऽभिधीयते । प्रोषधः पुनः सकृद्भुक्तिर्धारणकदिने एकभक्तविधानं । यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारणकदिने आरम्भं सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति ॥१९॥

---

* मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे ।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥ १५२ ॥
श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥ १५३ ॥
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥ १५४ ॥
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥ १५६ ॥
इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥ १५७ ॥
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥ १५८ ॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥ १५९ ॥
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥ १६० ॥

अब प्रोषधोपवासका लक्षण करते हुए कहते हैं—

चतुराहारेति—(**चतुराहारविसर्जनं**) चार प्रकारके आहारका त्याग करना (**उपवासः**) उपवास है (**सकृद्भुक्तिः**) एक बार भोजन करना (**प्रोषधः**) प्रोषध है और (**यत्**) जो (**उपोष्य**) उपवास करनेके बाद पारणाके दिन (**आरम्भं आचरति**) एक बार भोजन करना है (**सः**) वह (**प्रोषधोपवासः**) प्रोषधोपवास है।

टीकार्थ—अशन, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे आहार चार प्रकारका होता है। भात, मूँग आदि अशन कहलाते हैं, छांछ आदि पीने योग्य पदार्थ पान कहलाते हैं, लाडू आदि खाद्य कहलाते हैं और रवड़ी आदि चाँटने योग्य पदार्थ लेह्य कहलाते हैं। इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास कहलाता है। एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है और धारणा तथा पारणाके दिन एकाशनके साथ पर्वके दिन जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। '**प्रोषधाभ्यां धारणकपारणकदिने सकृद्भुक्तिभ्यां सह उपवासः प्रोषधोपवासः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार धारणा और पारणाके दिन एकाशन करते हुए अष्टमी तथा चतुर्दशीको उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

विशेषार्थ—श्री समन्तभद्रस्वामी प्रोषधोपवासका लक्षण इस परिच्छेदके १६ वें श्लोकमें लिख चुके हैं और उसके बादके दो श्लोकोंमें उपवासके दिन न करने योग्य तथा करने योग्य क्रियाओंका वर्णन कर चुके हैं। अब इस श्लोकमें उन्होंने पुनः उपवास, प्रोषध और प्रोषधोपवासका लक्षण लिखा है जो कि 'पुनरुक्त-सा प्रतीत होता है। यहाँ उपवासका लक्षण तो वही है जो कि १६ वें श्लोकमें लिखा है परन्तु प्रोषधका लक्षण अतिरिक्त लिखा है और प्रोषधोंके साथ जो उपवास है उसे प्रोषधोपवास कहा है।[1] अन्य ग्रन्थोंमें प्रोषधका अर्थ पर्व—अष्टमी चतुर्दशी लिखा है। अतः पर्वके दिन किया हुआ उपवास प्रोषधोपवास कहलाता है। वहाँ धारण और पारणाके दिन एकाशन करनेकी चर्चा नहीं है। यहाँ

---

१. 'प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसन्तीत्युपवासः। चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवास।'—सर्वार्थसिद्धि, 'प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः'—तत्त्वार्थराजवार्तिक, 'प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः'—श्लोकवार्तिक, 'पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च'—यशस्तिलकचम्पू, 'प्रोषधः पर्वपर्यायवाची, पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः'—चारित्रसार।

इस श्लोकमें धारणा और पारणाके दिन एकाशनकी भी चर्चा की गई है। जान पड़ता है कि समन्तभद्रस्वामीने इस श्लोकमें किसी अन्य मान्यताका उल्लेख किया है। धारणाके दिन एकाशन करनेकी चर्चा तो पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्रस्वामीने भी की है। उन्होंने प्रोषधोपवासके १६ पहरोंका विवरण देते हुए लिखा है कि उपवासके पूर्व दिन मध्याह्नका भोजन करनेके वाद उपवासका नियम लेकर एकान्तवसतिकामें चला जाना चाहिये। इस संदर्भमें उन्होंने तृतीय दिनके मध्याह्न तकका कार्य विवरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि धारणाके दिन एकाशन किया जाता था। परन्तु पारणाके दिन एकाशन की चर्चा अन्यत्र देखनेमें नहीं आयी। इस श्लोकमें आरम्भका अर्थ संस्कृत-टीकाकारने 'सक्रुद्भुक्ति' किया है। पर आरम्भका अर्थ 'सक्रुद्भुक्ति' कैसे हो गया, यह वुद्धिमें नहीं आता। आरम्भका अर्थ तो आरम्भ ही है। उपवासके पूर्वदिन मध्याह्नके भोजनके वाद उपवासका नियम लेकर **'मुक्तसमस्तारम्भ'** हुआ था, अव सोलह पहरके वाद वह आरम्भ-गृहस्थीके अन्य कार्य करनेके लिये स्वतन्त्र हो जाता है। यह अर्थ प्रसङ्गानुसार संगत प्रतीत होता है। वर्त्तमानमें उपवासके तीन रूप प्रचलित हैं—(१) सोलह पहरका, (२) वारह पहरका और (३) आठ पहरका। सोलह पहरका उपवास पूर्वदिनके मध्याह्नके भोजनके वाद शुरू होता है और तृतीय दिनके दोपहर तक चलता है। वारह पहरका उपवास पूर्वदिनके शामके भोजनके वाद शुरू होता है और तृतीय दिनके सूर्योदय तक चलता है। और आठ पहरका उपवास सूर्योदयके समयसे लेकर आगामी दिनके सूर्योदय तक चलता है। ॥ १९ ॥ १०९ ॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याह—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥ २० ॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलंघनपंचकमतिचारपंचकं। तदिदं पूर्वार्धप्रतिपादितप्रकारं। तथा हि। ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि। कथंभूतानि ? अदृष्टमृष्टानि दृष्टं दर्शनं जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषावलोकनं मृष्टं मृदूपकरणेन प्रमार्जनं तद्द्वौ न विद्येते येषु ग्रहणादिषु तानि तथोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरिधानाद्यर्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं संस्तरोपक्रमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षापीडितत्वादनादरोऽनैकाग्रतालक्षणमस्मरणं च भवति ॥ २० ॥

आगे इस प्रोषधोपवासके अतिचार कौन हैं, यह कहते हैं—

ग्रहणेति—(यत्) जो (**अदृष्टमृष्टानि**) विना देखे तथा विना शोधे (**ग्रहणविसर्गास्तरणानि**) पूजा आदिके उपकरणोंको ग्रहण करना, मलमूत्रादिको छोड़ना और संस्तर आदिको विछाना तथा (**अनादरास्मरणे**) अनादर और अस्मरण हैं (**तदिदं**) वे ये (**प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं**) प्रोषधोपवासव्रतके पांच अतिचार हैं।

टीकार्थ—यहाँ जीव-जन्तु हैं या नहीं, इस प्रकार चक्षुसे देखना दृष्ट कहलाता है और कोमल उपकरणसे प्रमार्जन करना मृष्ट कहलाता है। जिसमें ये दोनों न हों उसे अदृष्टमृष्ट कहते हैं। अदृष्टमृष्टशब्दका संबन्ध ग्रहण, विसर्ग और आस्तरण इन तीनोंके साथ होता है इसलिए अदृष्टमृष्टग्रहण, अदृष्टमृष्टविसर्ग और अदृष्टमृष्टास्तरण ये तीन अतिचार होते हैं। **अदृष्टमृष्टग्रहण** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होकर अर्हन्त आदिकी पूजाके उपकरण तथा अपने वस्त्र आदिको विना देखे और विना शोधे ग्रहण करता है। **अदृष्टमृष्टविसर्ग** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होनेके कारण विना देखी, विना शोधी भूमिमें मलमूत्र छोड़ता है और **अदृष्टमृष्टास्तरण** अतिचार उसके होता है जो भूखसे पीड़ित होनेके कारण विना देखे, विना शोधे स्थानपर विस्तर आदि विछाता है। इन तीनके सिवाय **अनादर** और **अस्मरण** ये दो अतिचार और होते हैं। जिसमें अनादरका अर्थ है भूखसे पीड़ित होनेके कारण आवश्यक कार्योंमें आदर नहीं करना अर्थात् उन्हें उपेक्षाभावसे करना और अस्मरणका अर्थ है अनैकाग्रता अर्थात् चित्तमें एकाग्रता नहीं होना।

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्रकारने भी इस व्रतके ये ही पाँच अतिचार बतलाये हैं, मात्र शब्दोंमें अन्तर है, भावमें नहीं। जैसे—१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग २. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान ३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण ४. अनादर और ५. अस्मरण। अनादर और अस्मरण ये दो अतिचार सामयिक शिक्षाव्रतमें भी आते हैं। वहाँ सामयिकसे उनका सम्बन्ध है, यहाँ प्रोषधोपवाससे सम्बन्ध है। अनादरका एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि कोई व्यक्ति उपवास करता तो है परन्तु अनादर—अनुत्साहपूर्वक करता है। जैसे—ग्रीष्म ऋतुमें उपवास की शक्ति क्षीण हो जानेसे कोई प्रतिज्ञापूर्तिके लिए उपवास करता है, उत्साहपूर्वक नहीं। इसी प्रकार अस्मरणका एक अर्थ यह भी उचित जान पड़ता है कि पर्वके दिनका स्मरण नहीं रखना। जैसे—अष्टमी, चतुर्दशीके निकल जानेपर

कोई किसीसे पूछता है कि आज अष्टमी तो नहीं है, चतुर्दशी तो नहीं है ? इस तरह समयान्तरमें पर्वके दिनका उपवास करता है ॥ २० ॥ ११० ॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ २१ ॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते । कस्मै दानं ? तपोधनाय तप एव धनं यस्य तस्मै । किंविशिष्टाय ? गुणनिधये गुणानां सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै । तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय । किमर्थं ? धर्माय धर्मनिमित्तं । किंविशिष्टं तद्दानं ? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचारः प्रतिदानं उपक्रिया मंत्रतंत्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन । कथं तद्दानं ? विधिद्रव्यादिसम्पदा ॥ २१ ॥

अब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रतके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं—

दानमिति—(तपोधनाय) तपरूप धनसे युक्त तथा (गुणनिधये) सम्यग्दर्शनादिगुणोंके भाण्डार (अगृहाय) गृहत्यागी—मुनीश्वरके लिए (विभवेन) विधि, द्रव्य आदि सम्पत्तिके अनुसार (अनपेक्षितोपचारक्रियम्) प्रतिदान और प्रत्युपकारकी अपेक्षासे रहित (धर्माय) धर्मके निमित्त जो (दानं) दान दिया जाता है वह (वैयावृत्यं) वैयावृत्य [कथ्यते] कहलाता है ।

टीकार्थ—तप ही जिनका धन है तथा सम्यग्दर्शनादिगुणोंके जो निधिआश्रय हैं ऐसे भाव आगार और द्रव्य आगारसे रहित मुनीश्वरके लिए उपचार—प्रतिदान तथा उपक्रिया—प्रत्युपकारकी भावनासे रहित अपनी विधि, द्रव्य आदि संपदाके अनुसार जो आहार आदिका दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है ।

विशेषार्थ—'व्यावृत्तिः दुःखनिवृत्तिः प्रयोजनं यस्य तत् वैयावृत्यं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं । अन्य आचार्योने वैयावृत्यके स्थानपर अतिथिसंविभागशब्द रखा है । अतिथि-संविभाग व्रतमें जिस प्रकार अतिथिके लिए दानकी प्रधानता है उसी प्रकार वैयावृत्यमें भी दानकी प्रधानता है क्योंकि आहार आदि दानके द्वारा अतिथिकी दुःखनिवृत्तिका ही प्रयोजन सिद्ध होता है । फिर अतिथिसंविभागशब्दको परिवर्तित करनेका प्रयोजन क्या है ? यह प्रश्न उठता है । उसका उत्तर यह है कि अतिथिसंविभागशब्दमें मात्र चार प्रकारके दानोंका समावेश होता है उसके अतिरिक्त संयमीजनोंकी जो सेवा-शुश्रूषा है उसका समावेश नहीं होता । परन्तु

वैयावृत्यशब्दमें दान और सेवा-शुश्रूषा सबका समावेश होता है। इसलिए समन्तभद्रस्वामीने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्दको स्वीकृत किया है।

दान देते समय पात्रका विचार करना आवश्यक है। इसलिये पात्रका विचार करते हुए आचार्यने तीन विशेषण दिये हैं—'तपोधनाय', 'गुणनिधये', और 'अगृहाय'। पात्र वही हो सकता है जो तपस्वी हो, सम्यग्दर्शनादिगुणोंका आधार हो और गृहत्यागी हो। दान देते समय यही एक उद्देश्य होना चाहिये कि इससे रत्नत्रयरूप धर्मकी वृद्धि हो। दानके बदले मुनीश्वर हमें कुछ देवें अथवा मन्त्र, तन्त्र आदिके द्वारा हमारा कुछ प्रत्युपकार करें ऐसी भावना नहीं रखना चाहिये। इसके सिवाय दान अपने विभव—सामर्थ्यके अनुसार देना चाहिये, क्योंकि सामर्थ्यका उलङ्घनकर जो दान दिया जाता है वह संक्लेशका कारण होता है ॥ २१ ॥ १११ ॥

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपि तु—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ २२ ॥

व्यापत्तयो विविधा व्याध्यादिजनिता आपदस्तासां व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटनं यत्तद्वैयावृत्यमेव। तथा पदयोः संवाहनं पादयोर्मर्दनं। कस्मात्? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः—न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्यं किन्तु अन्योऽपि संयमिनां देश[1]सकलव्रतानां सम्बन्धी यावान् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते ॥ २२ ॥

आगे केवल दान ही वैयावृत्य नहीं कहलाता है किन्तु संयमीजनोंकी सेवा भी वैयावृत्य कहलाता है, यह कहते हैं—

व्यापत्तिव्यापनोद इति—(**गुणरागात्**) सम्यग्दर्शनादिगुणोंकी प्रीतिसे (**संयमिनां**) देशव्रत और सकलव्रतके धारक संयमीजनोंकी (**व्यापत्तिव्यापनोदः**) आई हुई नाना प्रकारकी आपत्तिको दूर करना (**पदयोः**) पैरोंका, उपलक्षणसे हस्तादिक अङ्गोंका (**संवाहनं**) दावना (**च**) और इसके सिवाय (**अन्योऽपि**) अन्य भी (**यावान्**) जितना (**उपग्रहः**) उपकार है (**सः**) वह सब (**वैयावृत्यम्**) वैयावृत्य (**उच्यते**) कहा जाता है।

टीकार्थ—देशव्रती और सकलव्रतीके भेदसे संयमी दो प्रकारके हैं। इनके

१. देशसकलयत्तीनां घ।

ऊपर यदि बीमारी आदि नाना प्रकारकी आपत्तियाँ आई हैं तो उन्हें गुणानुराग-से प्रेरित होकर दूर करना, उनके पैर आदि अङ्गोंका मर्दन करना तथा इसके सिवाय और भी जितनी कुछ समयानुकूल सेवा है वह सब वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत है। यह वैयावृत्य व्यवहार अथवा किसी दृष्टफलकी अपेक्षासे न होकर मात्र गुणानुराग अर्थात् भक्तिके वशसे की जाती है।

विशेषार्थ—मुनियोंके योग्य छह अन्तरङ्गतपोंमें एक वैयावृत्यनामका तप है जिसका अर्थ होता है बालक, वृद्ध अथवा ग्लान-रुग्ण आदि मुनियोंकी सेवा कर उन्हें मार्गमें स्थिर रखना। परस्परकी सहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्तिसे ही चतुर्विध मुनिसंघका निर्वाह होता है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंका वैयावृत्य करनेसे वैयावृत्य तपके दस भेद होते हैं। गृहस्थ मुनिधर्मकी शिक्षा लेनेके उद्देश्यसे शिक्षाव्रतोंका पालन करता है, इसलिये उसके शिक्षाव्रतोंमें वैयावृत्यनामका शिक्षाव्रत रखा गया है। गृहस्थको चाहिये कि उसके नगरमें यदि किसी देशव्रती या महाव्रतीके ऊपर कोई कष्ट आया है तो उसे पूर्ण तत्परताके साथ दूर करे। इस वैयावृत्य शिक्षाव्रतमें सभी दानोंका समावेश होता है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकारकी ग्लानि या मान-अपमानका भाव नहीं रखना चाहिये, क्योंकि स्वार्थबुद्धिसे किया हुआ वैयावृत्य धर्मका अङ्ग नहीं होता। सेवाको श्ववृत्ति भी कहा है और परमधर्म भी कहा है। जब सेवा किसी स्वार्थबुद्धिसे की जाती है तब श्ववृत्ति—कुकुरवृत्ति कहलाती है और जब निःस्वार्थभावसे की जाती है तब परमधर्म कहलाती है—कर्मनिर्जराका कारण मानी जाती है। ॥२२॥११२॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ २३ ॥

दानमिष्यते। कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवा आदरस्वरूपा। केषां ? आर्याणां सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीनां। किंविशिष्टानां ? अपसूनारम्भाणां सूनाः पंचजीवघातस्थानानि। तदुक्तम्—

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥ १३ ॥

खंडनी उलूखलं, पेषणी घरट्टः, चुल्ली चुल्लकः, उदकुंभः उदकघटः, प्रमार्जनी

वोहारिका। सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषां तेषां। केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या? सप्तगुणसमाहितेन। तदुक्तं—

[1]श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन सहितेन तु दात्रा[2] दानं दातव्यं। कैः कृत्वा? नवपुण्यैः। तदुक्तं—

[3]पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः॥ २३॥

आगे दान क्या कहलाता है, यह कहते हैं—

नवपुण्यैरिति—(**सप्तगुणसमाहितेन**) सात गुणोंसे सहित और (**शुद्धेन**) कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धिसे सहित [**दात्रा**] दाताके द्वारा (**अपसूनारम्भाणां**) गृहसम्बन्धीकार्य तथा खेती आदिके आरम्भसे रहित (**आर्याणां**) सम्यग्दर्शनादिगुणोंसे सहित मुनियोंका (**नवपुण्यैः**) नवधाभक्ति पूर्वक जो (**प्रतिपत्तिः**) आहारादिके द्वारा गौरव किया जाता है (**तत्**) वह (**दानं**) दान (**इष्यते**) माना जाता है।

टीकार्थ—जीवघातके स्थानको सूना कहते हैं। संक्षेपसे सूनाके पाँच भेद हैं। जैसा कि कहा गया है—**खण्डनीति**—खण्डनी—उखलीसे कूटना, पेषणी—चक्कीसे पीसना, चुल्ली—चूला सिलगाना, उदकुम्भ—पानीके घट भरना और प्रमार्जनी—वुहारीसे भूमिको वुहारना ये पाँच हिंसाके कार्य गृहस्थके होते हैं, अतः वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता। खेती आदि व्यापारसम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके सूना और आरम्भ नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादिगुणोंसे सहित मुनियोंका आहार आदि दानके द्वारा जो गौरव या आदर किया जाता है वह दान कहलाता है। यह दान सात गुणोंसे सहित दाताके

---

१. श्रद्धाशक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम्॥ इति 'घ' पुस्तके पाठः।

२. तद्दात्रा घ०।

३. 'घ' पुस्तके अस्य श्लोकस्य स्थाने निम्नांकितः श्लोको वर्तते—
'प्रतिग्रहोच्चस्थानं च पादक्षालनमर्चनम्।
प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च तेन वा॥

द्वारा दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—श्रद्धेति। श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये सात गुण जिसके होते हैं उस दाताकी प्रशंसा करते हैं। इन सात गुणोंके सिवाय दाताको शुद्ध भी होना चाहिये। दाताकी शुद्धताका विचार तीन प्रकारसे किया जाता है—कुलसे, आचारसे और शरीरसे। जिसकी वंशपरम्परा शुद्ध हो उसे कुलशुद्ध कहते हैं, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचारशुद्ध कहते हैं और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं, अंगभंग नहीं है तथा जिसके शरीरमें राध-रुधिरादिकको झराने वाली कोई बीमारी नहीं है उसे शरीरशुद्ध कहते हैं। यह दान नवप्रकारके पुण्यों—पुण्योपार्जनके कारणोंके साथ दिया जाता है। जैसा कि कहा गया है—**पडिगहमिति**। पडिगाहना, उच्चस्थान देना, पाद प्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषण—आहार शुद्धि ये नव पुण्य कहलाते हैं। इन्हींको नवधा भक्ति कहते हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें दान, दाता, पात्र और दानकी विधि बतलाई गई है। पात्रको देखकर उसके प्रति जो आदर प्रकट किया जाता है वह दान कहलाता है। जो श्रद्धा आदि सात गुणोंसे सहित हो तथा शुद्ध हो उसे दाता कहते हैं। जो चक्की, चूला आदि घरसम्बन्धी तथा खेती आदि व्यापार सम्बन्धी आरम्भसे रहित हो ऐसे रत्नत्रयके धारक मुनि, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका तथा आर्यिका आदि पात्र कहलाते हैं और नवधा भक्तिको दानकी विधि कहते हैं। दान देते समय इन सबका विचार रखना चाहिये। दाताके सात गुणोंका वर्णन कई प्रकारका मिलता है। एक वर्णन संस्कृत-टीकामें उद्धृत **'श्रद्धा तुष्टि'**—आदि श्लोकके आधारपर टीकार्थमें किया जा चुका है। दूसरा वर्णन संस्कृत-टीकाकी 'घ' प्रतिमें उद्धृत 'श्रद्धा शक्ति—आदि श्लोकके आधारपर इस प्रकार है—श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थोंके होते हैं। इस वर्णनमें संतोषके बदले शक्ति और सत्यके बदले दयाका उल्लेख हुआ है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्रसूरिने दाताके निम्नलिखित सात गुण लिखे हैं— १. ऐहिकफलको अपेक्षा नहीं करना, २. शान्ति, ३. निष्कपटता, ४. अनसूया—अन्यदातारोंसे ईर्ष्या नहीं करना, ५. अविषादित्व, ६. मुदित्व और निरहंकारित्व। इस वर्णनमें शान्ति—क्षमाको छोड़कर सभी नवीन गुणोंका समावेश हुआ है।॥ २३ ॥ ११३ ॥

---

१. संस्कृत-टीकामें शुद्धिपदकी टीका छूटी हुई है। इससे अन्य ग्रंथोंके आधारसे लिखा गया है।

इत्थं दीयमानस्य फलं दर्शयन्नाह—

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ २४ ॥

विमार्ष्टि स्फेटयति । खलु स्फुटं । किं तत् ? कर्म पापरूपं । कथंभूतं ? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा । केन ? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण । कासौ कर्त्री ? प्रतिपूजा दानं । केषां ? अतिथीनां न विद्यते तिथिर्येषां तेषां । किंविशिष्टानां ? गृहविमुक्तानां गृहरहितानां। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमलं धावते वारि। अलंशब्दो यथार्थे । अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ॥ २४ ॥

इस प्रकार दिये जाने वाले दानका फल दिखलाते हुए कहते हैं—

गृहकर्मणेति—(**खलु**) निश्चयसे (**अलं**) जिस प्रकार (**वारि**) जल (**रुधिरं**) खूनको (**धावते**) धो देता है [**तथा**] उसी प्रकार (**गृहविमुक्तनां**) गृहरहित—निर्ग्रन्थ (**अतिथीनां**) मुनियोंके लिए दिया हुआ (**प्रतिपूजा**) दान (**गृहकर्मणा**) गृहस्थी सम्बन्धी कार्योंसे (**निचितमपि**) उपार्जित अथवा सुदृढ़ भी (**कर्म**) कर्मको (**विमार्ष्टि**) नष्ट कर देता है ।

टीकार्थ—जिन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्गसे घरका त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ जिन्हें एकसमान हैं, किसी खास तिथिसे राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियोंके लिये जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार—सपाप कार्यों-से संचित बहुत भारी कर्मको भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह कि जल, मलिन रुधिरको धो देता है—नष्ट कर देता है ।

विशेषार्थ—गृहस्थका जीवन, ऐसा जीवन है कि उसमें हिंसाके कार्य अवश्य होते हैं! जैसे उखलीसे धान आदिको कूटना, चक्कीसे गेहूँ आदिको पीसना, चूल्हा जलाना, पानीके घट भरना और बुहारीसे भूमिको झाड़ना तथा व्यापारके लिये खेती आदि करना । इन सब कामोंमें गृहस्थके निरन्तर पापकर्मोंका संचय होता रहता है । इस संचयके होते हुए भी यदि गृहस्थ परमार्थसे गृहके त्यागी मुनियों के लिये दान देता है तो उससे उत्पन्न हुआ पुण्य उस संचित कर्मको उसी तरह शीघ्र ही नष्ट कर देता है जिस प्रकार कि पानी मलिन तथा अपवित्र खूनको धो डालता है—नष्ट कर देता है ॥ २४ ॥ ११४ ॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याह—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ २५ ॥

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा [1]दानादशनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ २५ ॥

आगे पडिगाहना आदि नौ प्रकारके पुण्य कार्योंके करने पर किससे कौन फल प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

उच्चैर्गोत्रमिति—(तपोनिधिषु) तपके भंडार स्वरूप मुनियोंको (प्रणतेः) नमस्कार करनेसे (उच्चैर्गोत्रं) उच्चगोत्र (दानात्) आहारादिदान देनेसे (भोगः) भोग (उपासनात्) प्रतिग्रहण आदि करनेसे (पूजा) सन्मान (भक्तेः) भक्ति करनेसे (सुन्दररूपं) सुन्दररूप और (स्तवनात्) स्तुति करनेसे (कीर्तिः) सुयश [प्राप्यते] प्राप्त किया जाता है।

टीकार्थ—तपस्वियोंको प्रणाम करनेसे उच्चगोत्र, दानादिक देनेसे भोग, पडगाहनेसे पूजा-प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुरागसे उत्पन्न श्रद्धाविशेषसे सुन्दर रूप, तथा 'आप ज्ञानके सागर हैं' इत्यादि स्तुति करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जिस कुलमें मोक्षमार्ग—मुनिमार्गका प्रचलन हो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, ऐसा उच्चगोत्र मुनियोंको प्रणाम करनेसे प्राप्त होता है। सुन्दर एवं सुखदायी भोजन आदिको भोग कहते हैं। इसकी प्राप्ति मुनियोंको आहारादि दानोंके देनेसे होती है। सर्वत्र सम्मानकी प्राप्ति होना पूजा कहलाती है। इसकी प्राप्ति मुनियोंकी उपासना—पडगाहना आदि नवधा भक्ति करनेसे होती है। गुणोंके अनुरागसे अन्तरङ्गमें जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे भक्ति कहते हैं। मुनियोंकी ऐसी भक्ति करनेसे सुन्दर रूप प्राप्त होता है। तथा दिग्दिगन्त तक फैलने वाले सुयशको कीर्ति कहते हैं। इस कीर्तिकी प्राप्ति मुनियोंके स्तवनसे होती है ॥ २५ ॥ ११५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयतीत्याशंकाऽपनोदार्थमाह—

---

१. दानाद्दर्शनशुद्धि—घ० ।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ २६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले। पात्रगतं सत्पात्रे दत्तं। शरीरभृतां संसारिणां। इष्टं फलं बह्वनेकप्रकारं सुन्दररूपभोगोपभोगादिलक्षणं फलति। कथंभूतं ? छायाविभवं छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यत्र। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्टान्तमाह। क्षितिगतं सुक्षेत्रे निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं फलति। कथं ? छायाविभवं छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथा भवत्येवं फलति ॥२६॥

आगे कोई शंका करता है कि थोड़ा-सा दान इस प्रकारके विशिष्ट फलको कैसे संपन्न करता है, इस शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं—

क्षितिगतमिव—(**काले**) उचित समयमें (**पात्रगतं**) योग्य पात्रके लिये दिया हुआ (**अल्पमपि**) थोड़ा भी (**दानं**) दान (**क्षितिगतं**) उत्तम पृथ्वीमें पड़े हुए (**वटबीजमिव**) वटवृक्षके बीजके समान (**शरीरभृताम्**) प्राणियोंके लिए (**छायाविभवं**) माहात्म्य और वैभवसे युक्त, पक्षमें छायाकी प्रचुरतासे सहित (**बहु**) बहुत भारी (**इष्टं**) अभिलषित (**फलं**) फलको (**फलति**) फलता है—देता है।

टीकार्थ—जिस प्रकार उत्तम भूमिमें उचित समयमें डाला हुआ छोटा-सा वटका बीज संसारी जीवोंके बहुत भारी छायाके साथ बहुतसे इष्ट फलको फलता है उसी प्रकार उचित समयमें सत्पात्रके लिये दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियोंके लिए अभिलषित सुन्दर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकारके फलको प्रदान करता है। दानपक्षमें 'छाया-विभवं'का समास इस प्रकार होता है—**'छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्येते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं'** छायाका अर्थ माहात्म्यं होता है और विभवका अर्थ संम्पति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फलमें विद्यमान है उस फलको दान देता है। वटबीजपक्षमें छायाका अर्थ अनातप—घामका अभाव होता है और विभवका अर्थ प्राचुर्य—अधिकता लिया जाता है। **'छाया—आतपनिरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं'** इस प्रकार क्रिया-विशेषण किया जाता है।

विशेषार्थ—अधिक परिमाणमें दिया हुआ दान ही सफल होता हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु योग्य पात्रके लिए योग्य समयमें दिया हुआ थोड़ा-सा दान भी अधिक फल देता है। इस विषयमें वटबीजका दृष्टांत बहुत उपयुक्त है।

अर्थात् जिस प्रकार वटका छोटा-सा वीज यदि योग्य समयमें अच्छी भूमिमें डाल दिया जाता है तो वह आगे चलकर वहुत भारी छायाके साथ अनेक इष्ट फल प्रदान करता है। उसी प्रकार सत्पात्रके लिए योग्य कालमें यदि थोड़ा भी दान दिया जाता है तो वह आगे चलकर बहुत भारी माहात्म्य और सम्पत्तिके साथ अनेक फल प्रदान करता है। इससे सिद्ध है कि दानमें परिमाणकी अपेक्षा भावनाका विशिष्ट फल है। दानके विषयमें पात्रका विचार अवश्य रखना चाहिए। पात्र उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रके धारक मुनि उत्तम पात्र हैं, श्रावक मध्यमपात्र हैं तथा अविरतसम्यग्दृष्टि गृहस्थ जघन्य पात्र हैं। मिथ्यादर्शनके साथ जो जैन आचारका पालन करता है वह कुपात्र कहलाता है तथा मिथ्यादर्शनके साथ जो मिथ्याचारका पालन करता है वह अपात्र कहलाता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य, पात्रदानके फलस्वरूप स्वर्गमें उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोगभूमिमें उत्पन्न होता है। कुपात्रदानका फल कुभोगभूमि है और अपात्रदानका फल नरक-निगोदादिक है ॥ २६ ॥११६॥

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं भवतीत्याह—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ २७ ॥

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयंति। कथं? चतुरात्मत्वेन चतुःप्रकारत्वेन। के ते? चतुरस्राः पण्डिताः। तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्नाहारेत्याद्याह—आहारश्च भक्तपानादिः औषधं च व्याधिस्फोटकं द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन। न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादिः ॥ २७ ॥

आगे वह ऐसा फल देनेवाला दान चार भेद वाला है, यह कहते हैं—

आहारौषधेरीति—(चतुरस्रा) विद्वज्जन (आहारौषधयोः) आहार औषध (च) और (उपकरणावासयोः अपि) उपकरण तथा आवासके भी (दानेन) दानसे (वैयावृत्यं) वैयावृत्यको (चतुरात्मत्वेन) चार प्रकारका (ब्रुवते) कहते हैं।

टीकार्थ—भक्त, पान आदिको आहार कहते हैं, बीमारीको दूर करने वाले पदार्थको औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदिको उपकरण कहते हैं और वसतिका आदिको आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओंको देनेसे वैयावृत्य चार प्रकारका होता है ऐसा पण्डितजन निरूपण करते हैं।

विशेषार्थ—वैयावृत्यका प्रचलित अर्थ दान है और वह दान चार प्रकारका है—१. आहारदान २. औषधदान ३. उपकरणदान तथा ४. आवासदान। अन्य शास्त्रकारोंने उपकरणदानके स्थानपर ज्ञानदान और आवासदानके स्थानपर अभयदानका उल्लेख किया है। परन्तु ज्ञानदानकी अपेक्षा उपकरणदान अधिक व्यापक जान पड़ता है क्योंकि ज्ञानदानमें मात्र ज्ञानके उपकरण-शास्त्रोंका दान गर्भित होता है जबकि उपकरणदानमें संयमका उपकरण—मयूरपिच्छिका तथा शौचका उपकरण—कमण्डलुका दान भी गर्भित हो जाता है। यद्यपि आवासदान—वसतिकाका दान, अभयदानका ही एकरूप है तथापि इसकी अपेक्षा अभयदान शब्द अधिक व्यापक जान पड़ता है। पूज्यपाद तथा अकलंकस्वामीने भिक्षा, औषध, उपकरण तथा प्रतिश्रयके भेदसे अतिथिसंविभागव्रतके चार भेद माने हैं जो कि समन्तभद्राचार्यके द्वारा निरूपित चार भेदोंके अनुरूप ही हैं ॥२७॥११७॥

तच्चतुष्प्रकारं दानं किं केन दत्तमित्याह—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ २८ ॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसंचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनिन्दिता च। पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ। तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा। पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो वटुकान् वेदं पाठयति। तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् छद्मना[1] वेदं शृण्वन् तत्पारगो जातो। रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः। [2]सोत्तरीयं यज्ञोपवीतं परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसंचयपुरे गतः। सात्यकिना च तं वेदपारगं सुरूपं च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता। सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽयं न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषादं वहन्ती तिष्ठति। एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रां कुर्वाणो रत्नसंचयपुरे समायातः। कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिकं कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकानां च मदीयोऽयं पितेति कथितम्। सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्टं भोजनं बहुसुवर्णं च दत्वा पादयोर्लगित्वा पृष्टं— तात ! तव शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति, ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं

१. कर्णलब्ध्या वेदंशृण्वानः घ। २. सोत्तरीययज्ञोपवीतं घ।

मे कथय। ततस्तेन कथितं, पुत्रि ! मदीयचेटिकापुत्र इति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादयं मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च सा पुत्री ज्ञाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्ककीर्त्यमितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारंपर्येण शान्तिनाथतीर्थंकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्तः। अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्रीः, पुत्री वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतितलुठितोऽत्थितं रोगरहितमालोक्य चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानजलमेवास्यारोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीतायाः कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौतदृष्टे च शोभने जाते। ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे संजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमंत्री बहुसैन्योपेतो मेघपिंगलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याघुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन नीरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलाज्जलवृत्तान्तमाकर्ण्य तज्जलं याचितवान्। ततो मंत्र उक्तो धनश्रिया भोः श्रेष्ठिन् ! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः। ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञः समीपमायातः। राजा च गौरवं कृत्वा वृषभसेनां परिणेतुं स याचितः। ततः श्रेष्ठिना भणितं देव ! यद्यष्टाह्निकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पंजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि। उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टरानी च कृता। अतिवल्लभया तयैव च सह विमुच्यान्यकार्यं क्रीडां करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽतिप्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः। ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मंत्रिभिः सह मंत्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्यां सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना कारितास्तेषु भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्तं वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने ! त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्यां कथं सत्कारान् कारयसि ? तया भणितमहं न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिताः। तेषां शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया

वृषभसेनायाः सर्वं कथितम् । तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्रः । तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते । तयोरधो निजरूपं सप्रणामं कारितम् । स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी—देवि ! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं । तत उग्रसेनः सन्मानं दत्वा भणितवान्-त्वया मेघपिंगलस्योपरि गंतव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्यां वाराणस्यां प्रेषितः । मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादितः सामन्तो जातः । उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यन्मे प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता । एवमेकदा रत्नकंबलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं । एकदा मेघपिंगलस्य राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता । तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः । एकदा वृषभसेनाकम्बलं प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसभायामागतः राजा च तमालोक्यातिकोपाद्रक्ताक्षो बभूव । मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः । वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता । तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति । ततो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम् । तच्छ्रुत्वा पश्चात्तापं कृत्वा राजा तमानेतुं गतः । आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः । स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभवचेष्टितं पृष्टः । कथितं च भगवता । यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि । राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्तायां मुनिःदत्तनामा मुनिः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितः । त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जनं करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिः कायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः । ततस्त्वय कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम् । प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेशं दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः । ततस्त्वयात्मनिन्दां कृत्वा धर्मे रुचिः कृता । परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदानं वैयावृत्यं च कृतम् । ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि । औषधदानफलात् सर्वौषधर्द्धिफलं जातम् । कचवारपूरणात् कलङ्किता च । इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता । औषधदानस्य फलम् ।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

कुरु[1]मणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा । तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम् । तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभट्टारकाः केचित्

१. कुरुमरि इति ग, घ० कुमार ख ।

किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृट्वा नित्यमेव पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि[1]। एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य फलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविल[2]नामा नापितश्च धमिल्लनामा। ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः। प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ। तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्परं युध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः। वसतिदानस्य फलम् ॥२८॥

आगे वह चार प्रकारका दान किस-किसके द्वारा दिया गया है, यह कहते हैं—

श्रीषेणेति—(**श्रीषेणवृषभसेने**) श्रीषेण, वृषभसेना (**कौण्डेशः**) कौण्डेश (**च**) और (**शूकरः**) सूकर (**एते**) ये चार (**चतुर्विकल्पस्य**) चार भेदवाले (**वैयावृत्यस्य**) वैयावृत्यके (**दृष्टान्ताः**) दृष्टान्त (**मन्तव्याः**) माननेके योग्य हैं।

टीकार्थ—श्रीषेण राजा आहारदान, वृषभसेना औषधदान, कौण्डेश उपकरणदान और शूकर आवासदान दृष्टान्त हैं, ऐसा जानना चाहिये।

आहारदानमें श्रीषेण राजाका दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है—

श्रीषेण राजाकी कथा

मलयदेशके रत्नसंचयपुरमें राजा श्रीषेण रहता था। उसकी बड़ी रानीका

---

१. वृक्षस्य इति ग०। पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितं इति ख० २. देवलनामा ३. धम्मिल धम्मिल इति ग० धमिल घ०।

नाम सिंहनन्दिता और छोटी रानीका नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियोंके क्रमसे इन्द्र और उपेन्द्र नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उसी नगरमें एक सात्यकि नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम जम्बू और पुत्रीका नाम सत्यभामा था। पाटलिपुत्रनगरमें एक रुद्रभट्टका नामका ब्राह्मण बालकोंको वेद पढ़ाया करता था। उसकी दासीका पुत्र कपिल तीक्ष्णबुद्धि होनेसे छलपूर्वक वेदको सुनता हुआ उसका पारगामी विद्वान् हो गया। रुद्रभट्टने क्रुद्ध होकर उस कपिलको पाटलिपुत्र नगरसे बाहर निकाल दिया।

वह कपिल दुपट्टा सहित यज्ञोपवीतको धारणकर ब्राह्मण बन रत्नसंचय नगरमें चला गया। सात्यकि ब्राह्मणने उसे वेदका पारगामी तथा सुन्दर देख 'यह सत्यभामके योग्य है' ऐसा मान उसके लिये सत्यभामा दे दी। सत्यभामा, रतिके समय उसकी विट जैसी चेष्टा देखकर 'यह कुलीन होगा या नहीं' ऐसा विचारकर मनमें खेदको धारण करती हुई रहती थी। इसी अवसरपर रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगरमें आया। कपिल, उसे प्रणामकर अपने सफेद गृहमें ले गया तथा भोजन और वस्त्र आदि दिलाकर उसने सत्यभामा तथा अन्य समस्त लोगोंके सामने कहा कि 'यह मेरा मित्र है।' सत्यभामाने एकदिन रुद्रभट्टको विशिष्ट भोजन तथा बहुत-सा सुवर्ण देकर उसके पैरोंमें लगकर पूछा कि हे तात् ! कपिलमें आपके स्वभावका अंश भी नहीं, इसीलिये यह आपका पुत्र है अथवा नहीं, यह मेरे लिये सत्य कहिये। तदनन्तर रुद्रभट्ट ने कहा कि हे पुत्रि ! यह मेरी दासीका पुत्र है। यह सुनकर वह उसके ऊपर विरक्त हो गई तथा 'यह हठपूर्वक मेरे पास आवेगा' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक बड़ी रानीकी शरणमें चली गई। सिंहनन्दिताने उसे पुत्री मानकर रख लिया। इस प्रकार एकदिन श्रीषेण राजाने परमभक्तिसे विधिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियोंको दान दिया। उसके फलस्वरूप वह रानी राजाके साथ भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। सत्यभामाने भी उस दानकी अनुमोदना की थी, इसलिये वह भी उसी भोगभूमिमें उत्पन्न हुई। राजा श्रीषेण आहारदानके कारण परम्परासे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुआ। यह आहारदानका फल है।

औषधदानमें वृषभसेनाका दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

वृषभसेनाकी कथा

जनपददेशके कावेरीपत्तन नामक नगरमें राजा उग्रसेन रहते थे। वहीं एक धनपति नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था। उन

दोनोंके वृषभसेना नामकी पुत्री थी। वृषभसेनाकी रूपवती नामकी धाय थी। एकदिन वृषभसेनाके स्नानजलके गड्ढेमें एक रोगी कुत्ता गिरकर जब उसमें लोटनेके बाद निकला तो वह रोगरहित हो गया। उसे देखकर धायने विचार किया कि इसकी नीरोगताका कारण पुत्रीका स्नानजल ही है। तदनन्तर धायने यह समाचार अपनी मातासे कहा। उसकी माता बारह वर्षसे नेत्ररोगसे पीड़ित थी। माताने एक दिन परीक्षाके लिये अपने नेत्र उस जलसे धोये तो धोते ही साथ ठीक दिखने लगे। इस घटनासे वह धाय उस नगरमें सब रोगोंको दूर करनेवाली है, इस तरह प्रसिद्ध हो गई।

एक समय राजा उग्रसेनने अपने रणपिङ्गल नामक मन्त्रीको बहुत सेनासे युक्त कर मेघपिङ्गलके ऊपर भेजा। मंत्री ज्यों ही उस देशमें प्रविष्ट हुआ त्यों ही विषमिश्रित पानीका सेवन करनेसे ज्वरसे ग्रसित हो गया। जब वह लौटकर आया तब रूपवती धायने उसे उस जलसे नीरोग कर दिया। राजा उग्रसेन भी क्रोधवश वहाँ गया और ज्वरसे आक्रान्त हो लौटकर आ गया। रणपिङ्गलसे जलका वृत्तान्त सुनकर राजाने भी उस जलकी याचना की। तदनन्तर धनश्री सेठानीने सेठसे सलाह की कि हे श्रेष्ठिन्! राजाके शिरपर पुत्रीका स्नानजल कैसे डाला जावे? धनपति सेठने कहा कि यदि राजा जलका स्वभाव पूछता है तो सत्य कह दिया जावेगा, उसमें दोष नहीं है। ऐसा कहने पर रूपवती धायने उग्रसेन राजाको उस जलसे नीरोग कर दिया। तदनन्तर नीरोग राजाने रूपवतीसे जलका माहात्म्य पूछा। रूपवतीने सब सत्य ही कह दिया। पश्चात् राजाने सेठको बुलाया और वह डरते-डरते राजाके पास आया। राजाने सम्मान कर उससे वृषसेनाको विवाह देनेकी याचना की। तदनन्तर सेठने कहा कि हे राजन्! यदि तुम जिनप्रतिमाओंकी आष्टाह्निक पूजा करते हो, पिंजड़ोंमें स्थित समस्त पक्षियोंको छोड़ते हो और वन्दीगृहमें स्थित सब मनुष्योंको बन्धनसे मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री देता हूँ। राजा उग्रसेनने वह सब कर वृषभसेनाको विवाह लिया तथा उसे पट्टरानी बना दिया। राजा अन्य सब कार्योंको छोड़कर अतिशय प्रिय उसी वृषभसेनाके साथ क्रीड़ा करने लगा।

इसी अवसरपर वाराणसीका एक पृथिवीचन्द्र नामक राजा उसके यहाँ कैद था। उसे अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण राजाने वृषभसेनाके विवाहके समय भी नहीं छोड़ा था। तदनन्तर पृथिवीचन्द्रकी जो नारायणदत्ता नामकी रानी थी उसने मंत्रियोंके साथ सलाह कर, पृथिवीचन्द्रको छुड़वानेके लिये

वाराणसीमें सब जगह वृषभसेना रानीके नामसे ऐसे भोजनगृह खुलवाये, जिनमें किसीके लिये प्रवेश करनेका निषेध नहीं था। उन भोजनगृहोंमें भोजनकर जो ब्राह्मण आदिक कावेरीपत्तन गये थे उनसे उस वृत्तान्तको सुनकर रूपवती धायने रुष्ट हो वृषभसेनासे कहा कि हे वृषभसेने! तू मुझसे विना पूछे ही वाराणसीमें भोजनगृह क्यों वनवा रही है। वृषभसेनाने कहा कि मैं नहीं वनवा रही हूँ किन्तु मेरे नामसे किसी कारणवश किसी अन्यने वनवाये हैं, तुम इसका पता चलाओ। तदनन्तर गुप्तचरोंसे पता चलाकर तथा यथार्थ वात जानकर उसने वृषभसेनासे सव समाचार कहा। वृषभसेनाने यह सव राजासे कहकर पृथिवीचन्द्रको वन्धनसे छुड़वा दिया।

पृथिवीचन्द्रने एक चित्रपट्टपर वृषभसेना और उग्रसेनके चित्र वनवाये तथा उनके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र वनवाया। वह चित्रपट्ट उन दोनोंके लिए दिखाया गया और वृषभसेना रानीसे कहा गया कि हे देवि! तुम मेरी माता हो, तुम्हारे प्रसादसे मेरा यह जन्म सफल हुआ है। तदनन्तर उग्रसेन ने सम्मान देकर कहा कि तुम्हें मेघपिङ्गलके ऊपर जाना चाहिए, ऐसा कहकर उन दोनोंने उसे वाराणसी भेज दिया। मेघपिङ्गल भी यह सुनकर तथा 'यह पृथिवीचन्द्र मेरा मर्मभेदी है' ऐसा विचारकर आया और उग्रसेनसे सम्मान प्राप्तकर उसका सामन्त वन गया। राजा उग्रसेनने ऐसी व्यवस्था की कि राज-सभामें स्थित रहते हुए मेरे लिये जो भेंट आती है उसका आधा भाग मेघ-पिङ्गलको दूँगा और आधा भाग वृषभसेनाके लिए। इस प्रकारकी व्यवस्था किये जानेपर एकदिन दो रत्नकम्वल भेंटमें आये। राजाने उसे नामसे चिह्नित-कर एक-एक कम्वल दोनोंके लिए दे दिया।

एक दिन मेघपिङ्गलकी रानी विजया, मेघपिङ्गलका कम्वल ओढ़कर किसी कार्यसे रूपवतीके पास गई। वहाँ उसका कम्वल वदल गया अर्थात् वृषभसेनाके नामसे अंकित कम्वलको ले आई और मेघपिंगलके नामसे अंकित कम्वलको वहाँ छोड़ आई। एकदिन वृषभसेनाके कम्वलको ओढ़कर मेघपिंगल सेवाके समय राजा उग्रसेनकी सभामें गया। और राजा उग्रसेन उस कम्वलको देख-कर अत्यन्त क्रोधसे लाल-लाल नेत्रोंवाला हो गया। मेघपिंगल, उसे उस प्रकारका देख, 'यह मेरे ऊपर कुपित है' ऐसा जानकर दूर चला गया। और क्रोधसे युक्त राजा उग्रसेनने मारनेके लिए वृषभसेनाको समुद्रके जलमें फिकवा दिया। वृषभसेनाने प्रतिज्ञा की—यदि इस उपसर्गसे उद्धार पा सकूंगी तो तप करूँगी। तदनन्तर व्रतके माहात्म्यसे जलदेवताने उसके लिए सिंहासन आदि

का अतिशय किया। यह सुनकर पश्चात्ताप करता हुआ राजा उसे लेनेके लिए गया। वापिस आते हुए राजाने बनके बीच एक गुणधर नामके अवधिज्ञानी मुनिको देखा। वृषभसेनाने नमस्कारकर उनसे अपने पूर्वभवका समाचार पूछा। भगवान् मुनिने कहा—कि तू पूर्वभवमें इसी नगरमें नागश्री नामकी ब्राह्मणपुत्री थी और राजाके देवमन्दिरमें झाड़नेका कार्य करती थी। एक दिन उस मन्दिरमें अपराह्णके समय कोटके भीतर वायु रहित गहरे स्थानमें मुनिदत्त नामके एक मुनि पर्यङ्कासनसे कायोत्सर्गकर विराजमान थे। तूने क्रुद्ध होकर उनसे कहा कि कटकसे राजा यहाँ आवेंगे, अतः तुम यहाँसे उठो, मुझे झाड़ना है। इस तरह तू कहती रही, परन्तु मुनि कायोत्सर्गकर मौनसे स्थित रहे। तदनन्तर तूने कचड़ेसे उन्हें ढंककर ऊपरसे झाडू दे दी। प्रातःकाल जब राजा आया और क्रीड़ा करता हुआ उस स्थानपर पहुँचा तब उसने श्वासके कारण ऊँचे-नीचे होते हुए उस स्थानको देखकर खुदवाया और उन मुनिको बाहर निकाला। तदनन्तर तूने आत्मनिन्दाकर धर्ममें श्रद्धा की और उन मुनिकी पीड़ाको शान्त करनेके लिए बड़े आदरसे उन्हें विशिष्ट औषध दी तथा उनकी सेवा की। तदनन्तर निदानसे मरकर तू यहा धनपति और धनश्रीके वृषभसेना नामकी पुत्री हुई है। औषधदानके फलसे तुम्हें सर्वौषधऋद्धिका फल प्राप्त हुआ है। तथा कचड़ासे ढंकनेके कारण तू कलंकको प्राप्त हुई है। यह सुनकर वृषभसेना अपने आपको राजासे छुड़ाकर उन्हीं मुनिके समीप आर्यिका हो गई। यह औषधदानका फल है।

शास्त्रदानमें कौण्डेशका दृष्टान्त है। उसकी कथा इस प्रकार है—

कौण्डेशकी कथा

कुरुमणि ग्राममें एक गोविन्द नामका ग्वाला रहता था। उसने कोटरसे निकालकर एक प्राचीन शास्त्रकी पूजा की तथा भक्तिपूर्वक पद्मनन्दी मुनिके लिये वह शास्त्र दिया। उस शास्त्रके द्वारा पहलेके कितने ही मुनियोंने स्वयं पूजा करके तथा दूसरोंसे कराकर व्याख्यान किया था और उसके बाद वे उस शास्त्रको उसी कोटरमें रखकर चले गये थे। गोविन्द बाल्य अवस्थासे ही उस शास्त्रको देखकर नित्य ही उसकी पूजा करता था। यह वही गोविन्द निदानसे मरकर उसी ग्राममें ग्रामप्रमुखका पुत्र हुआ। एक बार उन्हीं पद्मनन्दी मुनिको देखकर उसे जातिस्मरण हो गया, जिससे तप धारणकर वह कौण्डेश नामका बहुत बड़ा शास्त्रोंका पारगामी मुनि हुआ। यह श्रुतदान—शास्त्रदानका फल है।

वसतिकाके दानमें सूकरका दृष्टान्त है। इसकी कथा इस प्रकार है—

सूकरकी कथा

मालवदेशके घटग्राममें एक देविल नामका कुम्हार और धमिल्ल नामका एक नाई रहता था। उन दोनोंने पथिकजनोंके ठहरनेके लिए एक धर्मस्थान बनवाया- एकदिन देविलने मुनिके लिए वहाँ पहले निवास दे दिया। पश्चात् धमिल्लने एक परिव्राजकको वहाँ लाकर ठहरा दिया। धमिल्ल और परिव्राजकने उन मुनिको वहाँसे निकाल दिया, जिससे वे वृक्षके नीचे रातभर डांश-मच्छर तथा शीत आदि की बाधाको सहन करते हुए ठहरे रहे। प्रातःकाल ऐसा करनेसे देविल और धमिल्ल दोनोंमें परस्पर युद्ध हुआ, जिससे दोनों मरकर विन्ध्याचलमें क्रमसे सूकर और व्याघ्र हुए। वे क्रम-क्रमसे बड़े हुए। जिस गुफामें वह सूकर रहता था उसी गुफामें एक दिन समाधिगुप्त और त्रिगुप्तनामके दो मुनि आकर ठहर गये। उन्हें देखकर देविलके जीव सूकरको जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने धर्म श्रवणकर व्रत ग्रहण कर लिया। उसी समय मनुष्यकी गन्धको सूँघ-कर मुनियोंको खानेके लिए वह व्याघ्र भी वहाँ आ पहुंचा। सूकर, उन मुनियों-की रक्षाके निमित्त गुफाके द्वारपर खड़ा हो गया। वहाँ भी वे दोनों परस्पर युद्ध कर मरे। सूकर, मुनियोंकी रक्षाके अभिप्रायसे अच्छे भावोंको धारण करता था, इसलिए वह मरकर सौधर्मस्वर्गमें महान्ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव हुआ, परन्तु व्याघ्र, मुनियोंके भक्षणके अभिप्रायसे खोटे भावको धारण करता था, इसलिए वह मरकर नरक गया। यह वसतिका दानका फल है ॥ २८ ॥ ११८ ॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ २९ ॥

आदृतः आदरयुक्तः नित्यं परिचिनुयात् पुष्टं कुर्यात्। किं ? परिचरणं पूजां। किंविशिष्टं ? सर्वदुःखनिर्हरणं निःशेषदुःखविनाशकं। क्व ? देवाधिदेवचरणे देवाना-मिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पादः तस्मिन्। कथंभूते ? काम-दुहि वाञ्छितप्रदे। तथा कामदाहिनि कामविध्वंसके ॥ २९ ॥

आगे वैयावृत्य करनेवाले श्रावकको जिस तरह चार प्रकारका दान देना चाहिये उसी तरह भगवान्की पूजा करना चाहिये, यह कहते हैं—

देवाधिदेवेति—(**आहृतः**) श्रावकको आदरसे युक्त होकर (**नित्यं**) प्रतिदिन (**कामदुहि**) मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले और (**कामदाहिनि**) कामको भस्म करने वाले (**देवाधिदेवचरणे**) अरहन्त भगवानके चरणोंमें (**सर्वदुःखनिर्हरणं**) समस्त दुःखोंको दूर करनेवाली (**परिचरणं**) पूजा (**परिचिनुयात्**) करना चाहिये।

टीकार्थ—इन्द्रादिक देवोंके द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान् देवाधिदेव कहलाते हैं। उनके चरण वाञ्छित फलको देनेवाले हैं तथा कामको भस्म करने वाले हैं। श्रावकको चाहिये कि वह आदरपूर्वक प्रतिदिन उनके चरणोंकी-पूजा करे, क्योंकि उनकी पूजा समस्त दुःखोंको हरनेवाली है।

विशेषार्थ—गृहस्थके[1] छह आवश्यक कार्योंमें देवपूजाका प्रमुख स्थान है। पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा और पूजाके फलका विचार करना चाहिये। जिसने कामादिक विकारी भावोंको भस्म कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्रदेव पूज्य हैं। उपलक्षणसे उपर्युक्त विकारीभावोंको आंशिक रूपसे नष्ट करनेवाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायक होनेसे समीचीन शास्त्र भी पूज्य हैं। यद्यपि ये सब, पूजासे प्रसन्न होकर किसीको कुछ देते नहीं हैं और निन्दासे अप्रसन्न होकर किसीका कुछ नष्ट नहीं करते हैं तथापि **'कामदुह्'** मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले कहे जाते हैं। उसका कारण यह है कि इनकी पूजाके कालमें पूजा करनेवाले मनुष्यके हृदयमें जो शुभ राग उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप पुण्यकर्मका बन्ध होता है और पापकर्मका अनुभाग क्षीण होता है इसलिये सुखकी प्राप्ति और दुःखका नाश स्वयमेव हो जाता है। उनके गुणोंमें जिसे अत्यन्त आदरका भाव है वह **पूजक** कहलाता है। परिचर्या, सेवा, उपासनाको **पूजा** कहते हैं और समस्त दुःखोंका दूर होना **पूजाका फल** है। यहाँ आचार्यने 'कामदुहि कामदाहिनि देवाधिदेवचरणे' इन पदोंके द्वारा पूज्यका वर्णन करते हुए कहा है कि पूज्य वही हो सकता है जो मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हो तथा कामादिक विकारी भावोंको भस्म करनेवाला हो। पूजकका वर्णन करते हुए 'आहृतः' इस विशेषण द्वारा प्रकट किया है कि पूजक वही हो सकता है जो पूज्यके गुणोंमें अत्यन्त आदरभाव रखता है। पूजाका वर्णन करते हुए **'परिचरणं'** शब्द द्वारा प्रकट किया है कि देव, शास्त्र तथा गुरुको

---

१. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ —पद्मनन्दी

उनकी पदके अनुरूप परिचर्या करना अर्थात् प्रतिमारूप देवकी अभिषेक तथा पूजन करना, शास्त्रोंकी विनय करते हुए उनकी सुरक्षा तथा उनके द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्वोंका प्रचार करना और निर्ग्रन्थ गुरुओंकी पूजा करते हुए उनकी आहारादिकी व्यवस्था करना यह सब पूजा कहलाती है। और पूजाके फलका वर्णन करते हुए **'सर्वदुःखनिर्हरणम्'** इस पदके द्वारा प्रकट किया है कि पूजा सब दुःखोंको सम्पूर्णरूपसे नष्ट करनेवाली है। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्रकी पूजा करते समय यह भाव रखता है कि हे भगवन्! जैसी शान्त-निर्विकार मुद्रा आपकी है वैसा ही मेरी मुद्रा है, यही मेरा स्वभाव है। परन्तु मैं स्वभावको भूलकर विभावरूप परिणमन करता हुआ संसारके दुःख उठा रहा हूँ। आपकी पूजाके फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मैं स्वकीय शुद्ध स्वभावमें स्थिर रहूँ। इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके पदकी मुझे चाह नहीं है उन्हें तो मैं अनन्तबार प्राप्तकर चुका हूँ। उपर्युक्त शुभभावोंसे की हुई पूजा, परिणामोंमें अत्यन्त आह्लाद उत्पन्न करती है। पुण्यबन्ध तो उससे होता ही है यदि कुछ समयके लिए स्वरूप समावेश हो गया तो निर्जराका भी कारण हो जाती है। जो मनुष्य निश्छल भावसे जिस किसी भी विधिसे भगवान्की पूजा करता है उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं और दिशाएँ उसकी इच्छाओंको पूर्ण करती हैं अर्थात् जहाँ जाता है वहीं उसकी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं[1] ॥ २९ ॥ ११९ ॥

पूजामाहात्म्यं क्व केन प्रकटितमित्याशंक्याह—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ ३० ॥

भेको मण्डूकः। प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः। अवदत् कथितवान्। किमित्याह—अर्हदित्यादि। अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्याः महानुभावं विशिष्टं माहात्म्यं। केषामवदत्? महात्मनां भव्यजीवानां। केन कृत्वा? कुसुमेनैकेन। क्व? राजगृहे।

अस्य कथा

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिकः, श्रेष्ठी नागदत्तः, श्रेष्ठिनी भवदत्ता। स नागदत्तः श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जातः। तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्याः समीपे आगत्य उप-

---

१. यथाकथंचिद्भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम् ।
मनोरथाश्च सिद्ध्यन्ति दिशः कामान् दुहन्ति च ॥ —आशाधर

र्युत्प्लुत्य चटितः । तया च पुनः पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च । ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनिः पृष्टः । तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ घृतः । श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिनं वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन तं वन्दितुं गतः । श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्रांगणवापीकमलं पूजानिमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिनः पादेन चूर्णयित्वा मृतः । पूजानुरागवशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः । अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्तं ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्नं कृत्वा समागत्य वर्धमानस्वामिनं वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्टः । ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नोऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः । तच्छ्रुत्वा सर्वे[1] जनाः पूजातिशयविधाने उद्यताः संजाता इति ॥ ३० ॥

आगे पूजाका माहात्म्य क्या कहीं किसीने प्रकट किया है, ऐसी आशंका उठाकर कहते हैं—

अर्हच्चरणेति—(**प्रमोदमत्तः**) हर्षसे प्रमत्त (**भेकः**) मेण्डकने (**राजगृहे**) राजगृह नगरमें (**एकेन कुसुमेन**) एक पुष्पके द्वारा (**महात्मनां**) भव्य जीवोंके आगे (**अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं**) अर्हन्त भगवान्‌के चरणोंकी पूजाका माहात्म्य (**अवदत्**) प्रकट किया था ।

टीकार्थ—विशिष्ट धर्मानुरागसे हर्षित हुए मेण्डकने राजगृह नगरमें भव्यजीवोंको वतलाया था कि एक फूलसे ही अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजा करनेका क्या फल होता है । इसकी कथा इस प्रकार है—

मेढककी कथा

मगधदेशके राजगृहनगरमें राजा श्रेणिक, नागदत्त सेठ और उसकी भवदत्ता नामकी सेठानी रहती थी । वह नागदत्त सेठ सदा मायासे युक्त रहता था, इसलिए मरकर अपने आँगनकी वावड़ीमें मेण्डक हुआ । एक दिन भवदत्ता-सेठानीको आई देख उस मेण्डकको जातिस्मरण हो गया जिससे वह समीप आकर उसके ऊपर उछलकर चढ़ गया । सेठानीने उसे वार-वार अलग किया । अलग करनेपर वह टर्र-टर्र शब्द करता और फिर आकर उसके ऊपर चढ़ जाता । तदनन्तर सेठानीने यह विचार किया कि यह मेरा कोई इष्ट होगा । ऐसा विचारकर उसने अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिसे पूछा । मुनिके द्वारा उसका वृत्तान्त कहे जानेपर सेठानीने उसे घर ले जाकर बड़े गौरवसे रक्खा ।

---

१. भव्यजना इति ख० ।

एक वार श्रेणिक महाराज, वर्धमानस्वामीको वैभार पर्वतपर आया सुनकर आनन्दभेरी वजवाकर वड़े वैभवसे उनकी वन्दनाके लिए गए। सेठानी आदिको लेकर घरके अन्य लोग भी जव वन्दना भक्तिके लिए चले गये तव वह मेण्डक पूजाके निमित्त आँगनकी वावड़ीका कमल लेकर चला। जाता हुआ वह मेण्डक हाथीके पांवसे कुचलकर मर गया और पूजासम्वन्वी अनुरागके वशसे उपार्जित पुण्यके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें महान् ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव हुआ। अवधिज्ञानसे पूर्वभवका वृत्तान्त जानकर अपने मुकुटके अग्रभागमें मेण्डकका चिह्नकर वह आया और वर्धमानस्वामीको वन्दना करते समय राजा श्रेणिकने गौतमस्वामीसे पूछा कि इसके मेण्डकका चिह्न रखनेमें क्या कारण है? गौतमस्वामीने उसका पूर्ववृत्तान्त कहा। उसे सुनकर सव लोग पूजाका अतिशय करनेमें उद्यत हो गये॥ ३० ॥ १२० ॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाह—

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ३१ ॥

पंचैते आर्यापूर्वार्धकथिता। वैयावृत्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथाहि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधानं [1]झंपनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधानं स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादराभावः। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्यां वेलायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति आहार्यवस्तुष्विदं दत्तमदत्तमिति वा स्मृतेरभावः। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्वमिति[2] ॥ ३१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
चतुर्थः परिच्छेदः।

अव उक्त प्रकारके वैयावृत्य सम्वन्धी अतिचारोंको कहते हैं—

हरितेति—(हि) निश्चयसे (हरितपिधाननिधाने) हरितपत्र आदिसे देने योग्य वस्तुको ढकना तथा हरित पत्र आदिपर देने योग्य वस्तुको रखना (अनादरास्मरणमत्सरत्वानि) अनादर, अस्मरण और मत्सरत्व (एते पञ्च) ये पांच (वैयावृत्यस्य) वैयावृत्यके (व्यतिक्रमाः) अतिचार (कथ्यन्ते) कहे जाते हैं।

१. आच्छादनं इति ख० २. अन्यदातृगुणोऽसहिष्णुत्वमिति घ०।

टीकार्थ—हरे कमलपत्र आदिसे आहारको ढांकना **हरितपिधान** नामका अतिचार है। हरे कमलपत्र आदिपर आहारको रखना **हरितनिधान** नामका अतिचार है। देते हुए भी आदरका अभाव होना **अनादर** कहलाता है। आहारादि दान इस समय ऐसे पात्रके लिये देना चाहिये अथवा देने योग्य वस्तुओंमें यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकारकी स्मृतिका अभाव होना **अस्मरण** कहलाता है और अन्य दाताके दान तथा गुणोंके विषयमें असहनशीलताका होना **मत्सरत्व** कहलाता है। ये पांच वैयावृत्य शिक्षाव्रतके अतिचार कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ चार प्रकारके दानोंमें आहारदानकी मुख्यतासे अतिचारोंका वर्णन किया जाता है। मुनि सचित्त वस्तुके त्यागी होते हैं अतः उन्हें अचित्त-प्रासुक वस्तु ही दी जाती है। परन्तु उस अचित्त वस्तुको सचित्त कमल पत्र आदिसे ढँककर दिया अथवा सचित्त कमलपत्र आदिपर रखकर दिया इस तरह सचित्त सम्बन्धकी अपेक्षा **हरितपिधान** और **हरितनिधान** ये दो अतिचार बनते हैं। मुनिको आहार दिया तो सही, परन्तु बेगार समझकर अनादर भावसे दिया इस स्थितिमें **अनादर** नामका अतिचार बनता है। आहारादिकी विधिको भूल जाने अथवा किसी वस्तुके देने या न देनेका स्मरण न रखने पर **अस्मरण** नामका अतिचार होता है। और दूसरे दाताके गुणोंमें असहनशीलताके होनेपर **मत्सरत्व** नामका अतिचार होता है। तत्त्वार्थसूत्रकारने **सचित्त-निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य** और **कालातिक्रम** ये पांच अतिचार बताये हैं। उनमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान और मत्सरत्व ये तीन अतिचार तो समन्तभद्रस्वामीके द्वारा प्रतिपादित अतिचारोंमें भी परिगणित हैं। परन्तु **परव्यपदेश** और **कालातिक्रम** ये दो अतिचार भिन्न हैं। दूसरे दातारके द्वारा देने योग्य वस्तुको देना परव्यपदेश है। अथवा स्वयं आहार न देकर नौकर चाकरोंसे दिलाना यह अनादर नामक अतिचारका ही रूपान्तर है। आहारके समयको उल्लंघकर देरसे आहार देना यह कालातिक्रम नामका अतिचार है। ॥३१॥१२१॥

इस प्रकार समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित उपासकाध्यानकी प्रभाचन्द्र विरचित, टीकामें चतुर्थ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

●

सल्लेखना-प्रतिमाधिकारः पंचमः

अथ सागारेणाणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्या। सा च किं स्वरूपा कदा चानुष्ठातव्येत्याह—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १ ॥

आर्या गणधरदेवादयः। सल्लेखनामाहुः। किं तत् ? तनुविमोचनं शरीरत्यागः। कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवाचेतनकृते। निःप्रतीकारे प्रतीकारागोचरे। एतच्च विशेषणं दुर्भिक्षजरारुजानां प्रत्येकं सम्बन्धनीयं। किमर्थं तद्विमोचनं ? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थं ॥ १ ॥

आगे गृहस्थको अणुव्रतादिके समान सल्लेखना भी धारण करना चाहिये। अतः उस सल्लेखनाका क्या स्वरूप है तथा किस समय धारण करने योग्य है, यह कहते हैं—

उपसर्गेति—(**आर्याः**) गणधरादिक देव (**निःप्रतीकार**) प्रतीकार रहित (**उपसर्गे**) उपसर्ग (**दुर्भिक्षे**) दुष्काल, (**जरसि**) बुढापा (**च**) और (**रुजायां**) रोगके उपस्थित होनेपर (**धर्माय**) धर्मके लिये (**तनुविमोचनं**) शरीरके छोड़नेको (**सल्लेखनां**) सल्लेखना (**आहुः**) कहते हैं।

टीकार्थ—उपद्रवको उपसर्ग कहते हैं। यह तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन कृत होनेसे चार प्रकारका होता है। जिसमें अन्नकी कमी होनेसे भिक्षाका मिलना भी कठिन हो जाता है उसे दुर्भिक्ष कहते हैं। वृद्धावस्थाके कारण जिसमें शरीर अत्यन्त जीर्ण हो जाता है उसे जरा कहते हैं, और उपस्थित हुए रोगको रुजा कहते हैं। जब ये चारों वस्तुएँ इस रूपमें उपस्थित हों कि उनका प्रतिकार ही न किया जा सके तब रत्नत्रयरूप धर्मकी आराधनाके लिये शरीर छोड़नेको सल्लेखना कहते हैं। स्वपरके प्राणघातके लिये जो शरीरत्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

विशेषार्थ—शरीरका त्याग च्युत, च्यावित और त्यक्तके भेदसे तीन प्रकारका होता है। आयु समाप्त होनेपर मृत्युके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्युत कहते हैं। आयु समाप्त होनेका अवसर न आनेपर भी विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहार तथा श्वासके निरोधसे असमयमें

जो शरीर छुड़ाया जाता है उसे च्यावित कहते हैं। और जिनका प्रतिकार न किया जा सके ऐसे उपसर्गादिकके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयरूप धर्मकी रक्षाके लिये जो शरीर छोड़ा जाता है उसे त्यक्त कहते हैं। जिस प्रकार मकानमें आग लगने पर पहले उसे बचानेका प्रयत्न किया जाता है, परन्तु जब बचाना अशक्य हो जाता है तब उसमें रखी हुई प्रमुख वस्तुओंको लेकर मनुष्य उस मकानसे अलग हो जाता है, उसका त्याग कर देता है। इसी प्रकार उपसर्गादिकके आनेपर मनुष्य पहले उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करता है, परन्तु जब यह अनुभव हो जावे कि ये दूर नहीं किये जा सकते हैं तब अपने रत्नत्रयरूप धर्मकी रक्षाके अभिप्रायसे शरीरत्याग किया जाता है। इसीको सल्लेखना आराधना या संन्यासमरण कहते हैं। इसके भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनीमरण और प्रायोपगमनके भेदसे तीन भेद होते हैं। जिसमें नियम या यम रूपसे आहारका त्याग किया जाता है उसे **भक्तप्रत्याख्यान** कहते हैं। समयकी अवधि लेकर आहारका जो त्याग होता है उसे **नियमरूप** त्याग कहते हैं और जो जीवन पर्यन्तके लिये आहारका त्याग किया जाता है उसे **यमरूप त्याग** कहते हैं। यदि अच्छे होने की संभावना दिखती है तो नियमरूप त्याग होता है और अच्छे होने की संभावना नहीं दिखती तो यमरूप त्याग होता है। इस भक्तप्रत्याख्यान नामक संन्यासमें क्षपक, अपने शरीरको टहल स्वयं कर सकता है तथा दूसरेसे भी करा सकता है। आहारके त्यागके साथ जिसमें शरीरकी टहल स्वयं तो की जाती है परन्तु दूसरेसे नहीं कराई जाती है उसे **इंगिनीमरण** कहते हैं और जिसमें आहार त्यागके साथ शरीर की टहल न स्वयं की जाती है और न दूसरेसे कराई जाती है उसे **प्रायोपगमन** कहते हैं। आचार्यने सल्लेखनाका मुख्य उद्देश्य 'धर्मार्थ' बतलाया है। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मकी रक्षा करना ही सल्लेखनाका उद्देश्य है। अतः जहाँ कषायके वशीभूत होकर विष, शस्त्र, जलावगाहन, पर्वतपतन श्वासरोध तथा अग्निदाह आदिके द्वारा शरीरघात किया जाता है वहाँ सल्लेखना नहीं होती। वह तो प्राणघात—हिंसाका ही एकरूप माना जाता है॥ १॥ १२२॥

सल्लेखनायां[1] भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्यः, यतः—

अन्त[2]क्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥ २॥

१. सल्लेखनायां च भव्यः घ०. २. अन्तक्रियाधिकरणम्, इति पाठान्तरम्।

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसन्ति । किं तत् ? तपःफलं तपसः फलं तपःफलं सफलं तप इत्यर्थः । कथंभूतं सत् ? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया संन्यासः तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं । यत एवं, तस्माद्यावद्विभवं यथाशक्ति । समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्तव्यः ॥ २ ॥

आगे सल्लेखनाके विषयमें भव्य जीवोंको नियमसे प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि—

अन्तक्रियाधिकरणमिति—[**यस्मात्**] क्योंकि (**सकलदर्शिनः**) सर्वज्ञ भगवान् (**अन्तक्रियाधिकरणं**) संन्यास धारण करनेको (**तपःफलं**) तपका फल (**स्तुवते**) कहते हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**यावाद्विभवं**) यथाशक्ति (**समाधिमरणे**) समाधिमरणके विषयमें (**प्रयतितव्यं**) प्रयत्न करना चाहिये ।

टीकार्थ—अन्त समयकी क्रिया अर्थात् संन्यासको धारण करना ही तपका फल है, ऐसा सर्वदर्शी-सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं अथवा सर्वज्ञदेव उसी तपके फलकी प्रशंसा करते हैं जो अन्त समय संन्यासका आश्रय लेता है । जब ऐसा है तब अपनी पूर्णशक्ति लगाकर समाधिमरणके विषयमें प्रयत्न करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार जीवनपर्यन्त शस्त्रका अभ्यास करनेवाला व्यक्ति यदि युद्धमें चूक जाता है तो उसका शस्त्राभ्यास निष्फल कहा जाता है उसी प्रकार जो व्यक्ति जीवनभर तप धारण करता है परन्तु अन्त समय संन्यास धारण नहीं करता तो उसका तप निष्फल कहा जाता है क्योंकि अन्तमें संन्यास धारण करना ही तपका फल है । इसलिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार संन्यास धारण करनेमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥ १२३ ॥

तत्र यत्नं कुर्वाण एवं कृत्वेदं कुर्यादित्याह—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥ ३ ॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ ४ ॥ युगलं ।

स्वयं क्षान्त्वा । प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । कं ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्धं । संगं पुत्रस्त्र्यादिकं । ममेदमहमस्येत्यादिसम्बधं परिग्रहं बाह्याभ्यन्तरं । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् ? महाव्रतम् कथंभूतं ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्तं निःशेषं च पंचप्रकारमपि । किं कृत्वा ? आलोच्य ।

किं तत् ? एनो दोषं । किं तत् ? सर्वं कृतकारितमनुमतं च । स्वयं हि कृतं हिंसादिदोषं, कारितं हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघितं । एतत्सर्वमेनो निर्व्याजं दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्तं—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च ।
छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥ इति ।

आगे समाधिमरणके विषयमें यत्न करनेवाले पुरुषको ऐसा करके यह करना चाहिये, यह कहते हैं—

स्नेहमिति—समाधिमरणको धारण करनेवाला पुरुष (**स्नेहं**) प्रीति, (**वैरं**) वैर, (**सङ्गं**) ममत्वभाव (**च**) और (**परिग्रहं**) परिग्रहको (**अपहाय**) छोड़कर (**शुद्धमनाः**) स्वच्छ हृदय होता हुआ (**प्रियैः वचनैः**) मधुर वचनोंसे (**स्वजनं**) अपने कुटुम्बी जन तथा (**परिजनमपि**) परिकरके लोगोंको (**क्षांत्वा**) क्षमा कराकर (**क्षमयेत्**) स्वयं क्षमा करे । तथा (**कृतकारितम् अनुमतं च**) कृत, कारित और अनुमोदित (**सर्वं**) सभी (**एनः**) पापोंकी (**निर्व्याजं**) निश्चल भावसे (**आलोच्य**) आलोचना कर (**आमरणस्थायि**) मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले (**निश्शेषं महाव्रतं**) समस्त महाव्रतोंको (**आरोपयेत्**) धारण करे ।

टीकार्थ—उपकारक वस्तुमें जो प्रीतिका संस्कार होता है उसे स्नेह कहते हैं । अनुपकारक वस्तुमें जो द्वेषका संस्कार होता है उसे वैर कहते हैं । स्त्री, पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, इस प्रकारके 'ममेदं' भावको सङ्ग कहते हैं । बाह्य और अन्तरङ्गके भेदसे परिग्रह दो प्रकारका होता है । सल्लेखना धारण करनेके लिये उद्यत पुरुष इन सबको छोड़कर निर्मलचित्त होता हुआ मधुर वचनोंके द्वारा स्वजन तथा परिजन दोनोंको क्षमा करे और दोनोंसे अपने आपको क्षमा करावे । जो पाप स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते हैं । जो दूसरेके द्वारा कराया जाता है उसे कारित कहते हैं और किसी दूसरेके द्वारा किये हुए पापको जो मनसे अच्छा समझा जाता है उसे अनुमत कहते हैं । इन सभी पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना कर मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतोंको धारण करे । जो आलोचना दश दोषोंको बचाकर की जाती है वह निश्छल आलोचना कहलाती है । आलोचनाके दश दोष इस प्रकार हैं—

आकंपियेति—१. आकंपित, २. अनुमानित, ३. दृष्ट, ४. बादर, ५. सूक्ष्म,

६. छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. वहुजन, ९. अव्यक्त और १०. तत्सेवी ये आलोचनाके दश दोष हैं। गुरुके संमुख दोष प्रकट करनेके पूर्व ऐसा भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें अथवा अपनी दयनीय मुद्रा बनाकर दोषोंको कहना जिससे गुरुके हृदयमें अपने प्रति दयाका भाव उत्पन्न हो जावे और उससे वे कठोर दण्ड न देवें, इसे **आकंपित** दोष कहते हैं। दूसरेके द्वारा अनुमानित—संभावनामें आये हुए दोषका निवेदन करना अथवा गुरु इस समय प्रसन्न मुद्रामें हैं या रोष मुद्रामें, इसका अनुमान लगाकर प्रसन्न मुद्राके समय दोष कहना **अनुमानित** दोष है। जो दोष दूसरोंके देखनेमें आ चुका है उसकी आलोचना करना तथा जो किसीने नहीं देखा है उसे प्रकट नहीं करना **दृष्ट** दोष है। स्थूल दोषोंकी आलोचना करना तथा सूक्ष्म दोषोंकी आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जव स्थूल दोष नहीं छिपाता तव सूक्ष्म दोष क्या छिपावेगा—**वादर दोष** है। सूक्ष्म दोषोंकी आलोचना करना तथा स्थूल दोषोंकी आलोचना नहीं करना। साथ ही यह भावना रखना कि जव सूक्ष्म दोष नहीं छिपाता तव स्थूल दोष क्या छिपावेगा, **सूक्ष्म** दोष है। आचार्यके आगे अपराधको स्वयं प्रकट नहीं करना **छन्न** दोष है। संघ आदिके द्वारा किये हुए कोलाहलके समय दोष प्रकट करना **शब्दाकुलित** दोष है। जिस समय पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमणोंके समय संघके समस्त साधु अपने-अपने दोष प्रकट कर रहे हों उसी कोलाहलमें वहुत जनोंके साथ अपने दोष प्रकट करना **वहुजन** दोष है। अथवा गुरुके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तको अन्य वहुत-जनोंसे पूछना कि यह उचित है या अनुचित, **वहुजन** दोष हैं। अव्यक्तरूपसे अपराध कहना अर्थात् स्वयं मुझसे यह अपराध हुआ है, ऐसा न कहकर कहना कि भगवन्! यदि किसीसे अमुक अपराध हो जावे तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा, इस तरह अव्यक्तरूपसे अपराध प्रकटकर प्रायश्चित्त लेना **अव्यक्तदोष** है। और जिस अपराधको प्रकटकर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराधको पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसी अपराधको करनेवाले आचार्यसे प्रायश्चित्त लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जव आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तव दूसरेको क्या दण्ड देवेंगे **तत्सेवी** दोष है।

विशेषार्थ—सल्लेखनाको धारण करनेवाला मनुष्य स्नेह, वैर, संग और परिग्रहका त्यागकर स्वजन, परिजन—सवसे क्षमा मांगता हैं तथा सवको क्षमा करता है, क्योंकि कषायको कृश करना ही सल्लेखनाका लक्ष्य है। जिस प्रकार निरोग होनेका इच्छुक मनुष्य अपने सव प्रकारके रोग वैद्यके सामने प्रकटकर

उसकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार सल्लेखना धारण करनेका इच्छुक मनुष्य अपने सब प्रकारके पापोंकी निश्छलभावसे आलोचनाकर निःशल्य हो जाता है तथा जीवनपर्यन्तके लिए अहिंसा आदि महाव्रतोंको धारण करता है। यह महाव्रत धारण करनेकी बात उत्कृष्टताकी अपेक्षा है। यदि शक्तिकी हीनता है तो ऐलक, क्षुल्लक आदिका व्रत भी लिया जा सकता है ॥ ३-४ ॥ १२४-१२५ ॥

एवंविधामालोचनां कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याह—

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ ५ ॥

प्रसाद्यं प्रसन्नं कार्यं। किं तत् ? मनः। कैः ? श्रुतैरागमवाक्यैः। कथंभूतैः ? अमृतैः अमृतोपमैः संसारदुःखसन्तापापनोदकैरित्यर्थः। किं कृत्वा ? हित्वा। किं तदित्याह—शोकमित्यादि। शोकं—इष्टवियोगे [1]तद्गुणशोचनं, भयं—क्षुत्पिपासादिपीडानिमित्तमिहलोकादिभयं वा, अवसादं विषादं खेदं वा, क्लेदं स्नेहं, कालुष्यं क्वचिद्विषये रागद्वेषपरिणतिं। न केवलं प्रागुक्तमेव अपि तु अरतिमपि अप्रसत्तिमपि। न केवलमेतदेव कृत्वा किन्तु उदीर्य च प्रकाश्य च। कं ? सत्त्वोत्साहं सल्लेखनाकरणेऽकातरत्वं ॥ ५ ॥

आगे इस प्रकारकी आलोचनाकर तथा महाव्रत धारणकर यह कार्य करना चाहिये, यह कहते हैं—

शोकमिति—(शोकं) शोक, (भयं) भय, (अवसादं) खेद, (क्लेदं) स्नेह, (कालुष्यं) द्वेष और (अरतिमपि) अप्रीतिको भी (हित्वा) छोड़कर (च) तथा (सत्त्वोत्साहं) धैर्य और उत्साहको (उदीर्य) प्रकटकर (श्रुतैः अमृतैः) शास्त्ररूप अमृतके द्वारा (मनः) चित्तको (प्रसाद्यम्) प्रसन्न करना चाहिये।

टीकार्थ—इष्टका वियोग होनेपर उसके गुणोंका वार-वार चिन्तन करना शोक कहलाता है। क्षुधा, तृषा आदिकी पीड़ाके निमित्तसे जो डर होता है उसे भय कहते हैं अथवा इहलोकभय, परलोकभय आदिके भेदसे जो सात प्रकार का भय होता है वह भय कहलाता है। विषाद अथवा खेदको अवसाद कहते हैं। स्नेहको क्लेद कहते हैं। किसी विषयमें राग-द्वेषकी जो परिणति होती है उसे कालुष्य कहते हैं। अप्रसन्नताको अरति कहते हैं। सल्लेखनाके करनेमें जो

१. तद्गुणानुशोचनं घ।

कातरताका अभाव है उसे सत्त्वोत्साह कहते हैं। सल्लेखनाको धारण करनेवाला पुरुष इन शोक आदिको छोड़कर शास्त्ररूपी अमृतके द्वारा मनको प्रसन्न रखे। यहाँ संसारसम्बन्धी दुःखोंसे उत्पन्न होनेवाले संतापको दूर करनेके कारण शास्त्रको अमृत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सल्लेखना धारण करनेवाला मनुष्य विकथाओंमें समय न लगाकर स्वयं शास्त्र पढ़े अथवा दूसरेके मुखसे पढ़वावे।

विशेषार्थ—सल्लेखना धारण करते समय इस प्रकारका शोक नहीं होना चाहिये कि मेरे माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक हमेशाके लिए छूट रहे हैं। इनका क्या होगा? मेरे बिना इनका निर्वाह किस प्रकार होगा? इसी प्रकार ऐसा भय भी नहीं होना चाहिये कि मैं भूख, प्यास आदिकी बाधा सहन कर सकूँगा या नहीं? किसीसे रागद्वेष नहीं करना चाहिये तथा प्रसन्न चित्त होकर आत्मतेजको प्रकट करते हुए सल्लेखना धारण करना चाहिये। सल्लेखनाका काल शास्त्रश्रवणमें ही व्यतीत करना चाहिये॥ ५॥ १२६॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रमं दर्शयन्नाह—

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥ ६॥

स्निग्धं दुग्धादिरूपं पानं। विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत्। किं कृत्वा? परिहाप्य परित्याज्य। कं? आहारं कवलाहाररूपं। कथं? क्रमशः[1] प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कंजिकादि, शुद्धपानीयरूपं वा। किं कृत्वा? हापयित्वा। किं? स्निग्धं च स्निग्धमपि पानकं। कथं? क्रमशः। स्निग्धं हि परिहाप्य कंजिकादिरूपं खरपानं पूरयेत् विवर्धयेत्। पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूपं खरपानं पूरयेदिति॥ ६॥

अब सल्लेखना करनेवालेके लिए आहारत्यागका क्रम दिखलाते हुए कहते हैं—

आहारमिति—(**क्रमशः**) क्रमसे (**आहारं**) कवलाहारको (**परिहाप्य**) छुड़वाकर (**स्निग्धं पानं**) दूध आदि स्निग्ध पेयको (**विवर्द्धयेत्**) बढ़ावे (**च**) पश्चात् (**क्रमशः**) क्रमसे (**स्निग्धं**) दूध आदि स्निग्ध पेयको (**हापयित्वा**) छुड़वाकर (**खरपानं**) कांजी आदि खरपानको (**पूरयेत्**) बढ़ावे।

टीकार्थ—सल्लेखनाके समय आहारादिकके छोड़नेका क्रम यह है कि पहले

---

१. प्रकाशनादिक्रमेण घ।

दाल, भात, रोटी आदि आहारको छोड़कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थोंको ग्रहण करे। पश्चात् उसे भी छोड़कर खरपान—स्निग्धतारहित पेय पदार्थोंका सेवन करे अर्थात् जिसमेंसे घी निकाला जा चुका है ऐसी छांछको ग्रहण करे और फिर उसे भी छोड़कर मात्र गर्म पानीको ग्रहण करे।

विशेषार्थ—एक साथ सब प्रकारका आहार छोड़ देनेसे क्षपकको आकुलता हो सकती है, इसलिये सल्लेखना विधिको करानेवाला आचार्य क्षपककी शक्तिको देखते हुए क्रम-क्रमसे आहारादिकका त्याग कराता है। अर्थात् अशन—दाल, भात, रोटी आदि स्थूल आहारका त्याग कराकर दूध आदि स्निग्ध पदार्थोंका सेवन कराता है। संस्कृत-टीकाके **'प्रागशनादिक्रमेण'** के स्थानपर 'घ' प्रतिमें **'प्रकाशनादिक्रमेण'** पाठ दिया है। उससे यह संकेत मालूम होता है कि निर्यापकाचार्य, क्षपकके सामने विभिन्न प्रकारके आहारको दिखाता है। यदि किसी आहारमें उसकी लोलुपता मालूम होती है तो निर्यापकाचार्य उसे समझाता है कि हे भाई! तूने इस प्रकारके आहारको अनादिकालसे बहुत परिमाणमें ग्रहण किया है। पर उससे तुझे तृप्ति नहीं हुई, अतः इसके रागको छोड़ना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार उपदेशके द्वारा निर्यापकाचार्य, क्षपकके आहारविषयक रागको कम कराता हुआ पहले कवलाहाररूप आहारको छुड़वाकर दूध आदिका सेवन कराता है। फिर क्रमसे उसे भी छुड़ाकर छांछका सेवन कराता है और पश्चात् उसे भी छुड़ाकर मात्र गर्म पानीका सेवन कराता है ॥ ६ ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ ७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा। कथं ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण[1] स्तोकस्तोकतरादिरूपं। पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत्। कथं ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसंयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन। किंविशिष्टः सन् ? पंचनमस्कारमनाः पंचनमस्काराहितचित्तः ॥ ७ ॥

आगे तत्पश्चात् वह क्या करता है, यह कहते हैं—

खरपानेति—पश्चात् (खरपानहापनाम् अपि) गर्म जलका भी त्याग (कृत्वा) करके (शक्त्या) शक्तिके अनुसार (उपवासम् अपि) उपवास भी (कृत्वा) करके (सर्वयत्नेन) पूर्ण तत्परतासे (पञ्चनमस्कारमनाः सन्) पञ्चनमस्कार मन्त्रमें मन लगाता हुआ (तनुं) शरीरको (त्यजेत्) छोड़े।

---

१. स्वशक्त्यनतिक्रमेण घ।

टीकार्थ—पश्चात् उस गर्म जलका भी त्यागकर अपनी शक्तिका उल्लङ्घन न करता हुआ एक-दो-तीन आदि दिनोंका उपवास करे। और अन्तमें व्रत-संयम-चारित्र तथा ध्यान विषयक धारणा आदि सभी कार्योंमें तत्पर रहता हुआ पञ्चनमस्कारमन्त्रकी आराधनामें अपना मन लगावे। अन्तमें बड़ी सावधानीसे शरीरका त्याग करे।

विशेषार्थ—पूर्व श्लोकमें जिस आहारत्याग आदिका क्रम बतलाया था उसका इस श्लोकमें समारोप करते हुए कहा है कि अन्तमें गर्म जलका भी त्याग करे और जैसी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार उपवासका नियम लेवें तथा व्रत संयम आदिकी रक्षा करता हुआ पञ्चनमस्कारमन्त्रमें अपना उपयोग स्थिर करे। अन्तमें समताभावसे शरीरका परित्याग करे। शरीरत्यागके साथ ही सल्लेखनाकी विधि पूर्ण होती है॥ ७॥ १२८॥

अधुना सल्लेखनाया अतिचारानाह—

जीवितमरणाशंसे[1] भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥ ८॥

जीवितं च मरणं च तयोराशंसे आकांक्षे। भयमिहपरलोकभयं। इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयं परलोकभयं—एवंविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वेति। मित्रस्मृतिः बाल्याद्यवस्थायां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं। निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणं। एतानि पंचनामानि येषां ते तन्नामानः सल्लेखानायाः पंचातिचाराः। जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः। समादिष्टा आगमे प्रतिपादिताः॥ ८॥

अब सल्लेखनाके अतिचार कहते हैं—

जीवितेति—(**जीवितमरणाशंसे**) जीविताशंसा, मरणाशंसा, (**भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः**) भय, मित्रस्मृति और निदान नामसे युक्त (**पञ्च**) पाँच (**सल्लेखनातिचाराः**) सल्लेखनाके अतिचार (**जिनेन्द्रैः**) जिनेन्द्रभगवान्‌के द्वारा (**समादिष्टाः**) कहे गहे हैं।

टीकार्थ—सल्लेखना धारणकर ऐसी इच्छा रखना कि मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता, यह **जीविताशंसा** नामका अतिचार है। क्षुधा, तृषा अदिकी पीड़ा होनेपर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह **मरणाशंसा** नामका अतिचार है। इहलोकभय और परलोकभयकी अपेक्षा भयके दो भेद हैं। मैंने सल्लेखना धारण की तो है,

---

१. मरणशंसाभयमित्रस्मृति घ।

परन्तु मुझे क्षुधा, तृषा आदिकी पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकारका भय होना **इहलोकभय** कहलाता है। और इस प्रकारके दुर्धर—कठिन अनुष्ठानके करनेसे परलोकमें विशिष्ट फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना **परलोकभय** है। बाल्य आदि अवस्थाओंमें जिनके साथ क्रीड़ा की थी, ऐसे मित्रोंका बार-बार स्मरण करना **मित्रस्मृति** नामका अतिचार है। और आगामी भोग आदिकी आकांक्षा रखना **निदान** नामका अतिचार है। जिनेन्द्र भगवान्ने सल्लेखनाके ये पाँच अतिचार परमागममें कहे हैं।

विशेषार्थ—तत्वार्थसूत्रकारने **'जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि'** इस सूत्र द्वारा जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पाँच अतिचार कहे हैं। इनमें सुखानुबन्धको छोड़कर शेष चार अतिचार उभयत्र समान हैं। सिर्फ तत्वार्थसूत्रकारके 'सुखानुबन्ध' के स्थानपर समन्तभद्रस्वामीने **भय** नामका अतिचार स्वीकृत किया है। पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना **सुखानुबन्ध** कहलाता है। इसे समन्तभद्रस्वामीने निदानमें गर्भितकर भय नामका अतिरिक्त अतिचार स्वीकृत किया है ऐसा जान पड़ता है ॥ ८ ॥ १२९ ॥

एवंविधैरतिचारै रहितां सल्लेखनां अनुतिष्ठन् कीदृशं फलं प्राप्नोत्याह—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ ९ ॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनानुष्ठाता। किं तत् ? निःश्रेयसं निर्वाणं। किंविशिष्टं ? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं। तर्हि सपर्यन्तं तद्भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं। कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमहमिन्द्रादिसुखपरंपरां निष्पिबति। कथंभूतं ? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं। किंविशिष्टः सन् ? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः। कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति ? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन ॥ ९ ॥

आगे इस प्रकारके अतिचारोंसे रहित सल्लेखनाको धारण करने वाला मनुष्य कैसे फलको प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

निःश्रेयसमिति—(पीतधर्मा) धर्मका पान करने वाला कोई क्षपक (सर्वैः) सब (दुःखों) दुःखोंसे (अनालीढः) अछूता रहता हुआ (निस्तीरं) अन्त रहित तथा (सुखाम्बुनिधि) सुखके समुद्रस्वरूप (निःश्रेयसं) मोक्षका

(**निःपिबति**) अनुभव करता है और कोई क्षपक (**दुस्तीरं**) वहुत समयमें समाप्त होने वाली (**अभ्युदयं**) अहमिन्द्र आदिकी सुखपरम्पराका अनुभव करता है।

टीकार्थ—सल्लेखनाका फल मोक्ष तथा स्वर्गादिकका सुख प्राप्त करना है। मोक्षको निःश्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदिके पदको अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद, सुखके समुद्रस्वरूप हैं। अर्थात् निःश्रेयस आत्मोत्थ अनन्त सुखका समुद्र है और अहमिन्द्र आदिका पद रोग, शोक आदिसे रहित होनेके कारण सांसारिक सुखका उत्कृष्ट स्थान है। निःश्रेयस—मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्तसे रहित है और अभ्युदय—अहमिन्द्र आदिका पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यन्त विशालकालसे उसका अन्त प्राप्त होता है। इन दोनों फलोंको प्राप्त होनेवाला क्षपक पीतधर्मा होता है अर्थात् उत्तम क्षमादिरूप अथवा चारित्ररूप धर्मका पान करने वाला होता है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखोंसे असंस्पृष्ट—अछूता रहता है।

विशेषार्थ—सल्लेखनाको धारण करने वाला मनुष्य यदि रत्नत्रयकी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है तो उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होता है और यदि रत्नत्रयकी पूर्णतामें कमी रहती है तो स्वर्गको प्राप्त होता है। परन्तु इतना निश्चित है कि विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला मनुष्य[1] सात-आठ भवमें नियमसे मोक्षको प्राप्त होता है॥ ९॥ १३०॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥ १०॥

निःश्रेयसमिष्यते। किं? निर्वाणं। कथंभूतं शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र। तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं। तथा परिमुक्तं रहितं। कैः? जन्मजरामयमरणैः,

---

१. कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।
केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्मि भवे॥ १०७॥
आराहिऊण केइ चउव्विहाराहणाइ जं सारं।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति॥ १०८॥
जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं ते वि य पावंति णिव्वाणं॥ १०९॥
आराधनासारे देवसेनस्य

जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः, जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः, मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः। तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं ॥ १० ॥

अब निःश्रेयसशब्दसे क्या कहा जाता है, यह बताते हैं—

जन्मजरेति—(**जन्मजरामयमरणैः**) जन्म, वार्धक्य, रोग, मरण, (**शोकैः**) शोक, (**दुःखैः**) दुःख (**च**) और (**भयैः**) भयोंसे (**परिमुक्तं**) रहित (**शुद्धसुखं**) शुद्ध सुखसे सहित (**नित्यं**) नित्य—अविनाशी (**निर्वाणं**) निर्वाण (**निःश्रेयसं**) निःश्रेयस (**इष्यते**) माना जाता है।

टीकार्थ—जो निर्वाण अर्थात् मोक्ष है वही निःश्रेयस है। वह जन्म, जरा, रोग और मरणसे, शोक, दुःख और भयोंसे सर्वथा रहित है, शुद्ध आत्मोत्थ सुखसे सहित है तथा अविनाशी है। पर्यायान्तरकी उत्पत्तिको जन्म कहते हैं, बुढ़ापाको जरा कहते हैं, रोग आमय कहलाते हैं तथा शरीरादिकका छूट जाना मरण कहलाता है। शोक, दुःख और भयका अर्थ स्पष्ट है।

विशेषार्थ—'**नितरां श्रेयो निःश्रेयसम्**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो अत्यन्त कल्याणरूप है उसे निःश्रेयस कहते हैं। अत्यन्त कल्याणरूप मोक्ष ही है क्योंकि वही जन्म, जरा, रोग, मरण आदिसे रहित है, नित्य है और शुद्ध सुखस्वरूप है। देव तथा चक्रवर्ती आदिके सुख जन्म, जरा, रोग, मरण आदि विपत्तियोंसे परिपूर्ण हैं आकुलतासे सहित होनेके कारण दुःखरूप हैं और उतने पर भी चिरस्थायी नहीं है, विनश्वर हैं, परन्तु मोक्ष इससे विपरीत है। यहाँ मोक्षशब्दका निर्वाण शब्दके द्वारा उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ होता है '**निःशेषेण वानं गमनं निर्वाणम्**' अर्थात् सम्पूर्णरूपसे प्राप्तिको निर्वाण कहते हैं। सम्पूर्णरूपसे प्राप्तिका अर्थ यह है कि जिससे पुनः लौटकर नहीं आना पड़े ॥ १० ॥ १३१ ॥

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशाः पुरुषाः तिष्ठन्तीत्याह—

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥ ११ ॥

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसे तिष्ठन्ति। के ते इत्याह–विद्येत्यादि। विद्या केवलज्ञानं, दर्शनं केवलदर्शनं, शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं परमोदासीनता, प्रह्लादोऽनन्तसौख्यं, तृप्तिर्विषयानाकांक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युञ्जन्ति आत्मसम्बन्धाः कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः। तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः। तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः। इत्थंभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति। सुखं सुखरूपं निःश्रेयसं। अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ॥ ११ ॥

अब ऐसे निःश्रेयस—मोक्षमें कैसे पुरुष रहते हैं, यह कहते हैं—

विद्यादर्शनेति—(**विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः**) केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परम उदासीनता, अनन्तसुख, तृप्ति और शुद्धिको प्राप्त (**निरतिशया**) हीनाधिकतासे रहित और (**निरवधयः**) अवधिसे रहित जीव (**सुखं**) सुखस्वरूप (**निःश्रेयसं**) मोक्षरूप निःश्रेयसमें (**आवसन्ति**) निवास करते हैं।

टीकार्थ—निःश्रेयसमें वे ही जीव निवास करते हैं जो विद्या अर्थात् केवलज्ञान, दर्शन अर्थात् केवलदर्शन, शक्ति अर्थात् अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य अर्थात् परम उदासीनपना, प्रह्लाद अर्थात् अनन्त सुख, तृप्ति अर्थात् विषयसम्बन्धी आकांक्षाका अभाव और शुद्धि अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मलसे रहितपना इन सवसे युक्त हैं। अतिशय अर्थात् विद्यादिगुणसम्बन्धी हीनाधिकतासे रहित हैं और निरवधि अर्थात् कालकी अवधिसे रहित हैं। वह निःश्रेयस सुखस्वरूप है अथवा **'सुखं यथा भवति तथा'** इस प्रकार क्रियाविशेषणपक्षमें यह होता है कि पूर्वोक्त विशेषणोंसे विशिष्ट जीव निःश्रेयसमें सुखसे निवास करते हैं।

विशेषार्थ—निःश्रेयस—मोक्षमें रहनेवाले जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंके नष्ट हो जानेसे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख आदि गुणोंसे सहित होते हैं। आत्मगुणोंकी अपेक्षा उनमें किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता नहीं होती तथा उनमें कालकी कोई अवधि नहीं होती। अनन्तकालतक वहाँ वे निवास करते हैं। 'निःश्रेयसं' यहाँपर [1]'आङ्, उपसर्ग पूर्वक वस धातुका प्रयोग होनेसे आधार अर्थमें कर्मकारक हुआ है अर्थात् सप्तमी विभक्तिके स्थान पर द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है ॥ ११ ॥ १३२ ॥

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धानां विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथं निरतिशया निरवधयश्चेत्याशंकायामाह—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥१२॥

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छेद्या। कासौ ? विक्रिया विकारः स्वरूपान्यथाभावः।

---

१. 'उपान्वध्याङ्वसः' पाणिनीयसूत्र उप, अनु, अधि और आङ् उपसर्गपूर्वक वस धातुके आधारकी कर्मसंज्ञा होती है।

केषां ? शिवानां सिद्धानां । कदा ? कल्पशतेऽपि गते काले । तर्हि उत्पातवशात्तेषां विक्रिया स्यादित्याह—उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषां विक्रिया लक्ष्या । कथंभूतः उत्पातः ? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटुः समर्थः ॥ १२ ॥

आगे अनन्तकाल वीत जानेपर किसी समय सिद्धोंकी विद्या आदिमें अन्यथाभाव हो जावेगा, अतः वे निरतिशय और निरवधि किस प्रकार हुए, ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—

काल इति—(**कल्पशते**) सैकड़ों कल्पकाल वरावर (**काले**) कालके (**गतेऽपि**) वीत जानेपर भी (**च**) और (**यदि**) यदि (**त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः**) तीनों लोकोंके संभ्रान्त करनेमें समर्थ (**उत्पातः अपि**) उत्पात भी (**स्यात्**) होवे तो भी (**शिवानां**) सिद्धोंमें (**विक्रिया**) विकार (**न लक्ष्या**) दिखाई नहीं देता ।

टीकार्थ—बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। ऐसे सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी सिद्धोंमें कोई विकार लक्ष्यमें नहीं आता। इसी प्रकार तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेमें समर्थ उत्पात भी यदि हो तो भी सिद्धोंमें कोई विकार अनुभवमें नहीं आता। इस प्रकार वे निरतिशय और निरवधि ही रहते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि सिद्ध भगवान्‌में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं और उनके कारण वे सर्वथा कूटस्थ नहीं हैं—उनमें भी अर्थपर्यायरूप परिणमन प्रत्येक समय होता रहता है। परन्तु यहाँ उस सूक्ष्म परिणमनकी विवक्षा नहीं है। यहाँ स्थूल परिणमनकी अपेक्षा चर्चा करते हुए कहा गया है कि उनमें ऐसा कोई परिणमन नहीं होता जिससे कि उनके केवलज्ञानादि गुणोंमें न्यूनाधिकता आवे अथवा उनकी वह सिद्धपर्याय नष्ट होकर फिरसे नरनारकादि पर्याय होने लगे ॥ १२ ॥ १३३ ॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥ १३ ॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते । धरन्ति । कां ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः तां । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह—

निष्किट्टेत्यादि । किट्टं च कालिका च ताभ्यां निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकरं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मा स्वरूपं येषां ॥ १३ ॥

आगे विकारसे रहित वे सिद्ध भगवान् मोक्षमें सदा रहते हुए क्या करते हैं, यह कहते हैं—

निःश्रेयसमिति—(निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः) कीट और कालिमासे रहित कान्तिवाले सुवर्णके समान जिनका स्वरूप प्रकाशमान हो रहा है ऐसे **(निःश्रेयसमधिपन्नाः)** मोक्षको प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी **(त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं)** तीन लोकके अग्रभागपर चूड़ामणिकी शोभाको **(दधते)** धारण करते हैं।

टीकार्थ—जिस प्रकार कीट और कालिमासे रहित कान्ति वाला सुवर्ण अतिशय देदीप्यमान होता है उसी प्रकार द्रव्यकर्म तथा भावकर्मसे रहित होनेके कारण जिनका स्वरूप अतिशय प्रकाशमान रहता है ऐसे सिद्ध भगवान् लोकके अग्रभागमें चूड़ामणिकी शोभाको धारण करते हैं।

विशेषार्थ—चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें बहत्तर और अन्तिम समयमें तेरह प्रकृतियोंका क्षयकर यह जीव एक समयमें लोकके अग्रभागमें पहुँच जाता है। तीन लोकके ऊपर जो अन्तिम वातवलय है उसके ऊपरकी ओरका पाँचसौ पच्चीस धनुषकी अवगाहनाका क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। इसी सिद्धक्षेत्रमें सिद्धोंका निवास होता है। इस स्थानसे वे कभी भी विचलित नहीं होते और न उनके केवलज्ञानादिगुणोंमें कभी न्यूनाधिकता आती है वहाँ तो वे अतिशय देदीप्यमान चूड़ामणिके समान जान पड़ते हैं ॥ १३ ॥ १३४ ॥

एवं सल्लेखनामनुतिष्ठतां निःश्रेयसलक्षणं फलं प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फलं प्रतिपादयन्नाह—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥ १४ ॥

अभ्युदयं इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षणं । फलति अभ्युदयफलं ददाति । कोऽसौ ? सद्धर्मः सल्लेखनानुष्ठानोपार्जितं विशिष्टं पुण्यं । कथंभूतमभ्युदयं ? अद्भुतं साश्चर्यं । कथंभूतं तदद्भुतं ? अतिशयितभुवनं यतः । कैः कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञानां प्रत्येकं सम्बध्यते । किंविशिष्टैरेतैरित्याह—बलेत्यादि । बलं सामर्थ्यं परिजनः परिवारः कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतद्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु । एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

इस प्रकार सल्लेखना धारण करने वालोंके निःश्रेयसरूप फलका प्रतिपादन कर अब अभ्युदयरूप फलका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

पूजार्थेति—(**सद्धर्मः**) सल्लेखनाके द्वारा समुपार्जित समीचीन धर्म, (**बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः**) बल, परिवार, तथा काम और भोगोंसे परिपूर्ण (**पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः**) पूजा, अर्थ, आज्ञा तथा ऐश्वर्यके द्वारा (**अतिशयितभुवनं**) संसारको आश्चर्ययुक्त करनेवाले तथा स्वयं (**अद्भुतं**) आश्चर्यकारी (**अभ्युदयं**) स्वर्गादिरूप अभ्युदयको (**फलति**) फलता है।

टीकार्थ—सल्लेखनाके धारण करनेसे उपार्जित विशिष्ट पुण्यरूप समीचीन धर्म, उस अभ्युदयको फलता है जो बल, परिजन, काम तथा भोगोंसे परिपूर्ण पूजा, अर्थ तथा आज्ञारूप ऐश्वर्यके द्वारा समस्त भुवनको अतिक्रान्त करता है और जो स्वयं भी अद्भुत—आश्चर्यको उत्पन्न करने वाला है।

विशेषार्थ—इन्द्रादिककी विभूतिको अभ्युदय कहते हैं। यह अभ्युदय अपने पूजा आदिके ऐश्वर्यसे समस्त जगत्को अभिभूत करता है तथा स्वयं भी आश्चर्यकारी होता है। सल्लेखनाका प्रमुख फल मोक्ष प्राप्त करना है और उसकी प्राप्तिके योग्य अवसर न मिलनेपर इन्द्रादिकके वैभवको प्राप्त करना गौण फल है ॥ १४ ॥ १३५ ॥

साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १५ ॥

देशितानि प्रतिपादितानि। कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः। कति ? एकादश। कैः ? देवैस्तीर्थंकरैः। येषु श्रावकपदेषु। खलु स्फुटं सन्तिष्ठन्तेऽवस्थितिं कुर्वन्ति। के ते ? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धाः गुणाः। कैः सह ? पूर्वगुणैः पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणैः सह। कथंभूताः ? क्रमविवृद्धाः सम्यग्दर्शनमादि कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्धया क्रमेण विशेषेण वर्धमानाः ॥ १५ ॥

अब सल्लेखनाको करने वाला जो यह श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, यह आशङ्का उठा कर कहते हैं—

श्रावकेति—(देवैः) तीर्थंकर भगवान्के द्वारा (एकादश) ग्यारह (श्रावकपदानि) श्रावककी प्रतिमाएँ (देशितानि) कही गई हैं (येषु) जिनमें

(खलु) निश्चयसे (स्वगुणाः) अपनी प्रतिमासम्बन्धी गुण, (पूर्वगुणैः सह) पूर्वप्रतिमासम्बन्धी गुणोंके साथ (क्रमविवृद्धाः) क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए (संतिष्ठन्ते) स्थित होते हैं ।

टीकार्थ—[1]पदका अर्थ स्थान होता है। इसी स्थानके अर्थमें प्रतिमाशब्दका भी प्रयोग होता है। श्रावकके जो पद—स्थान हैं वे श्रावक प्रतिमाएँ कहलाती हैं। तीर्थंकर भगवान्‌ने श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ कही हैं। उन प्रतिमाओंमें अपनी-अपनी प्रतिमाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण पिछली प्रतिमाओं सम्बन्धी गुणोंके साथ क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होते हुए विद्यमान रहते हैं। अर्थात् अगली प्रतिमाओंमें स्थित पुरुषोंको पूर्वप्रतिमा सम्बधी गुणोंका आचरण करना आवश्यक होता है।

विशेषार्थ—एकदेश चारित्रको धारण करनेवाला मनुष्य श्रावक होता है। यह एकदेश चारित्र अप्रत्याख्यानावरण कषायके अनुदयसे होता है। इस अप्रत्याख्यानावरण कषायके अनुदयके साथ प्रत्याख्यानावरण कषायका जैसे-जैसे मन्द उदय होता जाता है वैसे-वैसे ही श्रावककी प्रतिमाओंमें वृद्धि होती जाती है। श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधककी अपेक्षा तीन भेद ग्रन्थान्तरोंमें बतलाये गये हैं। जो सम्यग्दर्शनके साथ आठ मूलगुणोंका अभ्यासरूपसे पालन करता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जो ग्यारह प्रतिमाओंका निरतिचार पालन करता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और जो अन्त समयमें सल्लेखना धारणकर रहा है वह साधक श्रावक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावकके ग्यारह भेद निम्न प्रकार हैं—१. दर्शनिक २. व्रती. ३. सामायिकी ४. प्रोषधी ५. सचित्तत्यागी ६. रात्रिभुक्तिविरत ७. ब्रह्मचारी ८. आरम्भविरत ९. परिग्रहविरत १०. अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत[2] ॥ १५ ॥ ३६ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १६ ॥

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति । किंविशिष्टः ? सम्यग्दर्शनशुद्धः सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य असंयतसम्यग्दृष्टेः । कोऽस्य विशेष

---

१. 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्याङ्घ्रिवस्तुपु' इत्यमरः ।

२. दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २१ ॥ चारित्रपाहुड़ ।

इत्यत्राह—संसारशरीरभोगनिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रतांशसंभवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः। एतदेवाह—तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वानां व्रतानां पंथानो मार्गा[1] मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य। पंचगुरुचरणशरण. पंचगुरवः पंचपरमेष्ठिनस्तेषां चरणाः शरणमपायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १६ ॥

आगे यही दिखाते हुए कहते हैं—

सम्यग्दर्शनेति—जो (**सम्यग्दर्शनशुद्धः**) जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है (**संसारशरीरभोगनिर्विण्णाः**) संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है (**पञ्चगुरुचरणशरणः**) पञ्चपरमेष्ठियोंके चरणोंको शरण जिसे प्राप्त हुई है तथा (**तत्त्वपथगृह्यः**) आठ मूलगुणोंको जो धारण कर रहा है वह (**दर्शनिकः**) दर्शनिक श्रावक है।

टीकार्थ—'**सम्यग्दर्शनं शुद्धं निरतिचारं यस्य सः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसका सम्यग्दर्शन शङ्का, कांक्षा आदि अतिचारोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध है, जो संसार, शरीर और भोगोंसे उदासीन है। '**तत्त्वानां व्रतानां पन्था मार्गो मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा यस्य**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार व्रतोंके मार्गस्वरूप आठ मूलगुणोंको जिसने ग्रहण करने योग्य समझकर धारण किया है तथा पञ्चपरमेष्ठियोके चरण जिसके शरण हैं—दुखोंसे रक्षा करनेके उपायभूत हैं वह दर्शनिकश्रावक कहलाता है।

विशेषार्थ—जो निरतिचार सम्यग्दर्शनको पालता है परन्तु व्रतोंसे सर्वथा रहित है वह अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब अष्टमूलगुणोंको अतिचार सहित धारण करता है तथा सात व्यसनोंका सातिचार त्याग करता है तब पाक्षिक श्रावक कहलाता है। असंयतसम्यग्दृष्टि तथा पाक्षिक श्रावक ये दोनों ही चतुर्थगुणस्थानवर्ती हैं। इसके आगे जब यह सम्यग्दृष्टि, संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर व्रत धारण करनेके क्षेत्रमें अग्रसर होता है तथा मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ अहिंसाणुव्रत आदि पांच अणुव्रतोंका धारक होता है और पञ्चपरमेष्ठियोंकी अखण्ड श्रद्धा रखता है तब वह दर्शनिक श्रावक कहलाता है। यहाँसे पञ्चमगुणस्थानका प्रारम्भ होता है। यह नैष्ठिक श्रावकका पहला भेद है ॥ १६ ॥ १३७ ॥

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाह—

---

१. पन्था मार्गो घ०।

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥ १७ ॥

[1]व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः । केषां ? व्रतिनां गणधरदेवादीनां । कोऽसौ ? [2]निःशल्यो, माया-मिथ्या-निदानशल्येभ्यो निष्क्रान्तो निःशल्यः सन् योऽसौ धारयते । किं तत् ? *निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि* पंचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः । न केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तकं चापि त्रिःप्रकारगुणव्रत-चतुःप्रकारशिक्षाव्रतलक्षणं शीलम् ॥ १७ ॥

आगे वह श्रावक परिपूर्ण देशव्रतरूप गुणसे संपन्न होता है, यह कहते हैं—

निरतिक्रमणमिति—(**यः**) जो (**निःशल्यः**) शल्यरहित होता हुआ (**निरतिक्रमणं**) अतिचार रहित (**अणुव्रतपञ्चकमपि**) पांचों अणुव्रतोंको (**च**) और (**शीलसप्तकमपि**) सातों शीलोंको (**धारयते**) धारण करता है (**असौ**) वह (**व्रतिनां**) गणधरदेवादिक व्रतियोंके मध्यमें (**व्रतिकः**) व्रतिक नामका श्रावक (**मतः**) माना गया है ।

टीकार्थ—'**व्रतानि यस्य सन्तीति व्रती**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिसके व्रत होते हैं उसे व्रती कहते हैं। व्रतीशब्दसे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय करने पर '**व्रतिक**' शब्द निष्पन्न होता है। मिथ्यात्व, माया और निदान ये तीन शल्य कहलाती हैं। इनके रहते हुए कोई व्रती नहीं हो सकता[3]। इसलिये इन तीन शल्योंसे रहित होता हुआ जो अतिचार रहित पाँच अणुव्रतोंको धारण करता है तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके भेदसे सात शीलोंको भी जो धारण करता है वह व्रतिक श्रावक कहलाता है।

विशेषार्थ—पहली प्रतिमामें तीन शल्योंका अभाव नहीं हुआ था तथा अणुव्रतोंमें कदाचित् अतिचार लगते थे, परन्तु दूसरी प्रतिमामें आते ही इसकी तीनों शल्यें छूट जाती हैं और पांच अणुव्रतोंका निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंका भी यह पालन करता है परन्तु इनके पालनमें कदाचित् अतिचार लगते हैं। इस प्रतिमाधारीका नाम व्रतिक अथवा व्रती श्रावक है ॥ १७ ॥ १३८ ॥

---

१. व्रतान्यस्यास्तीति व्रती मतः घ० । २. निःशल्यः तन् घ० ।

३. 'निःशल्यो व्रती' तत्त्वार्थसूत्र ।

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्वं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥ १८ ॥

सामयिकः समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणोपेतः । किंविशिष्टः ? चतुरावर्तत्रितयः चतुरो वारानावर्तत्रितयं यस्य । एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहंताणस्य थोसामे'श्चाद्यन्तयोः प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि कायोत्सर्गविधाने चत्वार आवर्ता तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः । स्थित ऊर्ध्वकायोत्सर्गोपेतः । यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः । द्विनिषद्यो द्वे निषद्ये उपवेशने यस्य । देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः । त्रियोगशुद्धः त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापाररहिता यस्य । अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येवंशीलः । कथं ? त्रिसंध्यं ॥ १८ ॥

अब वह श्रावक सामायिक गुणसे संपन्न होता है, यह कहते हैं—

चतुरावर्तेति—[यः] जो (**चतुरावर्तत्रितयः**) चार बार तीन तीन आवर्त[1] करता है, (**चतुःप्रणामः**) चार प्रणाम करता है, (**स्थितः**) कायोत्सर्गसे खड़ा होता है, (**यथाजातः**) बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागी होता है, (**द्विनिषद्यः**) दो बार बैठकर नमस्कार करता है (**त्रियोगशुद्धः**) तीनों योगों को शुद्ध रखता है और (**त्रिसन्ध्यं**) तीनों संध्याओंमें (**अभिवन्दी**) वन्दना करता है [सः] वह (**सामयिकः**) सामयिक प्रतिमाधारी है ।

टीकार्थ—इस श्लोकमें सामयिक प्रतिमाका लक्षण बतलाते हुए उसकी विधिका भी निर्देश किया गया है । सामयिक करने वाला पुरुष एक एक कायोत्सर्गके बाद चार बार तीन तीन आवर्त करता है, अर्थात् प्रत्येक दिशामें **'णमो अरहंताणं'** इस आद्य सामायिक दण्डक और **'थोस्सामि हं'** इस अन्तिम स्तवदण्डकके तीन तीन आवर्त और एक एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है । श्रावक इन आवर्तादिकको क्रियाओंको खड़े होकर

---

१. आवर्तका लक्षण—

कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम् । स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः ।
त्रिःसंपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत्पुनः । साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत् ॥

शिरोनतिका लक्षण—

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः ।
यत्पाणि कुड्मलांके तत्क्रियायां स्याच्चतुः ॥ (सामायिक भाष्य)

करता है, सामायिकको अवधिके भीतर यथाजात—नग्नमुद्राधारीके समान वाह्याभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे दूर रहता है। 'देववन्दना करने वालेको प्रारम्भमें और समाप्तिमें बैठकर प्रणाम करना चाहिये' इस विधिके अनुसार दो वार बैठकर प्रणाम करता है अर्थात् सामयिक प्रारम्भ करनेके लिये प्रथम वार कायोत्सर्ग कर तीन आवर्त करता है, उसके वाद बैठकर पृथिवीमें शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है और सामयिकके वाद कायोत्सर्ग करता है, उसके वाद भी बैठकर पृथिवीमें शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। तीनों योगोंको शुद्ध रखता है अर्थात् उनके सावद्य व्यापारका त्याग करता है और तीनों सन्ध्याओंमें वन्दना करता है।

विशेषार्थ—सामयिक प्रतिमावालेको तीनों संध्यायों—प्रातःकाल, मध्याह्न-काल और सायंकालमें वन्दना करनेकी वात कही गई है। समन्तभद्रस्वामीने **'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी'** इस पदके द्वारा यह भाव स्पष्ट किया है और वसुनन्दि आदि आचार्योंने

जिणवणयधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु॥

इस गाथा द्वारा लिखा है कि जिनवचन—जिनशास्त्र, जिनधर्म, जिनचैत्य, परमेष्ठी तथा जिनालयोंकी तीनों कालमें जो वंदना की जाती है उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक करनेवाला पुरुष पूर्वादि दिशाओंमें खड़ा होकर जो आवर्त तथा नमस्कार करता है वह उन दिशाओंमें स्थित जिनप्रतिमाओं तथा चैत्या-लय आदिको लक्ष्य करके ही करता है। नमस्कार, प्रदक्षिणा—परिक्रमा पूर्वक होता है, इसलिए परिक्रमाकी विधिको सम्पन्न करनेके लिए तीन तीन आवर्त करता है अर्थात् दोनों हाथोंको कमलमुकुलाकार कर प्रदक्षिणारूपसे घुमाता है। इस वन्दनाके पहले वह पूर्व या उत्तरदिशाकी ओर मुखकर खड़ा होता है और निम्नलिखित सामायिकदण्डक पढ़कर २७ उच्छ्वासमें[1] नौ वार णमोकार-मन्त्र पढ़ता हुआ कायोत्सर्ग करता है—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

---

१. एक वार णमोकारमन्त्रके उच्चारणमें तीन उच्छ्वास लगते हैं—पहले उच्छ्वासमें 'णमो अरहंताणं णमोसिद्धाणं', दूसरे अच्छ्वासमें 'णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं' और तीसरे उच्छ्वासमें 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस प्रकार उच्चारण करना चाहिए।

चत्तारि मंगलं—अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तरि लोगुत्तमा—अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वजामि—अरहंते सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभुमिसु जाव अरहंताणं भयवताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं वुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्मदेसयाणं धम्मणायगाणं, धम्मवर-चाउरंगचक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं, णाणाणं दंसणाणं चरित्ताणं सदा करेमि किरियम्मं।

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि, जाव जीवं तिविहेण मणसा वचिया काएण ण करेमि न कारेमि अण्णं करंतं पि ण समणुमणामि। तस्स भंते ! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि, अप्पाणं जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुपासं करेमि ताव कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

सामयिकदण्डकके बाद निम्नलिखित चतुर्विंशतिस्तव पढ़ता है—

थोस्मामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महापुण्णे ॥ १ ॥
लोयस्सुज्जोययरे धम्मत्तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥
उसहमजियं च वंदे संभवमभिवंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥
सुविहिं च पुप्पयंतं सीयल सेयंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ४ ॥
कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥
एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥
कित्तिय वंदिय महिया एए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे वोहिं ॥ ७ ॥
चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहियं पयासंता।
सायर इव गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ८ ॥

इतना पढ़नेके वाद वैठकर पृथिवीपर शिर झुकाता हुआ नमस्कार करता है। [1]यह विधि चारों दिशाओंमें की जाती है। इस विधिके वाद जिस दिशासे प्रारम्भ किया था उसी दिशाकी ओर मुँह कर खड़ा होकर या वैठकर सामयिक करे, माला फेरे, तत्त्वचिन्तन आदि करे। सामयिकके समय परिग्रहकी चिन्तासे दूर रहे। यहाँ तक कि शरीरपर स्थित वस्त्र आदिसे भी निःस्पृह रहे तथा मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको शुद्ध रखे। अर्थात् मनसे राग-द्वेषका चिन्तन न करे, वचनसे अन्यथा प्रवृत्ति न करे, पाठ आदिका शुद्ध उच्चारण करे—और कायको स्थिर रखे। सामयिकका काल पूरा होनेपर निम्नलिखित सिद्धभक्ति वोलकर २७ उछ्वासमें नौ वार णमोकार मन्त्र वोलता हुआ एक कायोत्सर्ग करे। तथा पृथिवीपर वैठकर शिर झुकाता हुआ नमस्कार करे।[2]

सिद्धभक्ति

तवसिद्धे णयसिद्धे संयमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि॥

इच्छामि भंते! सिद्धभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, सम्मणाण सम्मदंसणसम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्ममुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोय-मत्थयम्मि पइट्ठियाणं तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं चरित्तसिद्धाणं सम्मणाणसम्म-दंसणसम्मचरित्तसिद्धाणं अदीदाणागदवट्टमाणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाणं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि। दुक्खक्खओ कम्मक्खओ वोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

फलितार्थ यह है कि जिस प्रकार मुनियोंके सामायिक और स्तव नामक कृतिकर्म साथ साथ होते हैं उसी प्रकार श्रावकके भी दोनों कृतिकर्म साथ साथ होते हैं। सामायिक कृतिकर्ममें सामायिक दण्डक और स्तवकृतिकर्ममें थोस्सामि-दण्डक पढ़ा जाता है। वारह आवर्तों और चार प्रणामोंकी संख्याका विवरण देते हुए अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामायिक दण्डकके प्रारम्भ और अन्तमें तीन तीन आवर्त करता हुआ एक प्रणाम करता है। इस प्रकार सामायिक दण्डकके

---

१. यदि इतना पूरा पाठ चारों दिशाओंमें पढ़नेकी सामर्थ्य न हो तो प्रारम्भ करनेकी दिशामें तो अवश्य पढ़ना चाहिए। शेप दिशाओंमें नौ वार णमोकार मन्त्र पढ़कर कायोत्सर्ग, तीन आवर्त और एक नमस्कार कर सकता है।

२. विधिका विस्तार देखते हुए ही सामायिकका काल कम-से-कम दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट रखा गया है। परन्तु लोग प्रमादवश पूर्ण विधि न कर मात्र मालाओंके फेरने और पाठ आदि करनेमें सामायिकका समय पूरा करते हैं।

६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं और यही विधि स्तवदण्डकके प्रारम्भ और अन्तमें करता है। इसलिए उसमें भी ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। दोनोंके मिलाकर १२ आवर्त और ४ प्रणाम होते हैं। सामायिककृतिकर्म और स्तवकृतिकर्मके प्रारम्भमें बैठकर नमस्कार किया जाता है। इसलिए दोनों कृतिकर्मोंकी २ निषद्याएँ होती हैं। श्लोकमें आये हुए 'यथाजातः' शब्दसे जिनमुद्राका संकेत मिलता है।

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्॥

दोनों पैरोंका चार अंगुलप्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओंको लटकाकर कायोत्सर्गरूपसे खड़ा होना जिनमुद्रा कहलाती है।

दूसरी प्रतिमामें जो सामयिक शिक्षाव्रत है उसका शीलव्रतके रूपमें पालन होता है। उसमें २ घटीके समयका और तीन बार करनेका नियम नहीं रहता है। परन्तु सामयिक प्रतिमामें वह सब नियम रहता है॥ १८॥ १३९॥

साम्प्रतं प्रोषधोपवासगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः[1] प्रोषधानशनः॥ १९॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासो प्रोषधानशनः। किमनियमेनापि यः प्रोषधोपकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह—प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यंभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः। क्व तन्नियमविधायी? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति। किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह—मासे मासे। किं कृत्वा? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य। किंविशिष्टः? प्रणिधिपरः एकाग्रतां गतः शुभध्यानरत इत्यर्थः॥ १९॥

अब श्रावकके प्रोषधोपवासगुणका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

पर्वदिनेष्विति—[यः] जो (मासे मासे) प्रत्येकमासमें (चतुर्ष्वपि) चारों (पर्वदिनेषु) पर्वके दिनोंमें (स्वशक्तिम्) अपनी शक्तिको (अनिगुह्य) न छिपाकर (प्रोषधनियमविधायी) प्रोषध सम्बन्धी नियमको करता हुआ (प्रणधिपरः) एकाग्रतामें तत्पर रहता है [सः] वह (प्रोषधानशनः) प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी है।

---

१. प्रणधिपरः घ।

टीकार्थ—'**प्रोषधेन अनशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः**' इस विग्रहके अनुसार धारणा—पारणाके दिन एकाशनके साथ पर्वके दिन जो उपवास करता है वह प्रोषधोपवास व्रतका धारक कहलाता है। इस प्रतिमाके धारीको प्रत्येक मासकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार पर्वके चारों दिनोंमें अपनी शक्ति को न छिपाकर उपवास करना होता है। साथ ही धारणा—पारणाके दिन नियम पूर्वक एकाशन करना होता है। इस प्रतिमाका धारक शुभ ध्यानमें तत्पर रहता है।

विशेषार्थ—जिन आचर्योंने प्रोषधका अर्थ एकाशन न कर पर्व किया है, उनके मतसे '**प्रोषधानशनः**' शब्दका समास इस प्रकार होता है '**प्रोषधे पर्वणि अनशनमुपवासो यस्यासौ**' अर्थात् पर्वके दिन जो उपवास करता है। इस पक्ष में 'प्रोषधनियमविधायी' शब्दका विग्रह इस प्रकार होता है—'**प्रोषधस्य पर्वणो नियमं विदधातीति प्रोषधनियमविधायी**' अर्थात् पर्वके दिन पञ्चपापों, अलंकार, आरम्भ, गन्धपुष्प, स्नान, अञ्जन तथा नस्य आदिके त्यागका जो नियम बताया गया है उसका पालन करता है और उपवासके समय अपने चित्तको एकाग्र रखता है अर्थात् शुभ ध्यानमें लीन रहता है। '**प्रणिधानं प्रणिधिः**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रणिधिका अर्थ चित्तकी एकाग्रता है उसमें जो तत्पर है वह प्रणिधिपर कहलाता है। यहाँ चित्तकी एकाग्रतासे शुभध्यानका अर्थ ग्राह्य है। श्लोकमें जो '**स्वशक्तिमनिगुह्य**' पद दिया गया है उससे सूचित किया है कि शक्तिके रहते हुए तो अवश्य ही उपवास करना चाहिए। परन्तु वृद्धावस्था या बीमारी आदिके कारण यदि उपवासकी शक्ति क्षीण हो गई है तो अनुपवास या एकाशन भी कर सकता है॥ १९॥ १४०॥

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥ २० ॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः। यो नात्ति न भक्षयति। कानीत्याह—मूलेत्यादि—मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपलाः करीराश्च वंशकिरणाः[1] कंदाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति। कथंभूतः सन्? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः॥ २०॥

अब श्रावकके सचित्तविरति-गुणका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

---

१. वंशकिरला इति ग।

मूलफलेति—(**यः**) जो (**दयामूर्तिः**) दयाकी मूर्ति होता हुआ (**आमानि**) अपक्व—कच्चे (**मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि**) मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीजको (**न अत्ति**) नहीं खाता है (**सोऽयं**) वह यह (**सचित्तविरतः**) सचित्तत्यागी है।

टीकार्थ—मूली, गाजर, शकरकन्द आदि मूल कहलाते हैं, आम, अमरुद, आदि फल कहलाते हैं, भाजीको शाक कहते हैं, वृक्षकी नई कोंपलको शाखा कहते हैं, बांसके अंकुरको करीर कहते हैं, जमीनमें रहनेवाले अंगीठा आदिको कन्द कहते हैं, गोभी आदिके फूलको प्रसून कहते हैं और गेहूँ, चना आदिको बीज कहते हैं। ये सब आम—अपक्व अवस्थामें सचित्त—सजीव होते हैं। अतः दयाका धारक श्रावक इन्हें नहीं खाता है। गेहूँ, चना आदि बीज हरी अवस्थामें तो सचित्त हैं ही, परन्तु अंकुरोत्पादनकी शक्तिकी अपेक्षा शुष्क अवस्थामें भी सचित्त माने जाते हैं अतः व्रती मनुष्य इन्हें खण्डित अवस्थामें ही खाता है।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें जो मूल आदि वनस्पतियाँ गिनाई गई हैं वे उनकी जातियाँ बतलानेके अभिप्रायसे गिनाई गई हैं। ये सभी भक्ष्य हैं यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनमें मूल, कन्द तथा प्रसून स्पष्ट ही बहुघात तथा त्रसघातका कारण होनेसे अभक्ष्य है। अतः इनका त्याग भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें कराया जा चुका है। यहाँ इनका 'अपक्व' अवस्थामें त्याग बताया है। इसलिए पक्व अवस्थामें ये ग्राह्य हैं' ऐसा फलितार्थ लगाकर व्रती मनुष्यको इनके सेवनमें प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। इस प्रसंगमें स्वतः स्वभावसे सूखी हुई सोंठ तथा हलदी आदिका दृष्टान्त देना संगत नहीं है क्योंकि उनका उपयोग औषधके रूपमें जब कभी होता है अतः रागांशकी तीव्रता नहीं रहती। परन्तु मूली, गाजर, आलू, अदरख आदिके सेवनमें स्पष्ट ही रागकी तीव्रता रहती है जो कि व्रती मनुष्यके लिए त्याज्य हैं। फल, शाक, शाखा आदि जो भक्ष्य वनस्पतियाँ हैं उन्हें [1]छिन्न-भिन्न या अग्निसिद्ध करके लिया जा सकता है। यद्यपि छिन्न-भिन्नादि करनेमें दयामूर्तित्वका विघात होता है तथापि इस प्रतिमामें इतनी [2]सूक्ष्मताका विचार नहीं होता है। कुछ लोग कहने लगे हैं

---

१. सुक्कं पक्कं तत्तंअंविल लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुवं भणियं॥

२. भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शनम्।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत्॥

लाटीसंहिता ७—१७।

कि जो फल आदि वृक्षसे तोड़े गये हैं उनके जीवप्रदेश वृक्षमें चले गये। अतः वे अचित्त हैं—सचित्तत्यागी उन्हें छिन्न भिन्न आदि किये विना ग्रहण कर सकता है। परन्तु यह विचार शास्त्रसंमत नहीं है क्योंकि फल, पत्ते आदि स्वतन्त्र जीव हैं वे किसी वृक्ष या लताके आधारपर उत्पन्न होते हैं। वृक्ष या लतासे तोड़े जानेपर भी उनमें फल या पत्ते आदिका जीव विद्यमान रहता है, उसकी अपेक्षा वे सचित्त माने जाते हैं॥ २० ॥ १४१ ॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाणः प्राह—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ २१ ॥

स च श्रावको। रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधीयते। यो विभावर्यां रात्रौ। नाश्नाति न भुंक्ते। किं तदित्याह—अन्नमित्यादि—अन्नं भक्तमुद्गादि, पानं द्राक्षादिपानकं, खाद्यं मोदकादि, लेह्यं [1]रब्रादि। किंविशिष्टः? अनुकम्पमानमनाः सकरुणहृदयः। केषु? सत्वेषु प्राणिषु॥ २१ ॥

अब श्रावकके रात्रिभुक्तिविरतिगगुणकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अन्नमिति—(**यः**) जो (**सत्वेषु**) जीवोंपर (**अनुकम्पमानमनाः**) दयालु चित्त होता हुआ (**विभावर्याम्**) रात्रिमें (**अन्नं**) अन्न (**पानं**) पेय (**खाद्यं**) खाद्य और (**लेह्यं**) लेह्य—चाटने योग्य पदार्थको (**नाश्नाति**) नहीं खाता है (**स च**) वह (**रात्रिभुक्तिविरतः**) रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक (**अस्ति**) है।

टीकार्थ—वह श्रावक रात्रिभुक्तिविरत—रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है जो जीवोंपर दयालु चित्त होता हुआ रात्रिमें अन्न—दाल, भात आदि, पान—दाख आदिका रस, खाद्य—लड्डू आदि और लेह्य—रवड़ी आदिको नहीं खाता है।

विशेषार्थ—इस प्रतिमाका नाम रात्रिभोजनत्यागप्रतिमा है। प्रश्न है कि जव छठवीं प्रतिमामें चार प्रकारके आहारका त्याग कराया जा रहा है तव क्या इसके पहले रात्रिभोजनकी छूट रहती है? दूसरी ओर जव पहली दर्शनप्रतिमामें ही रात्रिजलका त्याग हो जाता है तव भोजनकी संभावना ही कहाँ रहती? इस स्थितिमें इस प्रतिमाकी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर

---

१. द्रवद्रव्यं आम्रादि इति ख।

यह है कि इस प्रतिमाके पूर्वकी प्रतिमाओंमें कृतकी अपेक्षा नहीं, परन्तु इस प्रतिमामें कृत, कारित, अनुमोदना तथा मनवचनकाय इन नौ कोटियोंसे त्याग हो जाता है। इस प्रतिमाका धारी श्रावक न स्वयं रात्रिको भोजन करता है न दूसरोंको कराता है और न करते हुए की अनुमोदना करता है।

किन्हीं किन्हीं आचार्योंने इस प्रतिमाका नाम दिवामैथुन त्याग रखा है अर्थात् दिनमें मैथुनका त्याग होना। यहाँ भी प्रश्न होता है कि जब दूसरी प्रतिमामें ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचारोंमें कामतीव्राभिनिवेश नामक अतिचारका त्याग हो जाता है तब पांचवीं प्रतिमा तक दिवामैथुनकी संभावना कहाँ रहती है जिसका कि इस प्रतिमामें त्याग कराया जाता है? विना कामतीव्राभिनिवेशके दिवामैथुनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसका उत्तर यह है कि इस प्रतिमामें उपर्युक्त नौ कोटियोंसे त्याग होता है॥ २१ ॥ १४२॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुणं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥ २२ ॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन् ? पश्यन्। किं तत् ? अङ्गं शरीरं। कथंभूतमित्याह—मलेत्यादि मलं शुक्रशोणितं बीजं कारणं यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारणं। गलन्मलं गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीष[1]स्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगंधि दुर्गन्धोपेतं। बीभत्सं सर्वावयवेषु पश्यतां बीभत्सभावोत्पादकं॥ २२ ॥

अब श्रावकके अब्रह्मविरतनामक गुणको दिखाते हुए कहते हैं—

मलबीजमिति—(मलबीजं) शुक्रशोणितरूपमलसे उत्पन्न (मलयोनिं) मलिनताका कारण (गलन्मलं) मलमूत्रादिको झरानेवाले (पूतगन्धि) दुर्गन्धसे सहित और (बीभत्सं) ग्लानिको उत्पन्न करनेवाले (अङ्गं) शरीरको (पश्यन्) देखता हुआ (यः) जो (अनङ्गात्) कामसेवनसे (विरमति) विरत होता है (सः) वह (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक है।

टीकार्थ—कामसे आकुलित स्त्री-पुरुष एक दूसरेके शरीरको देखकर उसके सेवनमें प्रवृत्त होते हैं। यहां शरीरकी यथार्थताका वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह शरीर मलबीज है अर्थात् शुक्रशोणितरूप मल ही इसका कारण है,

१. प्रस्वेदादि घ०।

मलयोनि है अर्थात् मलिनता-अपवित्रताका कारण है, इससे सदा मलमूत्र तथा पसीना आदि झरता रहता है, दुर्गन्धित है और वीभत्स है अर्थात् समस्त अवयवोंमें देखनेवालोंको ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है। इस प्रकार शरीरके घृणित रूपका विचार जो कामसेवन–मैथुन क्रियासे निवृत्त होता है वह ब्रह्मचारी है।

विशेषार्थ—'ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचारी' जो आत्मामें चरण करता है-अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वरूप में लीन रहता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। जिस पदार्थसे राग घटाना इष्ट होता है उसके वीभत्सरूपका चिन्तन करना आवश्यक होता है। यहाँ आचार्यको शरीरसे राग घटाना इष्ट है इसलिए उसके वीभत्स रूपका वर्णन किया गया है। तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर शरीर घृणाका ही स्थान है क्योंकि माता पिताके शुक्रशोणितरूप अपवित्र उपादानसे इसकी उत्पत्ति हुई है, मलिनता—अपवित्रताका कारण है, प्रत्येक समय इसके नवद्वारोंसे अपवित्र पदार्थ झरते रहते हैं, दुर्गन्धित है और देखनेवालोंको ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है ऐसे शरीरसे राग घटाकर विषयसेवनसे निवृत्त होना ब्रह्मचारीका लक्षण है। ब्रह्मचर्यकी साधनाके लिए शरीरकी ओरसे अनुराग भरी दृष्टिको हटाकर अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें दृष्टि स्थिर करना चाहिये। ब्रह्मचारीकी वेषभूषा रहन-सहन तथा भोजन आदि सभी सात्त्विक रहते हैं ॥ २२ ॥ १४३ ॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥ २३ ॥

यो व्युपारमति विशेषेण उपरतः व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृतो भवति। कस्मात् ? आरम्भतः। कथंभूतात् ? सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृषिवाणिज्याः प्रमुखा आद्या यस्य तस्मात्। कथंभूतात् ? प्राणातिपातहेतोः प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात्। अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृता तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्संभवात्। वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा संभवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्टं प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः[1] ॥ २३ ॥

अब श्रावकके आरम्भनिवृत्ति नामक गुणका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

सेवाकृषीति—(यः) जो (प्राणानिपातहेतोः) प्राणघातके कारण

---

१. सम्पन्नत्वोपपत्तेः घ०।

(सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्) सेवा, खेती तथा व्यापार आदि (आरम्भतः) आरम्भसे (व्युपारमति) निवृत्त होता है (असौ) वह (आरम्भविनिवृत्तः) आरम्भत्याग प्रतिमाका धारक है।

टीकार्थ—यहां आरम्भसे निवृत्त होनेके लिये ग्रन्थकारने 'व्युपारमति' क्रियाका प्रयोग किया है जो वि, उप और आङ् उपसर्ग पूर्वक रम धातुका रूप है। उपसर्गोंके कारण उसका अर्थ '**विशेषेण आसमन्तात् आरम्भेभ्य उपरतो जायते**' अर्थात् आरम्भसे विशेषता पूर्वक सब ओरसे निवृत्त होना होता है। आरम्भका अर्थ परिग्रह संचय करनेकी विधिविशेष है। उस विधिमें सेवा—नौकरी, खेती तथा वाणिज्य प्रमुख हैं। आरम्भ त्याग क्यों किया जाता है ? इसका समाधान करनेके लिये आरम्भका '**प्राणातिपातहेतोः**' यह हेत्वर्थक विशेषण दिया है अर्थात् जो आरम्भ, प्राणघातका हेतु है उससे निवृत्त होना चाहिये। इस विशेषणके देनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक अभिषेक, दान, पूजन आदिका आरम्भ कर सकता है उससे उसकी निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह प्राणघातका कारण नहीं है, प्राणिहिंसाको बचाकर ही यह कार्य किये जाते हैं। यहां यह विकल्प उठाया जा सकता है कि जिस वाणिज्य आदि आरम्भमें प्राणिहिंसा नहीं होती उसे भी क्या कर सकता है ? इसका उत्तर टीकाकारने दिया है कि ऐसे आरम्भसे उसकी निवृत्ति न हो यह हमें अनिष्ट नहीं है अर्थात् स्वीकृत है क्योंकि जो आरम्भ प्राणघातका हेतु है उसीसे निवृत्त होनेवाले श्रावकके यह प्रतिमा होती है।

विशेषार्थ—प्रश्न यह उठता है कि आरम्भत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक क्या पंच सूनाओंका भी त्यागी होता है ? अपने स्नान आदिके लिये पानी भरेगा ? अपने वस्त्र स्वयं धोवेगा ? अपने स्थानको बुहारीसे साफ करेगा ? और अपने लिये भोजन बनावेगा या नहीं ? समन्तभद्र स्वामीने आरम्भके लिये जो '**सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्**' और '**प्राणातिपातहेतोः**' यह दो विशेषण दिये हैं उनसे सिद्ध होता है कि यहां व्यापारसम्बन्धी आरम्भका त्याग कराना ही उन्हें इष्ट है। संस्कृत टीकाकारका भी यही भाव विदित होता है। आगामी प्रतिमाका नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है उस प्रतिमाकी भूमिकाके रूपमें आरम्भत्याग प्रतिमा है अर्थात् जो आगे चलकर परिग्रहका त्याग करने-वाला है उसे इस प्रतिमामें नवीन परिग्रहका अर्जन करना छोड़ देना चाहिये। जो कुछ पहलेका संचय किया हुआ उसके पास है उसीसे अपना निर्वाह करना

चाहिये। संस्कृत टीकाकार की तो यह भी संमति जान पड़ती है कि जिस आरम्भमें प्राणिघात नहीं है वह आरम्भ भी किया जा सकता है। इस प्रतिमाका धारी श्रावक परिग्रह रखते हुए भी निमन्त्रण न होनेकी स्थितिमें स्वयं भोजन बनाकर नहीं खावे—भूखा रहे यह कुछ उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रतिमाका धारक श्रावक भोजनके विषयमें स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है इसलिये वह सावधानी पूर्वक अपना भोजन स्वयं बना सकता है और पात्रदानका अवसर आता है तो उसे भी कर सकता है। पानी भरना, कपड़े धोना तथा अपने स्थानको कोमल बुहारी आदिसे साफ करना यह कार्य स्वयं सिद्ध हैं[1]। **'सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखात्'** इस विशेषणमें जो प्रमुख शब्द है उससे पशुपालन आदि हिंसक व्यापारोंका संग्रह करना विवक्षित है, सूनाओंका नहीं। स्वामी समन्तभद्रने **'अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्'** इस श्लोकमें सूनाओं और आरम्भोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है इससे सिद्ध होता है कि उन्हें आरम्भ शब्दसे व्यापार ही अभीष्ट है सूनाओंका आरम्भमें समावेश करना उन्हें अभीष्ट नहीं है। २३ ॥ १४४ ॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥ २४ ॥

परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति। किं विशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः। तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकाक्षांव्यावृत्त्या सन्तुष्टः तथा। निर्ममत्वरतः। किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य। किं तत् ? ममत्वं मूर्च्छा। क्व ? बाह्येषु दशसु वस्तुषु। एतदेव दशधा परिगणनं 'बाह्यवस्तूनां दश्यंते।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासने च यानं कुप्यं भाण्डमिति दश॥

क्षेत्रं सस्याधिकरणं च डोहलिकादि। वास्तु गृहादि। धनं सुवर्णादि। धान्यं व्रीह्यादि। द्विपदं दासीदासादि। चतुष्पदं गवादि। शयनं खट्वादि। आसनं विष्टरादि। यानं डोलिकादि। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि। भाण्डं श्रीखण्डमंजिष्टाकांस्यताम्रादि॥ २४॥

---

१. प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना।
कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मणा॥ लाटीसंहिता

अब श्रावकके परिग्रहत्याग गुणका वर्णन करते हुए कहते हैं—

बाह्येष्विति—(**दशसु**) दश (**बाह्येषु**) बाह्य (**वस्तुषु**) वस्तुओंमें (**ममत्वं**) ममताभावको (**उत्सृज्य**) छोड़कर (**निर्ममत्वरतः**) निर्ममत्वभावमें लीन होता हुआ जो (**स्वस्थः**) आत्मस्वरूपमें स्थित तथा (**संतोषपरः**) संतोषमें तत्पर रहता है [**सः**] वह (**परिचित्तपरिग्रहात्**) सब ओरसे चित्तमें स्थित परिग्रहसे (**विरतः**) विरत होता है।

टीकार्थ—'**परिसमन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो परिग्रह निरन्तर चित्तमें स्थित रहता है ऐसे ममताके स्थानभूत परिग्रहको परिचित्त परिग्रह कहते हैं। इस परिग्रहसे विरत वही हो सकता है जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड इन दश बाह्य वस्तुओंमें ममता—मूर्च्छाभावको छोड़कर निर्ममत्वभावमें स्थित रहता है अर्थात् ऐसा विचार करता है कि ये बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं और मैं भी इनका नहीं हूँ, मायाचार आदिसे रहित होकर सदा स्वस्थ रहता है—अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूपमें स्थित रहता है और संतोषमें तत्पर रहता है —परिग्रहकी आकांक्षासे निवृत्त रहता है।

क्षेत्रमिति—जहाँ धान्य उत्पन्न होता है ऐसे डोहलिका आदि स्थानोंको खेत कहते है। जिस खेतमें चारों ओरसे बँधान डालकर पानी रोक लेते हैं ऐसे धान्यके छोटे छोटे खेतोंको डोहलिका कहते हैं इन्हें ग्राम्यभाषामें मड़ा या डैया आदि भी कहते हैं। मकान आदिको वास्तु कहते हैं, सोना चांदी आदिको धन कहते हैं, धान गेहूँ चना आदिको धान्य कहते हैं, दासीदास आदिको द्विपद कहते हैं, गाय भैंस आदिको चतुष्पद कहते हैं, खाट पलंग आदिको शयन तथा विस्तर आदिको आसन कहते है, डोली-पालकी आदिको यान कहते हैं, रेशम, सूती तथा कोशा आदिके वस्त्रोंको कुप्य कहते हैं और चन्दन, मंजीठ, कांसा तथा तामा आदिके वर्तनोंको भाण्ड कहते हैं। यह दश प्रकारका परिग्रह उपयोगी होनेसे निरन्तर मनुष्यके मनमें स्थित रहता है इससे ममत्वभावको छोड़ना सो परिग्रहत्याग प्रतिमा कहलाती है

विशेषार्थ—जो परिग्रह अनुपयोगी रूपसे घरमें पड़ा है, उसके त्यागमें कोई खास महत्त्व नहीं रहता क्योंकि त्यागके पूर्व भी उसमें खास ममत्वभाव नहीं रहता। किन्तु जो गृहस्थोके निर्वाहके लिये आवश्यक होनेसे मनमें अपना स्थान बनाये रखते हैं ऐसे परिग्रहसे निवृत्त होना इस प्रतिमाकी विशेषता है। बाह्यपरिग्रहके त्यागका कारण संतोष है क्योंकि जब तक संतोष नहीं होता

तब तक त्याग नहीं हो सकता इसलिये ग्रन्थकर्ता ने त्याग करनेवालेको **'संतोष-परः'** विशेषण दिया है जितना कुछ परिग्रह उसने अपने लिये निश्चित किया है उसमें संतुष्ट रहनेसे ही उसके व्रतकी रक्षा हो सकती है। त्याग करनेका लक्ष्य स्वस्थ होना है अर्थात् अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें स्थिर होना ही परिग्रहत्यागका प्रयोजन है। यदि इस प्रयोजनकी ओर लक्ष्य नहीं है तो उस त्यागसे लाभ नहीं होता।

परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारी श्रावक अपने निर्वाहके योग्य वस्त्र तथा वर्तनोंको रखकर शेष परिग्रहसे अपना स्वामित्व छोड़ देता है। यदि पुत्र है तो समीचीन शिक्षाके साथ अपने परिग्रहका भार उसे सौंपता है। यदि पुत्र नहीं है तो दत्तक पुत्र या भाई भतीजा आदिको परिग्रहका भार सौंपकर निश्चिन्त होता है। घरमें रहता है और घरमें भोजन करता है। यदि अन्य सधर्मा-भाई निमन्त्रण करते हैं, तो उनके घर भी जाता है। स्वयं व्यापार नहीं करता परन्तु पुत्र आदि, यदि किसी वस्तुके संग्रह आदिमें अनुमति मांगते हैं तो उन्हें योग्य अनुमति देता है ॥२४॥१४५॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाह—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकपु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥२५॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुटं नास्ति। का सौ? अनुमतिरभ्युपगमः। क्व? आरंभे कृष्यादौ। वा शब्दः सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्टः समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा ॥ २५ ॥

अब श्रावकके अनुमतित्याग गुणका वर्णन करते हुए कहते हैं—

अनुमतिरिति—(खलु) निश्चयसे (आरम्भे) खेती आदिके आरम्भमें (वा) अथवा (परिग्रहे) परिग्रहमें (वा) अथवा (ऐहिकेषु कर्मसु) इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें (यस्य) जिसके (अनुमतिः) अनुमोदना (न अस्ति) नहीं है वह (समधीः) समान वुद्धिका धारक श्रावक (अनुमतिविरतः) अनुमतित्याग प्रतिमाका धारी (मन्तव्यः) माना जाना चाहिये।

टीकार्थ—जो खेती आदि आरम्भ, धनधान्यादिक परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कार्योंमें अनुमति नहीं देता है तथा इष्ट अनिष्ट परिणतिमें समबुद्धि रहता है उसे अनुमतित्याग प्रतिमाका धारक श्रावक जानना चाहिये।

विशेषार्थ—आरम्भत्याग प्रतिमामें नई कमाईका त्याग करता है, परिग्रहत्याग प्रतिमामें परिग्रहके स्वामित्वसे निवृत्त होता है और अनुमतित्याग प्रतिमामें परिग्रह सम्बन्धी किसी प्रकारकी अनुमति भी नहीं देता। पुत्र आदि उत्तराधिकारी अपनी बुद्धिसे जो कुछ करते हैं उसमें मध्यस्थभाव रखता है। हानि लाभके अवसरपर चित्तमें संक्लेश नहीं करता। भोजनके अवसरपर घरके या समाजके लोगोंमें जो भी प्रार्थना करते हैं उनके यहाँ भोजन करता है। किसीका निमन्त्रण पहलेसे स्वीकृत नहीं करता और न किसीसे किसी इच्छित वस्तुके बनाने आदि की इच्छा प्रकट करता है। एकबार ही आहार पानीको ग्रहण करता है॥ इस प्रतिमाका धारी श्रावक पारलौकिक धार्मिक कार्योंमें अनुमति दे सकता है परन्तु स्वयं अग्रसर होकर किसी कार्यके करानेका विकल्प अपने ऊपर नहीं लेता। ॥ २५ ॥ १४६ ॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शयन्नाह—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
[1]भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ २६ ॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतिलक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको भवति। कथंभूतः? चेलखण्डधरः कौपीनमात्रवस्त्रखण्डधारकः आर्यलिंगधारीत्यर्थः। तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः। किं कुर्वन्? तपस्यन् तपः कुर्वन्। किं कृत्वा? परिगृह्य गृहीत्वा। कानि? व्रतानि। क्व? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे। किं कृत्वा? इत्वा गत्वा। किं तत्? मुनिवनं मुन्याश्रमं। कस्मात्? गृहतः ॥२६॥

अब श्रावक उद्दिष्टत्याग गुणसे युक्त होता है वह दिखलाते हुए कहते हैं—

गृहत इति—जो (**गृहतो**) घरसे (**मुनिवनं**) मुनियोंके वनको (**इत्वा**) जाकर (**गुरूपकण्ठे**) गुरुके पास (**व्रतानि**) व्रत (**परिगृह्य**) ग्रहण कर (**भैक्ष्याशनः**) भिक्षा भोजन करता हुआ (**तपस्यन्**) तपश्चरण करता है तथा (**चेलखण्डधरः**) वस्त्रके एक खण्डको धारण करता है वह (**उत्कृष्टः**) उत्कृष्ट श्रावक है।

टीकार्थ—उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवें स्थानसे युक्त श्रावक उत्कृष्ट कहलाता है। यह कौपीन—लंगोट मात्र वस्त्रको धारण करता है। भिक्षा एव भैक्ष्यं इस तरह स्वार्थमें ण्य प्रत्यय अथवा **भिक्षाणां समूहो** भैक्षं इस तरह समूह

---

१. भैक्षाशनस् घ (भिक्षा एवं भैक्षं स्वार्थेऽण् तद् अश्नातीति भैक्षाशनः प्रत्ययः अथवा भिक्षाणां समूहोभैक्षं समूहार्थेऽण् प्रत्ययः।

अर्थमें अण्प्रत्यय होनेपर भैक्ष शब्द सिद्ध होता है। इस प्रतिमाका धारी भिक्षासे भोजन करता है अर्थात् मुनियोंकी तरह चर्याके लिये निकलता है। पडगाहे जानेपर जहाँ अनुकूल विधि मिलती है वहाँ भोजन करता है। अथवा जो अनेक भैक्ष्य होता है वह किसी पात्रमें गृहस्थोंके घरसे भिक्षाको लेता है जब उदरपूर्तिके योग्य भोजन एकत्रित हो जाता है तब किसी श्रावकके घर प्रासुक जल लेकर भोजन करता है। इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक घर छोड़कर मुनियोंके वनमें चला जाता है तथा उनके पास व्रत धारणकर उन्हींकी देख-रेखमें तपश्चरण करता है। मुनिवनका अर्थ मुनियोंका आश्रम है। समन्तभद्र स्वामीके समय मुनि, वनमें ही निवास करते थे इसलिये उत्कृष्ट श्रावकको गृहत्यागकर मुनिवनमें जानेकी आज्ञा दी गई है। इस समय मुनियोंमें ग्रामवास या चैत्यवास चल पड़ा है इसलिये मुनिवनका अर्थ मुनियोंका आश्रम लिया जाता है।

विशेषार्थ—इस प्रतिमाधारीको **भैक्ष्याशन** कहा है उसीसे सिद्ध है कि यह उद्दिष्ट आहारका त्यागी होता है। किसी खास व्यक्तिके उद्देश्यसे जो आहार बनाया जाता है वह उद्दिष्टाहार कहलाता है। इस प्रतिमाधारीके ऐलक और क्षुल्लककी अपेक्षा दो भेद प्रचलित हैं। ऐलक लिङ्गका परदा अर्थात् सिर्फ लिङ्ग ओट—लिंगका परदा अर्थात् लंगोट धारण करते हैं और क्षुल्लक लंगोटके सिवाय एक खण्ड वस्त्र भी रखते हैं। खण्डवस्त्रका अर्थ इतना छोटा वस्त्र लिया जाता है कि जिससे शिर ढकने पर पैर न ढक सकें और पैर ढकने पर शिर न ढक सके। मार्जनके लिये क्षुल्लक मयूरपिच्छसे निर्मित पिछी या वस्त्रके एक खण्डको रखते हैं तथा ऐलक पिछी ही रखते हैं। क्षुल्लक केश-लोंच भी करते हैं और कैंची छुरासे भी क्षौरकर्म कराते हैं परन्तु ऐलक केशलोंच ही करते हैं। क्षुल्लकपात्रमेंसे भोजन करते है परन्तु ऐलक हाथमें ही भोजन करते हैं। क्षुल्लक और ऐलक दोनों ही बैठकर भोजन करते हैं। दोनों ही पैदल विहार करते हैं। रेल, मोटर आदिमें यात्रा करना इस पदमें वर्जित है।

पहलीसे लेकर छठवीं प्रतिमा तकके श्रावकको जघन्य श्रावक, सातवींसे नौवीं प्रतिमा तकके श्रावकको मध्यम श्रावक और दशवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमा-के धारकको उत्तम श्रावक कहा जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक श्रावक-को आर्य कहते हैं और स्त्रीको आर्यिका कहते हैं। आर्यिका सफेद रंगकी १६ हाथ की एक साड़ी रखती हैं। स्त्रीपर्यायमें धारण किये जानेवाले व्रतका यह सर्वश्रेष्ठ रूप है इसलिये इसे उपचारसे महाव्रतका धारक माना जाता है। आर्यिकासे उतरता हुआ दूसरा स्थान क्षुल्लिका है। यह १६ हाथकी साड़ीके

सिवाय एक सफेद चद्दर भी रखती हैं। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका और क्षुल्लिका दूसरे दिन शुद्धिके समय बदलनेके लिये दूसरा लंगोट चद्दर, और साड़ी भी रखती हैं साथके ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी स्त्रियां उसकी व्यवस्था रखती हैं। पिछले दिनके वस्त्रोंको धोकर यही सुखाती हैं। आर्यिकाके केशलोंच तथा भोजनकी विधि ऐलकके समान है और क्षुल्लिकाके केशलोंच तथा आहारकी व्यवस्था क्षुल्लकके समान है ॥२६॥१४७॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेवं मन्यते तदा श्रेयोज्ञाता भवतीत्याह—

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥ २७ ॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। किं कुर्वन् ? निश्चिन्वन्। कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमधर्मोऽरातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मश्च बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥ २७ ॥

जो आगमका ज्ञाता तप करता हुआ ऐसा मानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता होता है यह कहते हैं—

पापमिति—(**पापम्**) पाप ही (**जीवस्य**) जीवका (**अरातिः**) शत्रु है और (**धर्मः**) धर्म ही जीवका (**बन्धुः**) हितकारी है (**इति**) इस प्रकार (**निश्चिन्वन्**) निश्चय करता हुआ वह श्रावक (**यदि**) यदि (**समयं**) आगमको (**जानीते**) जानता है [**तर्हि**] तो वह (**ध्रुवं**) निश्चयसे (**श्रेयोज्ञाता**) श्रेष्ठ[1] ज्ञाता अथवा कल्याणका ज्ञाता (**भवति**) होता है।

टीकार्थ—आगमको जाननेवाला श्रावक यदि यह निश्चय रखता है कि पाप अर्थात् अधर्म—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणति ही अनेक अपकारका कारण होनेसे इस जीवका शत्रु है और धर्म—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणति ही अनेक उपकारका कारण होनेसे मित्र है तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है अथवा कल्याणका ज्ञाता होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानसे चारित्रकी शोभा है और चारित्रसे ज्ञानकी शोभा है इसलिये श्रावकको ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिये आगमका ज्ञाता होना चाहिये।

---

१. श्रेयांश्चासौ ज्ञाता च श्रेयोज्ञाता अथवा श्रेयसो ज्ञाता श्रेयोज्ञाता इति द्विविधः समासः।

परन्तु वह आगमका ज्ञाता यदि ऐसा निश्चय रखता है—ऐसा दृढ़ श्रद्धान रखता है कि पाप ही इस जीवका शत्रु है और धर्म ही इस जीवका मित्र है तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता है। ऐसा निश्चय हुए विना आगमका ज्ञाता श्रेष्ठ ज्ञाता नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके फलस्वरूप ऐसा निश्चय होना ही चाहिये कि पर पदार्थ मेरे शत्रु अथवा मित्र नहीं हैं। शत्रु और मित्र तो मेरी अधर्म और धर्मरूप परिणति ही है क्योंकि दुःख और सुखके साक्षात् कारण वही हैं अतः बाह्य पदार्थोंमें अनिष्ट तथा इष्ट बुद्धि करना मेरा कर्तव्य नहीं है। ऐसा निश्चय करनेसे यह जीव रागद्वेषके प्रपञ्चमें नहीं फँसता है और तभी यह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है ॥२७॥१४८॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह—

इन्द्रवज्राच्छन्दः

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥२८॥

येन भव्येन स्वयं आत्मा स्वयंशब्दोऽत्रात्मवाचकः नीतः प्रापितः। कमित्याह—वीतेत्यादि, विशेषेण इतो गतो नष्टः कलंको दोषो यासां ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासां करण्डभावं तं भव्यं आयाति आगच्छति। कासौ ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थानां सिद्धिर्निष्पत्तिः कर्त्री। कयेवायाति ? पतीच्छयेव स्वयम्वरविधानेच्छयेव। क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥ २८ ॥

अब शास्त्रके अध्ययनका फल दिखलाते हुए कहते हैं—

येनेति—(**येन**) जिसने (**स्वयं**) अपने आत्माको (**वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्**) निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नोंके करण्डभाव—पिटारापनको (**नीतः**) प्राप्त कराया है (**तं**) उसे (**त्रिषु विष्टपेषु**) तीनों लोकोंमें (**पतीच्छयेव**) पतिकी इच्छासे ही मानों (**सर्वार्थसिद्धिः**) धर्म अर्थ काम और मोक्षरूप समस्त अर्थोंकी सिद्धि (**आयाति**) प्राप्त होती है।

टीकार्थ—यहाँ स्वयं शब्द आत्माका वाचक है। जिससे कलंक—दोष विशेषरूपसे नष्ट हो गये हैं उसे वीतकलंक कहते हैं। यह वीतकलंक विशेषण विद्या—ज्ञान, दृष्टि—दर्शन और क्रिया—चारित्र इन तीनोंके साथ लगता है। इन तीनोंके लिये रत्नोंकी उपमा प्रसिद्ध है। रत्नत्रयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका ग्रहण होता है। जिस भव्यने अपने आत्माको निर्दोषज्ञान, निर्दोषदर्शन और निर्दोषचारित्ररूपी रत्नोंका करण्डक—पिटारा बनाया है अर्थात्

अपने आत्मामें इन तीनोंको प्रकट किया है उसे तीनों लोकोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप समस्त अर्थोंकी सिद्धि उस तरह प्राप्त हो जाती है जिस तरह कि पतिकी इच्छा रखनेवाली कोई कन्या किसी पतिको प्राप्त होती है। यहाँ सर्वार्थसिद्धि शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः लिङ्ग साम्यसे उसमें पति-कन्याका आरोप किया है।

विशेषार्थ—रत्नत्रय, जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे दो प्रकारका है। जघन्य रत्नत्रयके साथ रागांशकी बहुलता रहती है इसलिये वह उपचारसे देवायु आदि पुण्य प्रकृतियोंके बन्धका कारण कहा जाता है। परमार्थसे पुण्य प्रकृतियोंके बन्धका कारण रत्नत्रयके कालमें पाया जानेवाला रागांश ही है रत्नत्रय नहीं परन्तु जैसे गर्म घीसे जल गया यहाँ परमार्थसे घी जलानेवाला नहीं है किन्तु घीके साथ मिली हुई अग्नि जलानेवाली है उसी प्रकार रत्नत्रय बन्धका कारण नहीं है परन्तु रत्नत्रयके कालमें पाया जानेवाला रागांश बन्धका कारण है। इस तरह जघन्य अवस्थामें रत्नत्रय धर्म अर्थ और कामका साधक है तथा उत्कृष्ट अवस्थामें मोक्षका साधक है। ग्रंथके प्रारम्भमें समन्तभद्र स्वामीने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा था। उसी धर्मका फल यहाँ बतलाया गया है। यहाँ श्लेषसे 'रत्नकरण्ड' यह ग्रन्थका नाम सूचित किया गया है॥ २८ ॥ १४९ ॥

रत्नकरण्डकं कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिगता सा एतदेव कुर्यादित्याह—

मालिनीछन्दः

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ २९ ॥

मां सुखयतु सुखिनं करोतु। कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तिः। किंविशिष्टेत्याह-जिनेत्यादि जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थंकरास्तेषां पदानि सुबन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातीत्येवंशीला। अयमर्थः—लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति। कथंभूता सा ? सुखभूमिः। सुखोत्पत्तिस्थानं। केव कं ? कामिनं कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिनं सुखयति तथा मां दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु। तथा सा मां

भुनक्तु रक्षतु । केव ? सुतमिव जननी । किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी । दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षणशुद्धसप्त-शीलसन्विता मां भुनक्तु । तथा सा मां सम्पुनीतात् सकलदोषकलङ्कं निराकृत्य पवित्रयतु । किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका । अयमर्थः—कुलं यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यतां नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूल गुणैरलंकृता मां सम्यक्पुनीतादिति ॥ २९ ॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य[1] निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः[2] संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥ १ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामीविरचितोपासकाध्ययनटीकायां पंचमः परिच्छेदः ।

आगे समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि 'रत्नकरण्डक' ग्रन्थकी रचना करते हुए मेरी जो यह सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति वृद्धिको प्राप्त हुई है वह, यही कार्य करे; यह कहते हैं—

सुखयत्विति—(**जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी**) जिनेन्द्र भगवान्के चरण कमलोंका दर्शन करनेवाली (**दृष्टिलक्ष्मीः**) सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी (**सुख-भूमिः**) सुखकी भूमि होती हुई (**मां**) मुझे उस तरह (**सुखयतु**) सुखी करे जिस तरह कि (**सुखभूमिः कामिनी कामिनमिव**) सुखकी भूमि कामिनी कामी पुरुषको सुखी करती है। (**शुद्धशीला**) निर्दोष शील—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतसे युक्त होती हुई (**मां**) मुझे उस तरह (**भुनक्तु**) रक्षित करे जिस तरह कि (**शुद्धशीला जननी सुतमिव**) निर्दोष शील—पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली माता पुत्रको रक्षित करती है। और (**गुणभूषा**) मूलगुण रूपी अलंकारोंसे युक्त होती हुई (**मां**) मुझे उस तरह (**संपुनीतात्**) पवित्र करें जिस प्रकार कि (**गुणभूषा कन्यका कुलमिव**) शीलसौन्दर्य आदि गुणोंसे युक्त कन्या कुलको पवित्र करती है।

टीकार्थ—'जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी' इस शब्दमें जो पद शब्द है उसके दो अर्थ हैं एक सुबन्ततिङन्तरूप पदशब्दसमूह और दूसरा चरण। दोनों पक्षोंमें

१. निरस्य इति ख. । २. श्रीमद्रत्नकरण्ड इति ग. ।

अर्थ इस प्रकार है—तीर्थंकर भगवान्के शब्दसमूहरूप कमलोंका श्रद्धान करने वाली अथवा तीर्थंकर भगवान्के चरण कमलोका अवलोकन करनेवाली—उनके प्रति अटूट श्रद्धा रखनेवाली सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे मेरी रक्षा करे और मुझे अच्छी तरह पवित्र करे। इन कार्योंके लिये पृथक् पृथक् तीन दृष्टान्त हैं—१. जिस प्रकार सुखकी भूमि विषयसुखकी भूमि कामिनी कामीको सुखी करती है उसी प्रकार सुखकी भूमि—आत्मोत्थ सुखकी भूमि सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मुझे सुखी करे। २. जिस प्रकार शुद्धशोला—निर्दोष सदाचारको पालन करनेवाली माता अपने पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशोला—निरतिचार गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे। और ३. जिस प्रकार गुणभूषा—शील सौन्दर्य आदि गुणोंसे विभूषित कन्या अपने कुलको सम्यक् प्रकारसे पवित्र करती है उसी प्रकार गुणभूषा—मूलगुण अथवा निःशङ्कितत्वादि अथवा प्रशम-संवेग आदि गुणोंसे विभूषित सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे अच्छी तरह पवित्र करे—मुझे कर्मकालिमासे रहित करे। अन्तमंगलके रूपमें संस्कृत टोकाकार जिनेन्द्र भगवान्का स्तवन करते हैं और साथमें श्लेषसे ग्रन्थका नाम, ग्रन्थके मूलकर्ता और टीकाकारका नाम भी सूचित करते हैं—

येनाज्ञानेति—जिन्होंने भव्य जीवोंके चित्तमें व्याप्त समस्त अज्ञानरूपी तिमिरको नष्टकर सम्यग्ज्ञानरूप किरणोंके द्वारा समस्त गृहस्थ धर्मरूप मार्गको प्रकट किया है जो श्री रत्नत्रयरूपरत्नोंके पिटारेको प्रकाशित करनेके लिये सूर्य हैं पक्षमें भावसे कर्ता होनेके कारण रत्नकरण्डक नामक इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेके लिये सूर्य हैं, संसाररूपी नदोको सुखानेवाले हैं, समन्तभद्र—कल्याणोंसे परिपूर्ण मुनियोंकी रक्षा करनेवाले हैं। पक्षमें इस ग्रन्थके कर्ता समन्तभद्र मुनिके रक्षक हैं, अनन्त चतुष्टयरूप श्रीसे सहित हैं तथा प्रभा—शीतल सुखद कान्तिसे जो चन्द्रमा[१] है ऐसे यह प्रसिद्ध जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें।

विशेषार्थ—यद्यपि इस श्लोकमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मीसे ही अपने आपको सुखी करने, सुरक्षित करने और सम्यक् प्रकारसे पवित्र करनेकी प्रार्थना की गई है तथापि सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मीमें ही सम्यग्ज्ञान और देशव्रत तथा महाव्रतरूप चारित्रको अन्तर्गत किया गया है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी निधिको भूलकर दरिद्र हुआ दुःख उठाता है इसी प्रकार यह जीव भी आत्मनिधिको भूलकर चतुर्गतिरूप संसारमें दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार

१. यहाँ श्लेषसे टीकाकारने अपना 'प्रभाचन्द्र' नाम सूचित किया है।

उस पुरुषको अपनी निधि—गुप्त खजानेका ज्ञान होनेपर उसका सब दुःख दूर हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावका ज्ञान होनेपर इस जीवका सब दुःख दूर हो जाता है। शीलका अर्थ गुणव्रत और शिक्षाव्रत है जिस प्रकार बाड़ी खेतकी रक्षा करती है उसी प्रकार शील, अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। यहाँ शील शब्दसे देशव्रतका ग्रहण किया गया है। जब यह सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी देशव्रतसे सहित होती है तब जीवको नरक तथा तिर्यञ्च गतिके दुःखोंसे सुरक्षित करती है। सम्यग्दृष्टि जीव देव और मनुष्य गतिमें ही संचार करता है इसलिये नरक और तिर्यञ्चगतिके दुःखोंसे उसकी सुरक्षा स्वयं हो जाती है। जब वह सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी महाव्रतरूप सकल चारित्रसे युक्त होती है तब उसमें कर्म कलंकको नष्टकर मोक्ष प्राप्त करानेकी सामर्थ्य आ जाती है। यहाँ समन्तभद्रस्वामीने अपने आपको सम्यक् प्रकारसे पवित्र करनेकी प्रार्थना की है अर्थात् द्रव्य और भावकर्मसे रहितकर निष्कलंक बनानेकी बात कही है। यह निष्कलंक अवस्था सम्यक्चारित्रमें ही होती है। इस तरह एक सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मीमें तीनों रत्नोंका समावेश किया है ॥ २९ ॥ १५० ॥

इस प्रकार प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा विरचित, समन्तभद्रस्वामीद्वारा विरचित उपासकाध्ययन की टीकामें पञ्चम परिच्छेद पूर्ण हुआ ५ ॥

हिन्दी टीकाकार प्रशस्तिः

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा।
पन्नालालेन बालेन सागरग्रामवासिना ॥ १ ॥
ऋषिलब्धिचतुर्युग्मप्रमिते वीरवत्सरे।
वैशाखशुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां च सत्तिथौ ॥ २ ॥
टीका रत्नकरण्डस्य रचिता बुधचर्चिता।
शोधयन्तु बुधाः शीघ्रं ममात्रज्ञानजृम्भितम् ॥ ३ ॥
मुनिं समन्तभद्राख्यं याचेऽहं बहुशः क्षमाम्।
तदाशयविरुद्धं चेल्लिखितं स्यान्मया क्वचित् ॥ ४ ॥
अज्ञानजनितो दोषः क्षन्तव्यो हि सदा भवेत्।
मया नैवापराद्धं वै कषायोपद्रुतात्मना ॥ ५ ॥

मूलग्रन्थ-पद्यानुक्रमणी

संस्कृतटीका-समुद्धृत-पद्यानुक्रमणी

मूलग्रन्थलक्षणसंग्रह

श्रीमती रुक्मणी बाई
पति स्व. श्री [illegible]जी [illegible] शाह
[illegible] मलकापुर की ओर
से श्री महावीर दि० जैन वाचनालय
को सादर स्वाध्याय हेतु भेंट ।।